जो अपवादों को सुनकर भी क्षुब्ध नहीं होते

उत्तेजना के कारण मिलने पर भी जो सदा मुसकराते रहते हैं

जिनके जीवन का प्रतिक्षण साहित्य-सृजन में ही व्यतीत होता है

जो जन-सम्पर्क का उपयोग जैन धर्म की प्रभावना के लिये करने में

कुशल हैं

उन

प्रशान्त मूर्ति आचार्य-रत्न श्री देशभूषण जी महाराज विद्यालंकार

के

चरण कमलों में

विनम्र अर्घ्य

आभार-प्रदर्शन

इस पुस्तक के प्रकाशन का समस्त व्यय स्वनाम धन्य बा० रघुवीर-शरण जी कलकत्ता निवासी ने प्रदान किया है। आप उदार दानी, धर्मपरायण और विवेकशील शिक्षित युवक हैं तथा कलकत्ते की प्रसिद्ध फर्म मैसर्स रामवल्लभ रामेश्वर जी एण्ड कं० के मालिक हैं। आपने अपनी व्यापारिक कुशलता से प्रभूत सम्पत्ति अर्जित की है और व्यापारी समाज में अपना सम्मानपूर्ण स्थान बना लिया है। जैनधर्म-प्रसार की आपकी सदा भावना रहती है। इसके लिये वे अपने न्यायोपार्जित धन का बहुत बड़ा भाग देते रहते हैं। किन्तु यशो लिप्सा से दूर रह कर। इसी का यह परिणाम है कि हमारे बार बार अनुरोध करने पर भी आपने अपना चित्र नहीं भेजा। इसका हमें अत्यन्त दुःख है।

जैन साहित्य एकैडेमी की ओर से और व्यक्तिशः भी मैं आपका हृदय से अत्यन्त आभारी हूं।

—बलभद्र जैन

दो शब्द

इस ग्रन्थ के प्रणयन और प्रकाशन का भी अपना एक लम्बा इतिहास है। सन् १९५७ में नवम्बर माह में स्थानकवासी मुनि श्री सुशील कुमार जी के अनवरत प्रयत्नों से दिल्ली में विश्व-धर्म-सम्मेलन का महान् आयोजन किया गया था। उससे लगभग दो माह पूर्व की बात है। मुनि श्री सुशील कुमार जी तथा विश्व-धर्म सम्मेलन के संयोजकों ने विचार किया कि अहिंसा के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक ग्रन्थ का निर्माण कराया जाय, जो सम्मेलन में आये हुए भारतीय और विदेशी विद्वानों को उपहार स्वरूप दिया जाय। पश्चात् इस विचार में संशोधन होकर यह निश्चय हुआ कि जैन धर्म ने अहिंसा की जो सर्वाङ्ग सम्पूर्ण व्याख्या की है, उसके सम्बन्ध में अद्भुत और मौलिक मूल्य स्थिर किये हैं तथा लोक-मानस की भूमिका को अहिंसा की नैतिक मान्यताओं से प्रभावित किया है, वह विश्व के सांस्कृतिक इतिहास में अपना विशेष स्थान रखता है। किन्तु दुःख इस बात का है कि अभी तक अहिंसा के सम्बन्ध में ऐसा कोई प्रामाणिक एवं आधुनिक शैली में लिखा हुआ ग्रन्थ निर्मित नहीं हो पाया, जो निःसंकोच जैन और जैनेतर विद्वानों के हाथों में दिया जा सके। अतः ऐसे ग्रन्थ का निर्माण कराया जाये, जिसके द्वारा अहिंसा सम्बन्धी जैन मान्यताओं का प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया जा सके।

मुझे प्रसन्नता है कि यह कार्य मेरे सुपुर्द किया गया और बड़े संकोच के साथ मैंने पूर्व निर्धारित सभी कार्यक्रमों को स्थगित करके इस कार्य को अपने हाथ में ले लिया। यह बात लगभग १५ सितम्बर १९५७ की है। काम तो हाथ में ले लिया, किन्तु मैं इसे जितना सरल

समझता था, वास्तव में वह उतना ही कठिन सिद्ध हुआ। यह कठिनाई समय की सीमित अवधि ने और भी बढ़ा दी। इतने सीमित समय में अनेकों ग्रन्थों का संकलन, उनका अवलोकन और सामग्री तैयार करना वस्तुतः ही एक कठिन कार्य था। किन्तु ग्रन्थों के संकलन की एक कठिनाई तो वीर सेवा मन्दिर के अध्यक्ष डा० छोटेलाल जी और उसके अधिष्ठाता आचार्य जुगल किशोर जी मुख्तार की अनुकम्पा से सरल हो गई। उन्होंने वीर सेवा मन्दिर के विशाल पुस्तकालय का निर्बाध और स्वतन्त्र उपयोग करने की मुझे अनुमति प्रदान कर दी। जिसके लिये मैं उक्त दोनों आदरणीय सज्जनों का हृदय से आभारी हूँ।

डेढ़ माह का लक्ष्य बना कर मैं अविश्रान्त परिश्रम से काम में जुट गया और ३१ अक्टूबर को ठीक समय पर इसे मैंने पूर्ण कर लिया। इसके लिये मुझे कई भाषाओं के लगभग १५० ग्रन्थों और अनेक पत्रों का अवलोकन करना पड़ा।

ग्रन्थ समाप्त हो जाने के पश्चात् उसके प्रकाशन का प्रश्न उपस्थित हुआ। पहले विश्व-धर्म-सम्मेलन के संयोजकों की ही इसके प्रकाशन की इच्छा थी और विशेष रूप से सम्मेलन में आये हुए विद्वानों के लिये ही यह ग्रन्थ लिखाया भी गया था। मुझे यह भी बताया गया था कि इसका गुजराती संस्करण भी जल्दी ही निकालने की योजना हो रही है तथा इसके कुछ महत्वपूर्ण स्थलों का अँग्रेजी अनुवाद भी कराया जा रहा है, जो सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित होकर वितरित किया जायगा किन्तु सम्मेलन तक इतने अल्पकाल में प्रकाशन की किसी व्यवस्था के न होने तथा अन्य कई कारणों से इसका प्रकाशन उस समय न हो सका।

सौभाग्य से उन दिनों परमपूज्य आचार्य देशभूषणजी महाराज दिल्ली में ही विराजमान थे। संयोगवश उन्हें इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि देखने का अवसर मिल गया। ग्रन्थ के कई स्थल उन्होंने देखे। देखकर

वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यह इच्छा प्रगट की कि यह ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिये। किन्तु तभी उनका दिल्ली से विहार हो गया।

इस वर्ष आचार्य श्री का चातुर्मास कलकत्ता नगरी में हुआ। कालेज के कार्य से पर्यूषण पर्व के अवसर पर मुझे भी कलकत्ता जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहां आचार्यश्री ने पुनः इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पूछा।

जब मैं वहाँ से वापिस आ गया, तब कलकत्ता की प्रसिद्ध फर्म मैसर्स रामवल्लभ रामेश्वर के मालिक माननीय बा० रघुवीर शरण जी का पत्र आया। उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये आवश्यक धन देने की इच्छा प्रगट की और उनकी इच्छानुसार यह ग्रन्थ इलाहाबाद के प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स में छपने के लिये भेज दिया गया। इस प्रकार पूज्य आचार्यश्री के आशीर्वाद और बा० रघुवीर शरण जी के उदार सहयोग के कारण इस ग्रन्थ का प्रकाशन इतना शीघ्र संभव हो सका। इसके लिये मैं आचार्यश्री के प्रति अपनी भक्ति का अर्घ्य प्रदान करता हूँ। तथा बा० रघुवीर शरण जी का अत्यन्त अनुगृहीत हूं। वास्तव में इस महामना उदार सज्जन की कृपा के बिना इस ग्रन्थ का प्रकाशन संभवतः अभी न हो पाता।

अब यह ग्रन्थ जैन साहित्य एकैडेमी की ओर से प्रकाशित हो रहा है। इस प्रकाशन संस्था के उदय का एकमात्र उद्देश्य आधुनिक शैली में मौलिक साहित्य का प्रणयन और प्रकाशन है। इस ग्रन्थ की बिक्री से जो धन प्राप्त होगा, उससे भविष्य में इसी प्रकार का साहित्य प्रकाशित होता रहेगा।

यह ग्रन्थ लिखते समय मैंने पूरा ध्यान रक्खा है कि अहिंसा संबंधी जैन मान्यताओं को उपस्थित करते हुए भी किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति की मान्यता के सम्बन्ध में कोई अन्याय न होने पावे। बल्कि तथ्यों एवं

तर्कों के आधार पर जो निष्कर्ष निकल सकें, उन्हीं के सहारे अपने विषय का प्रतिपादन करूँ। मैंने भरसक प्रयत्न किया कि अहिंसा का क्रमिक इतिहास और विभिन्न कालों की अहिंसा सम्बन्धी मान्यताओं को प्राचीन ग्रन्थों, पुरातत्व सम्बन्धी खोजों और विभिन्न ऐतिहासिक मान्यताओं के सहारे ही प्रतिपादन करूँ। साथ ही अहिंसा विषयक जैन मान्यताओं को जैन वाङ्मय के आधार पर, और जहाँ तक संभव हो सके, उसके ही शब्दों में उपस्थित करूँ। मैं नहीं जानता, मैं अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हो सका हूं। यह तो इस पुस्तक के विद्वान् पाठकों के मतामत पर ही निर्भर है। किन्तु मुझे अपने इस विनम्र प्रयत्न पर सन्तोष है।

संभवतः यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि इस या उस रूप में लोक मानस में समाई हुई, नैतिक मान्यताओं की आधारभूत अहिंसा को साम्प्रदायिक सीमा में जकड़ने का क्या उद्देश्य है, और क्या इस प्रकार वह पंगु नहीं रह जायगी? स्वभावतः प्रश्न की गम्भीरता से इनकार न करते हुए भी विनम्रता पूर्वक मैं निवेदन करने की अनुमति चाहूँगा कि अहिंसा सम्बन्धी व्यापक अध्ययन के आधार पर मेरी यह धारणा दिनों दिन पुष्ट होती गई है कि जैनधर्म ने अहिंसा की अविकल व्याख्या और उसकी प्राण प्रतिष्ठा की है। इस समय, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अहिंसा की चर्चा हिंसा के मुकाबिले विश्व-शांति और वैयक्तिक जीवन-व्यवहार के लिये एक समर्थ और अव्यर्थ विकल्प के रूप में जोर पकड़ रही है, उस समय अहिंसा को उसके सही मायनों में समझा जाय। इसके लिये अहिंसा के प्रतिष्ठाता जैनधर्म की अहिंसा विषयक व्याख्या और धारणाओं को उपस्थित करना सर्वाधिक उपयुक्त रहेगा। मैं अपनी इस मान्यता को छिपाना भी उचित नहीं समझता कि अहिंसा विषयक जैन मान्यताओं को प्रचार पाने का अब तक न कोई समुचित अवसर ही मिल पाया है और न उन्हें समुचित न्याय ही मिल

सका है। संभवतः मेरा यह विनम्र प्रयत्न अहिंसा के सम्बन्ध में शोध-खोज करने वालों, जिज्ञासुओं और अनुयायियों से 'जैन' अहिंसा के सम्बन्ध में उचित न्याय पाने में सहायक सिद्ध हो सकेगा। यदि यह हो सका तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूँगा।

मैंने इस ग्रन्थ में कई विद्वान् लेखकों, विशेषकर आदरणीय बा० जयभगवान जी वकील, बा० कामता प्रसाद जी, मेरे आदरणीय मित्र पं० हीरालाल जी शास्त्री के कई लेखों और मान्यताओं का स्वतन्त्रता पूर्वक अपने लिये उपयोग किया है। इसके लिये मैं उनसे क्षमा प्रार्थी हूँ और उनका आभारी भी हूँ।

मैं मुनि सुशील कुमार जी और पं० शोभा चन्द्र जी भारिल्ल न्याय तीर्थ का भी आभारी हूं, जिन्होंने श्वेताम्बर शास्त्रों के उद्धरण संकलन करने में मुझे पूरा सहयोग दिया तथा जिनके परामर्शों का लाभ भी मुझे प्राप्त हो सका।

मैं अपने अग्रज बन्धु प्रोफेसर विमल कुमार जी एम० ए०, पी० एच० डी० तथा अपने अभिन्न मित्र प्रोफेसर द्विज कुमार जी शास्त्री, एम० ए० का भी कृतज्ञ हूँ, जिनकी प्रेरणाओं ने मेरे उत्साह को मन्द नहीं होने दिया।

अन्त में मैं यहाँ प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स के संचालक बा० सत्य-प्रकाश जी को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनके कृपापूर्ण सहयोग के द्वारा अल्पकाल में इतने सुन्दर रूप में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो सका।

जैन कालेज,
खेकड़ा (मेरठ)
वसन्त पंचमी सन् १९५९

विनीत
बलभद्र जैन

ग्रन्थ-सूची, जिनके उद्धरण इस पुस्तक में दिये गये हैं

१. Ancient India, by Gokhle
२. Bible
३. The Recovery of Culture, by Henry Baily Stevens
४. ऋग्वेद
५. अथर्ववेद
६. The story of man, by Mulkraj Anand
७. सूत्र कृताङ्ग
८. दशवैकालिक
९. विष्णु पुराण
१०. मुण्डकोपनिषद्
११. यजुर्वेद
१२. महीधर भाष्य
१३. मत्स्य पुराण
१४. महाभारत
१५. हरिवंश पुराण
१६. पद्म चरित
१७. उत्तर पुराण
१८. भाव प्राभृत
१९. त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित
२०. संस्कृति के चार अध्याय, श्री दिनकर
२१. श्रीमद्भागवत
२२. Indian Philosophy, by Dr. Radhakrishnan
२३. सामवेद
२४. छान्दोग्योपनिषद्
२५. Studies in Indian Painting, by N. C. Mehta
२६. परिशिष्ट पर्व
२७. Descriptions of the people of India, by Dubois
२८. Short studies in science of Comparative religions, by J. G. R. Furlong.
२९. Bombay Samachar
३०. विश्व-कोष, श्री नगेन्द्र वसु
३१. Clementine Homillie, by Appossol Peter
३२. कुरान
३३. Rahmat-Al-Lil-Alamina,

by Q. Md. Sulaman

३४. Quran, Translation by Mohammad Ali

३५. Mohammad in Ancient Scriptures, by U. Ali

३६. Bokhari

३७. Talkhis Al-Schab

३८. आत्मकथा-म० गाँधी

३९. हरिजन

४०. हिन्द स्वराज्य-म० गाँधी

४१. Young India

४२. Speaches & writings of Mahatma Gandhi Madras 1928

४३. आदि पुराण

४४. समवायाङ्ग सूत्र

४५. आवश्यक सूत्र

४६. स्थानाङ्ग सूत्र

४७. जम्बूद्वीप पण्णत्ति सूत्र

४८. कल्प सूत्र

४९. तिलोय पण्णत्ति

५०. वाराह पुराण

५१. लिंग पुराण

५२. वायु पुराण

५३. स्कन्ध पुराण

५४. माहेश्वर खण्ड

५५. कल्याण

५६. A survey of Indian history, by K. M. Pannikkar

५७. ईशान संहिता

५८. महा पुराण

५९. शिवपुराण

६०. त्रिलोक सार

६१. धवला

६२. मज्झिमनिकाय

६३. Prehistoric India and ancient Egypt, By S. K. Roy

६४. तां० ब्राह्मण

६५. शतपथ ब्राह्मण

६६. कौत्स ब्राह्मण

६७. ऐतरेय ब्राह्मण

६८. अमर कोष

६९. स्वयम्भूस्तोत्र

७०. तैत्तिरीय ब्राह्मण

७१. षड्विंश ब्राह्मण

७२. हरिवंश पुराण (जैन)

७३. Ancient Indian Historical tradition, by Pargiter

७४. उत्तराध्ययन

७५. विविध तीर्थ कल्प

७६. तत्वार्थ सूत्र

७७. यशस्तिलक
७८. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
७९. राजवार्तिकालङ्कार
८०. श्रीमद्भगवद्गीता
८१. सागार धर्मामृत
८२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार
८३. प्रश्नव्याकरण
८४. ज्ञानार्णव
८५. नीतिवाक्यामृत
८६. अमितगति श्रावकाचार
८७. योगसूत्र
८८. योग शास्त्र
८९. भावनाद्वात्रिंशतिका
९०. सुत्तागमे
९१. वसुनन्दि श्रावकाचार
९२. गुणभद्र श्रावकाचार
९३. रत्नमाला
९४. नागपटल
९५. मनुस्मृति
९६. नारद
९७. स्वास्थ्य विज्ञान-डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर
९८. स्वास्थ्य विज्ञान-डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा
९९. चरक
१००. सुश्रुत
१०१. त्रिवर्णाचार
१०२. प्रवचन सारोद्धार
१०३. पीयूषवर्ष श्रावकाचार
१०४. धर्मसंग्रह श्रावकाचार
१०५. उत्तरमीमांसा
१०६. अध्यात्मसार
१०७. ईशावास्योपनिषद्
१०८. कठोपनिषद्
१०९. प्रश्नोपनिषद्
११०. History of Philosophy by Thilly
१११. Appearance and reality

विषय-सूची

अहिंसा-दर्शन

—१—

अहिंसा का प्रादुर्भाव और विकास

मानव काल की अनेकों घाटियों को पारकर आज तक पहुँचा है। इन घाटियों के पार करने में उसे अनेकों अनुभवों का लाभ मिला है।

मानव की आद्य मनोभूमिका

उसे दुर्गम पथों को पार करने के लिये नये-नये उपाय सोचने पड़े हैं; उसके समक्ष जो कठिनाइयाँ आती गईं, उनका समाधान पाने के लिये उसके मन में सदा ही एक अदम्य लालसा रही है और इस लालसा ने ही उसके पथों में परिवर्तन किया है, उसकी मनोभूमि में परिवर्तन किया है। इस दृष्टि से आज हम यह विश्वास-पूर्वक कहने की स्थिति में हैं कि मानव काल की आद्य घाटी में जो था, वह आज नहीं है, उसमें बहुत परिवर्तन हो चुके हैं। उस समय से आज उसका रूप बदल गया, रुचि बदल गई, रहन-सहन और परिधान् बदल गया, आवास और संस्तरण बदल गया, आवश्यकताएँ और उनकी पूर्ति के साधन बदल गये। कुल मिलाकर जीवन के मूल्य और दृष्टिकोण बदल गये।

जैनधर्म में काल-चक्र को अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दो रूपों में विभाजित किया गया है। इनमें से प्रत्येक के ६ विभाग स्वीकार किये गये हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा दुषमा, और दुषमा-दुषमा। काल का यह चक्र निरन्तर घूमता रहता है। इन बारह कालों का एक पूरा चक्कर कल्प कहलाता है। प्रकृति स्वयं ही एक कल्प के आधे भाग में निरन्तर उत्कर्षशील बनी रहती है, मनुष्यों की आयु, रूप, स्वास्थ्य, रुचि सभी में उत्कर्ष होता रहता है। वह कल्प उत्सर्पिणी कहलाता है। जिसमें आयु आदि में निरन्तर हीनता बढ़ती जाती है वह अवसर्पिणी कल्प कहलाता है। आजकल अवसर्पिणी कल्प दुषमा केन्द्र में से गुजर रहा है।

एक कल्प व्यतीत होने पर प्रकृति में भारी परिवर्तन होते हैं। और तब दूसरे कल्प का प्रारम्भ हो जाता है। काल इसी सृष्टि और विनाश की धुरी पर निरन्तर चक्र की तरह घूमता रहता है। प्रकृति सदा यों ही रूप-परिवर्तन किया करती है। प्रकृति का सम्पूर्ण विनाश कभी नहीं होता, केवल रूप-परिवर्तन भर होता है। आज जहाँ राजस्थान है, वहाँ कभी सागर हिलोरें ले रहा था। जहाँ आज हिमालय खड़ा है, वहाँ भी कभी समुद्र रहा था। इन्हीं परिवर्तनों को लेकर प्रकृति है। विनाश की नींव पर सृजन खड़ा है। विनाश और निर्माण भिन्न-भिन्न नहीं, एक सिक्के के दो बाजू हैं। प्रकृति विनाश और निर्माण की लीलाओं में भी अपने तत्वों को लेकर सदा ध्रुव बनी रहती है।

परिवर्तनों के इस चक्र में कहाँ आदि है और कहाँ अन्त, कोई नहीं कह सकता। निरन्तर घूमते रहने वाले चक्र में आदि और अन्त संभव भी नहीं है। किन्तु घड़ी के डायल में सुई बारह के बाद में छः बजे तक नीचे की ओर जाती है और उसके बाद बारह बजे तक ऊपर

की जाती है। काल को हम एक दो तीन वर्षों में बाँध नहीं सकते, वह तो अखण्ड और अविभाज्य है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिये हम एक, दो, तीन से काल का एक व्यावहारिक विभाग कर लेते हैं। इसी प्रकार व्यवहार की सुविधा के लिये एक कल्प की, उसके दो भेदों की और उनके भी फिर ६-६ भेदों की कल्पना की गई है। और इस तरह कल्प का प्रारम्भिक काल सुविधा के लिये सृष्टि का आदि-काल और उस काल में रहने वाला मानव आद्य-मानव कहा जाने लगा है।

जैन-मान्यता के अनुसार मनुष्य-समाज के प्रारम्भिक और अविकसित मानव-रूप को 'युगलिया-समाज' के नाम से सम्बोधित किया गया है। उस काल में एक मा के गर्भ से सहजात पुत्र-पुत्री ही वयस्क होने पर पति-पत्नी बन जाते थे। वे अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वृक्षों पर निर्भर रहते थे, जिन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता था। उनके मानसिक विकास का यह शैशव-काल था। अतः उनमें न पाप की वासना आ पाई थी और न धर्म का विवेक। वे धर्म और पाप दोनों से निर्लिप्त थे। फिर भी निर्विकार थे। उनका जीवन सन्तोष, निर्वैर और शान्ति का जीवन था। आवश्यकतायें उनकी सीमित थीं और आवश्यकता-पूर्ति के साधन असीम थे। वह एक वर्ग-हीन समाज का काल था। सुषमा-सुषमा, सुषमा और सुषमा-दुषमा इन तीन कालों में मानव की स्थिति यही थी। मानव-विकास का यह उषा-काल था। जैन वाङ्मय में इस आद्य मानव-जीवन का व्यवस्थित वर्णन मिलता है। यह काल भोग-युग कहा गया है।

किन्तु मानव का मानस विकास की ओर बढ़ रहा था। उसमें सूर्य और चन्द्र को देखकर कुतूहलपूर्ण जिज्ञासा जाग उठी। तारा-मण्डल उसके मन में विस्मय पैदा करने लगा था। प्रारम्भ में मानव और

पशुओं में संघर्द का कभी प्रसंग नहीं आता था, किन्तु अब ऐसे प्रसंग आने लगे, जब पशु और मानव में संघर्ष हो उठता। मानव जानता तक न था कि आत्म-रक्षा का क्या उपाय है। किन्तु धीरे-धीरे ये संघर्ष सामान्य होने लगे। मानव का खून मुँह लगने पर तो सिंह आदि स्वयं ही कभी-कभी आक्रमण करने लगे। आवश्यकता ने अनुसन्धान को जन्म दिया। ये अनुसन्धान करने वाले वैज्ञानिक उस युग की भाषा में मनु कहलाते थे। उस युग के इन महान् वैज्ञानिकों में १४ सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए। उन्होंने मानव की जिज्ञासा शान्त की। आत्म-रक्षा के लिये दण्ड और पाषाण के शस्त्रों का आविष्कार किया और उनके चलाने के उपाय बताये।

आद्य मानव विकास की राह पर

भोग-युग का अब आधा काल बीत चला था। मानव के समक्ष एक बड़ा संकट आया। अब तक मानव अलग-अलग रह रहा था। पशुओं के उपद्रवों के कारण जंगल का कुछ भाग काटकर अब कुछ संघबद्ध रहने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि पशुओं से उसे कुछ त्राण मिल गया, किन्तु अब पारस्परिक संघर्ष उठने लगे। वृक्ष कुछ कम पड़ने लगे तो अधिकार की भावना का उदय हुआ। तब समाज के प्रमुख पुरुष-मनु ने हर एक के लिये सीमा निर्धारित करदी। इस नियम का अतिक्रमण करने पर उस व्यक्ति को दण्ड भी दिया जाने लगा। यद्यपि दण्ड का रूप अत्यन्त सरल था। उसे नियम-भंग करने पर 'हा-मा-धिक' कहकर लज्जित कर दिया जाता था। लेकिन इससे भी विवाद रुक नहीं पाये, तब वृक्षों पर हर एक के लिये अलग-अलग चिन्ह बना दिये गये। लोग वन्य पशुओं के भय के कारण वन के भीतरी अँचलों में घुसने का साहस नहीं करते थे तो हाथी को पकड़ना

और उस पर सवारी करना भी सिखाया।

इसके पश्चात् बालक का नामकरण, उसका मनोरंजन आदि अनेक बातें सिखाईं। तब एक बार मानव के समक्ष एक आकस्मिक संकट आ उपस्थित हुआ। घोर वर्षा हुई, नदियों में बाढ़ आ गई। सब कहीं जल ही जल दीख पड़ने लगा। उस समय मानव को उससे बचने का, उससे निकलने और नदी से पार जाने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। मनुओं ने पर्वत पर चढ़ कर जल से अपनी रक्षा करने, वर्षा से बचाव के लिए छत्री और नदी से पार जाने के लिए नाव बनाने की विधि का आविष्कार किया।

अब भोग-काल का अन्त निकट रह गया था। वृक्ष समाप्त हो रहे थे। उनसे आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही थी। वर्षाओं के कारण पृथ्वी पर नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उगने लगीं, फल वाले वृक्ष होने लगे। किन्तु मानव काल के इस चरण में भी इतना अविकसित था कि वह उनका उपयोग करना नहीं जानता था। तब अन्तिम मनु नाभिराय के पुत्र ने मानव को वनस्पतियों और फलों का उपयोग करना सिखाया।

इस प्रकार भोग-भूमि का मानव विकास की ओर निरन्तर बढ़ रहा था। किन्तु उसके जीवन में दुःख नामक अनुभूति नहीं आ पाई थी। उसे किसी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक और नैतिक बन्धनों में जकड़ने लायक परिस्थिति अब तक उत्पन्न नहीं हो पाई थी। वास्तव में यह स्वर्ण काल था।

इस जैन मान्यता का समर्थन महाभारत,[1] दीघ निकाय,

1—गोखले (Ancient India) पृ० ६८

सुत्त निपात आदि भारतीय ग्रन्थों तथा इण्डोनेशिया,[1] बैबीलोनिया[2] और सीरिया की आदि मानव सम्बन्धी प्राचीन सभ्यताओं से भी होता है।

वास्तव में इस युग की संस्कृति वन-संस्कृति थी और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से युगल अर्थात् बहन-भाई का विवाह वैध था।

इस युगल-विवाह की वैधता का समर्थन वैदिक साहित्य से भी होता है। ऋग्वेद[3] और अथर्ववेद[4] में एक यम-यमी सूक्त है। ये दोनों बहन-भाई हैं। सूक्त में यम-यमी का संवाद है। यमी यम से परम्परानुसार पति के रूप में आलिंगन करने और वैसे ही दूसरे व्यवहार करने का अनुरोध करती है। उसका तर्क यह है कि परमेश्वर ने गर्भ में ही हम दोनों को दम्पति बनाया था। किन्तु यम कहता है कि 'हे यमी! किसी और को तू तथा कोई और तुझे आलिंगन करे। उसके मन की इच्छा कर और वह तेरे मन की इच्छा करे।

इस सूक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि यम-यमी सहजात युगल भाई-बहन हैं। उस युग में भाई-बहनों का वैवाहिक सम्बन्ध सामान्य बात थी। किन्तु यम ने इस परम्परागत रिवाज को तोड़ा था।

जैन-साहित्य में युगल-विवाह की समाप्ति आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव के काल से मानी जाती है। किन्तु ऋषभदेव के पश्चात् ऋषभदेव के पुत्र भरत ने अपनी सौतेली माँ से उत्पन्न सुन्दरी से, जो बाहुबलि की

१—Stevens (The Recovery of Culture) pp. 43-44

२—Ibid

३—ऋग्वेद १०-१०-१ से १४।

४—अथर्ववेद १८-१-१३ और १४

बहन थी, विवाह करने की इच्छा प्रगट की थी।[1]

जैन-ग्रन्थों के आदिनाथ (ऋषभदेव) यहूदियों और ईसाइयों के धर्म-ग्रन्थों में आदम के नाम से संबोधित किये गये हैं। और आदिनाथ के दोनों प्रसिद्ध पुत्रों-भरत और बाहुबलि का यहूदी और ईसाई-संस्करण हाबीद और काबील हैं। हाबीद और काबील ने अपनी सहोदर बहनों से ही विवाह किया था। आदम, हाबीद और काबील का चरित्र पढ़ते हुए हमें लगता है कि हम आदिनाथ, भरत और बाहुबलि का ही चरित्र पढ़ रहे हों। और तब हमारे इस विश्वास की सहज ही पुष्टि मिल जाती है कि आदम काल तक (जैन मान्यतानुसार आदिनाथ-काल तक) सहजात भाई-बहनों का विवाह होता था।

आहार के मामले में भोग-युग का मानव वृक्षों पर निर्भर रहता था। अतः निश्चित रूप से वह शाकाहारी (vegetarian) था। अभी तक उसे कृषि का ज्ञान तक न था। अतः उसके लिये खाना पकाने का प्रश्न नहीं था।[2] वह न अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग जानता था और न शिकार करने अथवा शिकार को पकाने का ही उसे ज्ञान था। वस्तुतः उसकी दशा तो एक अबोध बालक जैसी थी। जैसे बालक माँ की छाती से चिपका रहता है, वैसे ही वह पेड़ों और फलों से अपनी उदर-तृप्ति करता था।[3]

आद्य मानव शाकाहारी था

1—श्वेताम्बर मान्यतानुसार

२—श्री मुल्कराज आनन्द (The story of man) पृ० १४-१५

३—So it is with man's family the primates. No vestige of them has been found earlier than the eocene about sixty million years ago. On the other hand, the fruit

बाइबिल में भी आदम और हव्वा को बाग अदन में सुखोपभोग करते हुए और शाकाहारी जीवन व्यतीत करने वाला बताया है।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से भी यह सिद्ध करने के पर्याप्त आधार हैं कि मानव का सहज भोजन शाकाहार है, माँस नहीं। उसके दांत, आंत, जीभ ये सभी शाकाहारी पशुओं से मिलते हैं तथा मांसाहारी पशुओं से भिन्न हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी इस बात का समर्थन होता है कि शान्ति-प्रिय व्यक्ति आखेट जैसे आक्रामक कार्य नहीं करता। आदि मानव भी अत्यन्त शान्ति प्रिय था। एक लम्बी अवधि के पश्चात् पेड़ों के स्वामित्व को लेकर कभी-कभी विवाद हो उठता था। किन्तु वह विवाद मनु के निर्णय के बाद तत्काल शान्त भी हो जाता था। क्रोध, अभिमान, कपट और स्वार्थ वृत्ति का उसमें उदय तक नहीं हुआ था।

इन सबके अतिरिक्त अबतक जो पुरातत्व सम्बन्धी अन्वेषण कार्य हुए हैं, उनके आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि आदि मानव शान्ति-प्रिय और शाकाहारी था। प्रागैतिहासिक काल के खनन के फलस्वरूप भारत के मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा—तथा मिश्र और बेबीलोनिया

---

and nut trees, in which they settled, can be traced back into the cretaccous period or history of one hundred twenty million years. It is apparent that early in our evolution. we attached ourselves deititi-cally to the fruit and nut-trees like babes at the mothers breast and whether through cause and effect our brain power developed beyond that of other animals.

—The Recovery of Culture pp. 1-4

में चार से पाँच हजार वर्ष प्राचीन नगरों और उस काल की सभ्यता पर प्रकाश पड़ा है। इन नगरों से उस काल की सभ्यता के अनेक अवशेष मूर्तियाँ, सिक्के, बर्तन, आदि उपलब्ध हुए हैं। किन्तु कोई भी युद्ध के शस्त्रास्त्र नहीं मिले, न ऐसे कोई चिन्ह ही प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह प्रगट होता कि उस समय सैनिक वर्ग था और न दुर्ग ही मिले हैं।[1]

इस प्रकार सभी प्रमाण इस पक्ष का समर्थन करते हैं कि भोग-युग का मानव शान्तिप्रिय और शाकाहारी था।

अहिंसा की प्रथम उद्घोषणा

यद्यपि भोग-युग का मानव शाकाहार पर निर्भर रहता था, वह हिंसा नहीं करता था, माँस-भक्षण भी नहीं करता था। किन्तु उसके जीवन में धर्म ने कोई स्थान नहीं पाया था। वह हिंसा नहीं करता था, क्योंकि हिंसा करने के उसके पास न तो साधन थे और न उसका अभी मानसिक और भौतिक ज्ञान विकसित हो पाया था। पाप समझ कर उसने हिंसा छोड़ी हो, ऐसी बात नहीं थी क्योंकि न वह पाप का नाम जानता था और न धर्म का। परिस्थितियों ने उसे शान्त, अहिंसक और निर्वैर बना दिया था।

१—When the excavations of pre-historic cities get down to levels over four thousand years old, they no longer find the warlike weapons, the signs of a soldier class and the elaborate preparations for defence which characterize recent times.

—Henry Bailey Stevens
(The Recovery of culture p. 97)

किन्तु अब भोग-युग समाप्त हो रहा था। कल्प-वृक्षों का अन्त होने लगा था। मानव की आवश्यकतायें बढ़ रही थीं। संसार की हर वस्तु के प्रति उसके मन में जिज्ञासा बढ़ रही थी, कुतूहल उत्पन्न हो रहा था। यद्यपि अभी तक वह दूसरों के अधिकारों का सम्मान करता था, किन्तु उदर-पूर्ति के साधनों के अज्ञान ने अभाव का सा वातावरण उत्पन्न कर दिया था।

यही समय था, जब अन्तिम मनु नाभिराय के पुत्र आदिनाथ ने, जिनका अपर नाम ऋषभदेव है, कर्म-युग का प्रारम्भ किया। उन्होंने अपनी महान् और विलक्षण प्रतिभा के द्वारा असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प आदि के विविध आविष्कार किये; समाज और राज्य-व्यवस्था स्थापित की। इधर-उधर फिरते रहने वाले मानव-समूहों को पुर, ग्राम, नगर, पत्तन आदि निर्मित कराकर बसाया और इस प्रकार एक व्यवस्थित नागरिक जीवन का प्रारम्भ कराया। कुछ लोग इस काल को कृषि-युग भी कहते हैं। और श्रद्धावश आदिनाथ को कुछ लोग प्रजापति, ब्रह्मा, शिव, रुद्र, अग्नि, आदम आदि भी कहते हैं। (इसका विस्तृत विवेचन अगले-अध्याय में देखिये।)

अब मानव एक व्यवस्थित जीवन बिताने लग गया। उसने अनुभव कर लिया कि अब कर्म किये बिना। निर्वाह होना कठिन है। वृक्षों पर अब एक दिन के लिये भी निर्भर नहीं रहा जा सकता। इस काल के मानवों को आदिनाथ निरन्तर कर्म की ही प्रेरणा कर रहे थे।

जब आदिनाथ को यह विश्वास हो गया कि अब मानव का सांसारिक जीवन व्यवस्थित हो चुका है तो उन्होंने गृह-त्याग कर और मुनि-दीक्षा लेकर वनों में तप करना प्रारम्भ किया। अन्त में उन्होंने

स्वयं अपने प्रयत्न से परम निःश्रेयस कैवल्य (सर्वज्ञता) की प्राप्ति की।

अब वे पूर्ण पुरुष थे। माया और विकार से मुक्त होकर उनकी आत्मा शुद्ध-बुद्ध और मलहीन बन चुकी थी। अब वे वीतराग, जिन, अर्हन्त हो चुके थे। वे अब आद्य तीर्थङ्कर कहलाने लगे। अब उन्होंने जनता को परम निःश्रेयस-शिवमार्ग का, धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया।

उनकी प्रथम देशना अष्टापद (कैलाश) पर हुई थी। उनकी उपदेश-सभा में भारत के आदि सम्राट् भरत, असंख्य प्रजाजन, पशु, पक्षी, देव, इन्द्र उपस्थित थे। उनकी गम्भीर गिरा इस रूप में प्रगट हुई—

'सम्बोधि को प्राप्त करो। अरे उसे क्यों नहीं बूझते। इस जन्म के पश्चात् सम्बोधि को पाना दुर्लभ है। जो दिन बीत चुके हैं, वे लौटेंगे नहीं और दूसरी बार मनुष्य-जन्म पाना भी सुलभ नहीं है। अरे देखो, गर्भ के बालक, जवान और बूढ़े सभी तो मरण को प्राप्त होते हैं। जैसे बाज क्षुद्र चिड़िया का जीवन हर लेता है, इसी प्रकार आयु पूरी होने पर जीवन भी समाप्त होगा।'[1]

उन्होंने स्पष्ट घोषणा की—

'इस संसार में केवल धर्म कल्याण कारक है। वह धर्म अहिंसा, संयम और तप रूप है। जिस प्राणी का मन सदा धर्म में स्थिर रहता

१—संबुज्झह, किंन बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लह।
णो हुवणमन्ति राइसो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१
डहरा वुड्ढा य पासह, गब्भत्था विच्चयंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आयुक्खयंमि तिट्टई ॥२॥
सूत्रकृताङ्ग

है, उसे देव लोग भी नमस्कार करते हैं।[1]

इस प्रकार इस युग की आदि में मृत्यु और जन्म-मरण की शृंखलाओं का समूलोन्मूलन करने के लिये धर्म का रूप देकर अहिंसा की प्रथम उद्घोषणा करने वाले भगवान ऋषभदेव (आदिनाथ) थे।

उनसे पूर्व तक सभी मानव शाकाहारी और अहिंसक अवश्य थे किन्तु अहिंसा उनके जीवन की संस्कार बनकर रह गई थी। किन्तु उस अहिंसा को, उनके जीवन के विचार व्यवहारों में संस्कार बनकर समायी हुई अहिंसा को धर्म मान कर उसे स्वीकार करने की उद्घोषणा सर्व प्रथम ऋषभदेव ने की। और इस तरह कर्म की तरह धर्म के आद्य प्रवर्तक भी ऋषभदेव ही हैं।

लेकिन अहिंसा राजनैतिक विवादों का भी सफलतापूर्वक समाधान कर सकती है; युद्ध के महान् विनाश का भी वह सफल विकल्प बन सकती है, इस मार्ग की खोज भी इसी काल में हुई।

भरत ऋषभदेव का बड़ा पुत्र था। बाहुबलि छोटा था। भरत के मन में सम्राट् बनने की महत्वाकांक्षा थी। उसने सारी पृथ्वी के विजय के बाद चाहा कि बाहुबलि उसका एक माण्डलिक राजा बन जाय और उसकी आधीनता स्वीकार कर ले। बाहुबलि के समक्ष यह प्रश्न आया तो उसने इसे अपने अधिकार का प्रश्न माना। उसकी अन्तश्चेतना में से कर्तव्य के विरुद्ध अधिकार के पक्ष में पुकार उठी। अब अपने अधिकार की रक्षा ही उसका कर्तव्य बन गई। दोनों ओर से पोदनपुर के मैदानों में विशाल सेनायें आ जमीं। भरत साम्राज्य-लिप्सा का

1—धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तो।
देवा वित्तं नमस्संति जस्स धम्मे सयामवो॥

दशवैकालिक सूत्र 1-1

प्रतीक था तो बाहुबलि शोषित मानवता के अधिकार का प्रहरी। दोनों आमने-सामने आ डटे।

असंभव न था कि दोनों ओर के हजारों निरपराध व्यक्ति मारे जाते। किन्तु दोनों ओर के विद्वान् मंत्री मिले। उन्होंने परामर्श किया—इन सैनिकों का क्या अपराध है कि इन्हें दो व्यक्तियों की आकांक्षा और आग्रह पर बलिदान कर दिया जाय। यह विवाद दो भाइयों का है। क्यों न उन्हें इस विवाद का निर्णय परस्पर में करने दिया जाय।

विवाद के निर्णय का रूप रक्खा गया—दृष्टि-युद्ध, जल-युद्ध, मुष्टि-युद्ध। युद्ध के ये रूप दोनों की शारीरिक शक्ति के निर्णायक थे।

अब एक दूसरे के शत्रु बने हुए सैनिक युद्ध के इस अहिंसक रूप के कारण युद्ध के दर्शक बन गये थे। अब उनमें न शत्रुता के भाव शेष थे और न रक्त की प्यास। अब तो वे खेल के दर्शकों की भाँति मित्र थे।

दोनों भाइयों के मंत्रियों ने अहिंसा को युद्ध का निर्णायक रूप प्रदान करके वास्तव में आगे आने वाली पीढ़ियों के लिये अहिंसा के एक मौलिक और नवीन रूप की उद्भावना की थी, जो कि भ० ऋषभदेव की अहिंसा सम्बन्धी देशना के अनुरूप थी।

यह अहिंसा की साधना का युग था। अहिंसा के नवीन-नवीन रूप निखर रहे थे। उपर्युक्त घटना का परिणाम यह हुआ कि शारीरिक शक्ति में बाहुबलि भरत से आगे हैं, यह विविध युद्धों से सिद्ध हो चुका था। न्याय बाहुबलि के पक्ष में था। किन्तु साम्राज्य-लिप्सा अन्धी होती है। भरत ने बाहुबलि पर उस युग का भयंकरतम प्रक्षेप शास्त्र-चक्र फेंका। यद्यपि चक्र तो बाहुबलि की ममता और अपनत्व की भावना से परास्त हो गया, किन्तु इस घटना की बाहुबलि पर जो

प्रतिक्रिया हुई, उससे बाहुबलि ने क्रोध का उत्तर क्रोध से, हिंसा का उत्तर हिंसा से न देकर क्रोध का उत्तर शान्ति से, हिंसा का उत्तर क्षमा से और सर्वहारा साम्राज्य-लिप्सा का उत्तर सर्वत्याग से दिया। वे ईर्ष्या और संघर्ष के मूल इस राज्य का ही त्याग करके मुनि बन गये, विजय पाने के पश्चात् आत्म-त्याग का यह अहिंसक रूप अत्यन्त प्रभावक हुआ। भरत का क्रोध वार करना चाहता था, किन्तु जब शत्रु वार उठाने को ही तैयार न हो तो वह निष्फल, निरुपाय बनकर, आत्म ग्लानि बनकर आँखों से वह निकला। भरत अपने कृत्य के भार से दबकर पश्चाताप में जलने लगा। उसके गर्वोन्नत मस्तक और अभिमानी हृदय को बाहुबलि के चरणों में झुककर, विनय, क्षमा-याचना करके ही शान्ति मिल सकी। कर्म-युग की आदि में हिंसा पर यह अहिंसा की प्रथम विजय थी!

और इसी प्रकार जब भरत ने अपने ९८ भाइयों से भी उनके राज्य माँगे थे, जिनको उनके पिता ऋषभदेव दे गये थे, तो वे प्रतिरोध का तो बल अपने में न पा सके थे किन्तु तीर्थङ्कर ऋषभदेव के परामर्ष पर उन्होंने भी हिंसा का उत्तर अहिंसा से और भोग-लिप्सा का उत्तर निष्काम त्याग से दिया था और तब भी भरत को उनकी अहिंसक साधना के आगे विनत होकर उनके चरणों में झुकना पड़ा था।

इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में हिंसा का सफल प्रतिरोध अहिंसा द्वारा करने का मार्ग युग के प्रारम्भ में ही प्रशस्त बन गया था। भ० ऋषभदेव ने अहिंसा को धर्म के महान् पद पर प्रतिष्ठापित करके जन-जन को उसके पालन का जो सर्वप्रथम उपदेश दिया था, जनता ने उस उपदेश को सर्वान्तःकरण से ग्रहण कर लिया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विश्व में जब

से मानव के मन में इस विश्व की विभिन्न समस्याओं, प्रकृति के रहस्यों और आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासायें उत्पन्न हुईं और जबसे उसका मानसिक विकास इस स्टेज तक पहुँच गया, जबकि इन जिज्ञासाओं के समाधानों को वह समझ पाता, तबसे ही धर्म के रूप में सर्वप्रथम अहिंसा ही उसके समक्ष आई।

प्राग्वैदिक यज्ञ का रूप और धार्मिक क्षेत्र में हिंसा का प्रवेश

हम नहीं कहते कि हिंसा और अहिंसा का कभी कोई प्रारम्भिक काल रहा है या कभी ऐसा भी कोई काल आ सकता है, जब विश्व में हिंसा और अहिंसा ही न रहे। ये तो प्रवृत्तियाँ हैं, जो आत्मा के साथ सदा काल रही हैं और ये तब तक रहेंगी, जब तक कि आत्मायें इस विश्व में हैं।

किन्तु हमारा अभिप्राय यह है कि हिंसा में लोग पाप नहीं समझते थे और अहिंसा में लोग धर्म नहीं मानते थे, ऐसा भी एक काल था। ऐसे समय में लोगों को 'अहिंसा में धर्म है' इस प्रकार सर्वप्रथम बताया गया था। लोगों ने इसे आत्मा का स्वरूप मानकर स्वीकार कर लिया था। मानव का यह अहिंसा मूलक विश्वास सहस्राब्दियों तक चलता रहा। उनके सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य भी इसी विश्वास के अनुरुप अहिंसक ही होते थे। यद्यपि इस धर्म के अनुयायी ऋषभदेव के निर्वाण के उपरान्त विभिन्न धाराओं में बंट गये, किन्तु फिर भी कोई धारा हिंसा को धार्मिक क्षेत्र में प्रश्रय नहीं दे पाई। संभवतः एक धर्म का अनेक धाराओं में विभक्त होने का कारण ऋषभदेव के विभिन्न रुपों में से उनके एक रुप की मान्यता थी।

फिर भारत में एक समय ऐसा आया, जब वैदिक आर्य लोग बाहर

किसी प्रदेश से भारत में आये। वे लोग यहाँ कब आये, कहाँ से आये इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। प्रख्यात दार्शनिक विद्वान् डाक्टर राधाकृष्णन् के मतानुसार यह समय ईसा पूर्व १५०० वर्ष होना चाहिये। स्व० लोकमान्य तिलक और जैकोबी के मत से यह काल ई० पू० ४५०० वर्ष होना चाहिये। काल और आने का स्थान कुछ भी रहा हो, उससे हमें यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं है।

किन्तु अधिकांश विद्वानों (भारतीय और पाश्चात्य) का अभिमत है कि आर्य लोग बाहर से भारत में आये। उन्होंने यहाँ आकर विजय करना और अपनी विशिष्ट संस्कृति का प्रचार प्रारम्भ किया। यह काल ऋग्वेद की रचना का काल था। ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का प्रणयन वे अपने देश में कर चुके थे और शेष का प्रणयन भारत में आने के बाद हुआ।

मैक्समूलर के मतानुसार संहिता के दो भाग किये जा सकते हैं— छन्द और मन्त्र। छन्द उन कविताओं का नाम है, जो प्रारम्भ में विद्वान् ऋषियों ने बनाई थीं। इन छन्दों में देवताओं से प्रार्थनाएँ की गई हैं। छन्द-काल तक वैदिक आर्यों में भी यज्ञों में हिंसा नहीं होती थी। इसके बाद वेदों का संकलन किया गया। यह संकलन किस प्रकार किया गया, इसका विस्तृत उल्लेख हमें वैदिक साहित्य में अनेकों[1] स्थलों पर मिलता है। विष्णुपुराण[2] के उल्लेखानुसार वेदों का संकलन और विभाजन

१—विष्णुपुराण, (३-२-४१), ऋग्वेद (१० ७१-३), मुण्डकोपनिषद आदि

२—त्रेतायां प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयंभुवा
त्रेतायां द्वितीये च वेद व्यास प्रजापतिः ॥११
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे च बृहस्पतिः ॥१२
विष्णुपुराण अंश ३ अध्याय ३

सर्वप्रथम त्रेता युग में स्वयंभू ब्रह्मा ने किया; त्रेता के द्वितीय चरण में प्रजापति ब्रह्मा ने, तृतीय चरण में उशना ने (जो कि असुरों के कवि तथा पुरोहित थे) और चतुर्थ चरण में बृहस्पति ने यह कार्य किया। ये सभी लोग वेद-व्यास कहलाये। यह काल मन्त्र-काल कहलाता है। इस काल में यज्ञों में बलि प्रथा के विचार धीरे-धीरे पनपे। और वे बढ़ते-बढ़ते सारे याज्ञिक विधि-विधानों को ही घेर कर बैठ गये।

वैदिक आर्यों में प्रारम्भ में यज्ञों का रूप क्या था और किस प्रकार उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में हिंसा को प्रश्रय और विस्तार दिया, इसका भी एक क्रमबद्ध इतिहास वेदों में मिलता है। ऋग्वेद[1] अथर्ववेद[2] और यजुर्वेद[3] में उल्लेख है कि "पूर्व समय में देवों ने ज्ञान से यज्ञ किया क्योंकि उस समय का यही धर्म था। उस ज्ञान-यज्ञ की महिमा स्वर्ग में पहुँची, जहाँ साधारण देव रहते थे।"

"वह ज्ञान-यज्ञ यहाँ इतना उन्नत हुआ कि वह देवताओं का अधिपति हो गया।"

"जब यहाँ देवों ने हविरुप द्रव्य-यज्ञ फैलाया तो भी यहाँ ज्ञान-यज्ञ (भाव-यज्ञ) ही मुख्य था। परन्तु हवि-यज्ञ के अर्थ मूर्ख देवों ने कुछ और ही समझ लिये। उन्होंने पशुओं से यज्ञ करना आरम्भ किया। यहाँ तक ही नहीं, अपितु गौ तक के अङ्गों से भी यज्ञ करने लगे।"

'देवों ने मानस संकल्प रूप यज्ञ से यज्ञ स्वरूप प्रजापति की पूजा की।'

वैदिक यज्ञों में और इस प्रकार भारत में यज्ञों में और धार्मिक

१—ऋग्वेद मं० १ सू० १६४। ५०

२—अथर्ववेद कां० ७ सू० ५ मं० १,४,५

३—यजुर्वेद अ० ३१ मं० १४,१५ और उनका महीधर भाष्य

क्षेत्र में हिंसा का प्रवेश और विस्तार किस प्रकार हुआ, उपर्युक्त मन्त्र इस बात के स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण हैं। इन मंत्रों से ही यह स्पष्ट होता है कि आर्यों के भारत-आगमन से पूर्व यहाँ जो धार्मिक कृत्य होते थे, उनमें किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती थी, अपितु वे ज्ञान-यज्ञ कहलाते थे।

पाराशर स्मृति में हमारे इस विश्वास की पुष्टि में एक श्लोक मिलता है, जिसमें बताया गया है कि कृतयुग में ध्यान द्वारा पूजा होती है, त्रेता में बलि द्वारा, द्वापर में पूजा द्वारा और कलियुग में स्तुति-प्रार्थना द्वारा पूजा होती है।

विष्णुपुराण के पुरुरवा उपाख्यान में भी बताया है कि बलि-प्रथा का प्रारम्भ त्रेतायुग में हुआ।

इन सब उल्लेखों से यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि वैदिक आर्यों से पहले भारत में धार्मिक विधि विधान का रूप ध्यान-तपस्या थी। स्वयं वैदिक आर्यों का हिंसा मूलक यज्ञों में प्रारम्भिक काल में विश्वास न था, इतना निश्चित है वे ज्ञान-यज्ञ को भी श्रद्धा के साथ स्वीकार करते हों, ऐसा भी नहीं लगता। इसीलिये ऋग्वेद की प्रारम्भिक निर्माण दशा के समय आर्य लोगों के धर्म का रूप प्रार्थना-परक रहा। वस्तुतः ज्ञान यज्ञ तो वैदिक आर्यों से भिन्न मूल भारतीयों का धर्म था किन्तु ये वैदिक आर्य ही थे, जिन्होंने उस ज्ञान-यज्ञ के स्थान में बलिदान प्रथा का प्रारम्भ किया और धार्मिक क्षेत्र में अपने जीवन-व्यवहार की तरह हिंसा को उत्तेजन दिया।

वैदिक आर्यों ने अपने यज्ञों में बलि प्रथा को एकबार जो प्रचलित किया, तो वह प्रथा कितने वेग और भयंकर रूप से बढ़ी और फिर यज्ञों की वेदी किस प्रकार प्राणियों के रुधिर से रक्त और आर्तनादों से भर

उठी, यह यजुर्वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में देखने से स्पष्ट हो जाता है। संभवतः यज्ञों में हिंसा का प्रारम्भ 'अजैर्यष्टव्यं' इस मंत्र का अर्थ 'पुराने यवों से यज्ञ करना चाहिये' इस प्राचीन परम्परागत अर्थ को बदलकर 'बकरों से यज्ञ करना चाहिये, इस प्रकार का हिंसापरक अर्थ करने के कारण हुआ।

मत्स्य[1] पुराण और महाभारत[2] में इस सम्बन्ध में जो कथायें दी हुई हैं, उनसे यज्ञों के प्रारम्भिक रुप और परिवर्तित रुप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

त्रेतायुग के प्रारम्भ में इन्द्र ने विश्व-युग नामक यज्ञ किया। बहुत से महर्षि उसमें आये। किन्तु जब उन्होंने यज्ञ में पशुवध होते देखा तो उन्होंने उसका घोर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं, न हिंसा धर्म उच्यते' अर्थात् यह धर्म नहीं है, यह तो वास्तव में अधर्म है और हिंसा धर्म नहीं कहलाता। उन्होंने यह भी कहा कि पूर्वकाल में यज्ञ पुराने धानों से किया जाता रहा है, मनु ने भी ऐसा ही विधान किया है। किन्तु इन्द्र नहीं माना। इस पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्त में इस विवाद का निपटारा कराने वे चेदिनरेश वसु के पास पहुँचे। उसने बिना सोचे विचारे कह दिया कि यज्ञ स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के प्राणियों से हो सकता है। इस पर ऋषियों ने वसु को शाप दे दिया।

इसी प्रकार की एक कथा जैन[3] साहित्य में पर्वत-नारद संवाद के

१— मत्स्यपुराण-मन्वन्तरानुकल्प-देवर्षि-संवाद नामक अध्याय १४६

२—महाभारत-अश्वमेध पर्व अध्याय ६१

३—हरिवंश पुराण सर्ग १७। पद्म चरित पर्व ११। उत्तर पुराण पर्व ६७। भाव प्राभृत ४५। त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित पर्व ७ सर्ग २७। आदि

रूप में मिलती है। जिसमें राजा वसु ने गुरु-पुत्र पर्वत का पक्ष लेकर 'अजैर्यष्टव्यं' का अर्थ 'बकरों से यज्ञ करना चाहिये' इस प्रकार हिंसा-परक अर्थ का समर्थन कर दिया, जिससे वसु नरक में गया।

इस प्रकार जैन और वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह विश्वास होता है कि वैदिक आर्यों के भारत आगमन से पूर्व भारत में अहिंसा-धर्म प्रचलित था। तब यज्ञों का रूप भी अहिंसक था; आर्यों का प्रारम्भिक विश्वास भी अहिंसा पर था। किन्तु कालान्तर में उन्होंने यज्ञों में हिंसा और बलि का समर्थन करके धार्मिक क्षेत्र में हिंसा का प्रवेश कराया।

अब यहाँ यह जान लेना रुचिकर होगा कि वैदिक आर्य जब भारत अहिंसा की अनुयायी में आये थे, तब उन्हें जिन जातियों से पाला पड़ा, प्राग्वैदिक जातियाँ वे जातियाँ कौन थीं, उनके विश्वास क्या थे।

इस सम्बन्ध में हमें वेदों और इतर वैदिक साहित्य से विशेष सहायता मिल सकती है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि वेद यद्यपि विश्व की प्राचीनतम पुस्तक हैं; किन्तु आर्य जब भारत में आये थे तब उन्हें यहाँ ऐसी अनेक जातियों से मिलने का अवसर आया था, जो न केवल भौतिक समृद्धि, शारीरिक क्षमता और भौतिक विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध थीं, अपितु जो अपनी आध्यामिक मान्यताओं और सिद्धान्तों की दृष्टि से भी बहुत आगे बढ़ी हुई थीं। ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह भी प्रतीत होता है कि जब वैदिक आर्य भारत में आये थे, उस समय वे न ईश्वर को मानते थे, न अपवर्ग को। परलोक सम्बन्धी उनकी मान्यतायें स्वर्ग से आगे नहीं बढ़ पाई थी। वे इस जीवन में अधिक से अधिक सुखोपभोग में विश्वास करते थे और इस जीवन के बाद ऐसे स्वर्ग की कल्पना करते थे, जहाँ यम का राज्य है, और जहाँ अशन-पान-आच्छादान के लिहाज से कोई

कष्ट नहीं है। वे ऋत पर विश्वास करते थे। उनका ऋत कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वे अपरा विद्या को ही तब तक जानते थे। परा विद्या का चिन्तन तो भारतीय जातियों के सम्पर्क में आने के काफी समय बाद उपनिषदों के रूप में होने लगा था। वे देवताओं से प्रार्थना करते रहते थे और उनसे सदा सुन्दर स्त्रियाँ, धन, घोड़े और विजय की याचना करते थे।

वेदों में जिन अनेक जातियों का उल्लेख आया है, उनमें व्रात्य, द्रविड़, असुर, नाग, आग्नेय, यदु, तुर्वसु आदि प्रमुख हैं। इनमें व्रात्य कीकट अर्थात् दक्षिणी बिहार में, द्रविड़ दक्षिण, पश्चिम भारत में, असुर सारे भारत में, नाग उत्तरप्रदेश और मालवा में, आग्नेय पूर्वी भारत में, यदु उत्तरप्रदेश और सौराष्ट्र में मुख्यतः बसे हुए थे। यहाँ इन जातियों के विश्वास, ज्ञान आदि के सम्बन्ध में वेदों और नृवंश वेत्ताओं के अनुसंधान के आधार पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

व्रात्य—व्रात्य वस्तुतः कोई निश्चित जाति नहीं थी। व्रतों का जो आचरण करते थे, उन सभी को वैदिक आर्य व्रात्य कहते थे। उन व्रात्यों से वैदिक आर्यों को संघर्ष करना पड़ा, कीकट देश में उनके कारण आर्य लोगों को विजय का सतत किन्तु असफल प्रयत्न करते रहना पड़ा और सदा ही इन्द्र से कीकट देश के राजा प्रमंगद के धन, गायों आदि के हरण करने की प्रार्थना करते रहना पड़ा तथा उनके ध्वंस के लिये सदा इन्द्र को प्रार्थना पूर्वक उत्साहित किया जाता रहा [1]। किन्तु उनके नियमन और पराभव में आर्य कभी सफल नहीं हुए। वस्तुतः व्रात्य यज्ञ विरोधी थे। व्रतों और आत्म-साधना में उनका विश्वास अविचल

१— ऋग्वेद १।३३।५, १।१०१।१, १।१३०।८, ७।१०४।२, ३।३०।१७

था। ऐसी आत्म विश्वासी जाति से निरन्तर लड़ते रहना वैदिक आर्यों के लिये कठिन था। उनकी बस्तियाँ चारों ओर से इनसे घिरी हुई थीं। अतः धीरे-धीरे आर्य लोग इनसे हिलने-मिलने लगे। जब वे इन व्रात्यों के सम्पर्क में आये और उन्होंने इनका आध्यात्मिक ज्ञान, साधना, उच्च मान्यतायें आदि देखीं तो वे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने वेदों में इनकी प्रशंसा करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ तक कि स्वतन्त्र व्रात्य-सूक्तों[1] तक का प्रणयन किया गया। इन मंत्रों में व्रात्य की प्रशंसा निम्न रूप में की गई—

'जो देहधारी आत्मायें हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा को देह से ढंका है, इस प्रकार के जीवसमूह समस्त प्राणधारी चैतन्यसृष्टि के स्वामी हैं, वे व्रात्य कहलाते हैं।'

'वह व्रात्य प्रजापति चराचर जीवों का प्रतिरूप में प्राप्त हुआ'। 'उस प्रजापति ने आत्मा का साक्षात्कार किया। आत्मा का स्वरुप दिव्य स्वर्णमय था।'

'वह पूर्व दिशा की ओर गया। उसके पीछे देवता चले। सूर्य चन्द्र सभी ने उसका अनुगमन किया।

'जो ऐसे व्रात्य की निन्दा करता है, वह संसार के देवताओं का अपराधी होता है।

'व्रात्य प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह है। विश्व व्रात्य का अनुकरण करता है। श्रद्धा से जनता का हृदय अभिभूत हो जाता है। व्रात्य के अनुसार श्रद्धा, यश, लोक और गौरव अनुगमन करते हैं।

'व्रात्य राजा हुआ। उससे राज्यधर्म का श्रीगणेश हुआ। प्रजा,

१—अथर्ववेद काण्ड १५ में २२० मंत्रों द्वारा व्रात्यों की स्तुति की गई है।

बन्धु भाव, अभ्युदय और प्रजातन्त्र सबका उसी से उदय हुआ। व्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया।

'व्रात्य ने फिर तप से आत्म-साक्षात्कार किया। सुवर्णमय तेजस्वी आत्म-लाभ कर व्रात्य महादेव बन गया। व्रात्य पूर्व की ओर गया, पश्चिम की ओर गया, उत्तर-दक्षिण चारों दिशाओं की ओर उन्मुख हुआ। चारों ओर उसके ज्ञान-विज्ञान का आलोक फैल गया। विश्व श्रद्धा के साथ उसके सामने नतमस्तक हो गया।

'व्रात्य की नारी श्रद्धा थी। मागध उनका मित्र था। विज्ञान उसके वस्त्र थे।

'व्रात्य एक वर्ष तक निरन्तर खड़ा ही रहा। वह तपस्या में लीन था। देवताओं ने कहा—व्रात्य! तुम क्यों खड़े हो?

'जो व्यक्ति इस प्रकार के व्रात्य-स्वरूप से परिचय प्राप्त कर लेता है, उसके पास समस्त प्राणी निर्भय हो जाते हैं।'

विद्वानों[1] ने स्वीकार किया है कि यह स्तुति महा-व्रात्य ऋषभदेव की की गई है। इन विद्वानों का यह भी मत है कि जो लोग इस महा व्रात्य के अनुयायी थे, वे व्रात्य कहलाते थे। वे प्रचलित यज्ञ याग प्रधान वैदिक धर्म को नहीं मानते थे। उनकी उपासना की विधि योगाभ्यास मूलक थी।

इन विद्वानों ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि जो दार्शनिक विचार पीछे से सांख्य-योग के रूप में विकसित हुए, उनका मूल स्रोत व्रात्यों की उपासना तथा उनका ज्ञानकाण्ड था एवं व्रात्य सम्प्रदाय

१—ट्यूबिंगेन विद्यापीठ जर्मनी के विद्वान् डाक्टर हावर द्वारा लिखित निबन्ध—

ही परवर्ती काल के साधु-संन्यासियों का पूर्वरूप था।

उस महाव्रात्य महादेव ऋषभदेव के अनुयायी व्रात्य कैसे थे, उनके सम्बन्ध में वेदों के भाष्यकार सायण ने लिखा है कि—

'यद्यपि सभी व्रात्य आदर्श पर इतने ऊँचे चढ़े हुए न हों, किन्तु व्रात्य स्पष्टतः परम विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्ववंद्य, कर्मकाण्ड को धर्म मानने वाले ब्राह्मणों से विशिष्ट महापुरुष होते हैं, यह मानना ही होगा।'

इन व्रात्यों की व्रतनिष्ठा और सदाचार से वैदिक आर्य इतने अधिक प्रभावित हुए थे कि उन्होंने वेदों में याज्ञिकों को यहाँ तक आदेश[1] दिया कि—

'यज्ञ के समय व्रात्य आ जाय तो याज्ञिक को चाहिए कि व्रात्य की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा बन्द कर दे। जैसा व्रात्य यज्ञ विधान करे, वैसा करे।

'विद्वान् ब्राह्मण व्रात्य से इतना ही कहे कि जैसा आपको प्रिय है, वही किया जायगा। वह व्रात्य आत्मा है। आत्मा का स्वरूप है। आत्म साक्षात् द्रष्टा महाव्रत के पालक व्रात्य के लिए नमस्कार हो।'

इस प्रकार वेदों ने व्रात्यों को उनके महाव्रतों के कारण अत्यन्त प्रभावित होकर नमस्कार तक किया है। वस्तुतः महाव्रात्य भगवान् ऋषभ-देव हैं, महाव्रत पालक व्रात्य जैन साधु हैं, और सामान्य व्रात्य जैन धर्मानुयायी जन हैं, यह आज सर्वमान्य हो चुका है। वेदों के व्रात्य ही आज के जैन हैं और व्रात्य धर्म ही आज का जैन धर्म है।

जब स्मृति युग आया, आर्यों में साम्प्रदायिक संकीर्णता प्रवेश कर

१— अथर्ववेद काण्ड १५

गई, उनमें समन्वयवादी उदार वृत्ति का लोप होने लगा, तब ब्राह्मण और स्मृतियों में उन्हें अयज्वन्-अन्यव्रत, अकर्मन् आदि कहा जाने लगा। तब तो प्रादेशिक सीमाएँ भी व्रात्यों और वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों के आधार पर बँट गईं और व्रात्यों के प्रभाव में जाने से रोकने के लिए स्मृतियों को अपने अनुयायियों को स्पष्ट आदेश देना पड़ा—

'अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र और मगध में बिना तीर्थ यात्रा के नहीं जाना चाहिये। यदि चला जाय तो पुनः संस्कार करना पड़ता है।

यह साम्प्रदायिक विद्वेष फिर तो इतना बढ़ गया कि व्रात्यों की भाषा प्राकृत को अशिक्षितों और स्त्रियों की भाषा कहा जाने लगा, उनके देवानुप्रिय (देवताओं के प्रिय, जो श्रावकों के लिये प्रयुक्त होता था) पाषंड (जो धर्म का पर्यायवाची था) आदि शब्द वैदिक व्याकरणकारों ने घृणा मूलक अर्थों में प्रयुक्त करने प्रारम्भ कर दिये।

किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भले ही ब्राह्मण और स्मृति ग्रन्थों में व्रात्यों के लिये निन्दा सूचक शब्दों का प्रयोग किया हो, वेदों ने उनके प्रति सम्मान के भाव प्रगट किये हैं और ये व्रात्य वैदिक आर्यों के भारत-आगमन के समय समस्त भारत में छाये हुए थे। ये अत्यन्त समृद्ध, शिक्षित और सभ्य थे। यहाँ तक कि इनके धर्म और सभ्यता का प्रभाव उन जातियों पर भी था, जो अधिक समुन्नत नहीं थीं।

द्रविड़—वैदिक आर्य लघु एशिया और मध्य एशिया में से होते हुए त्रेता-युग की आदि में इलावर्त और उत्तर पश्चिम के द्वार से जब पंजाब से आये थे, उससे पहले ही भारत में द्रविड़ लोग गान्धार से विदेह तक और पंचाल से दक्षिण मय देश तक अनेक जनपदों में बसे हुए थे। कुछ विद्वान इनका मूल निवास स्थान पूर्वी भूमध्य सागर के प्रदेश बताते हैं। इनकी सभ्यता के अवशेष आज तक दजला-फुरात

की घाटियों से लेकर सिन्धुघाटी तक मिलते हैं। ये नगर-सभ्यता के लोग थे। वास्तुकला में अत्यन्त प्रवीण थे। ये मकान, कुए, बावड़ी, तालाब, दुर्ग आदि बनाकर रहते थे। गेहूँ आदि की खेती करते थे। कताई, बुनाई की कला में कुशल थे। हाथी, ऊँट, बैल, गाय पालते थे। घोड़े भी रखते थे। इन्होंने बहुत पहले से जहाजी बेड़े का विकास कर लिया था और अपने जहाजों को लेकर व्यापार के निमित्त लघु एशिया और उत्तर-पूर्वीय अफ्रीका के सुदूर देशों तक जाते थे। दक्षिण भारत-लंका और हिन्द द्वीप पुँजों में उपनिवेश बनाने वाले द्रविड़ लोग ही थे। मोहनजोदड़ो आदि की खुदाई में मिट्टी के खिलौनों के अतिरिक्त अनेक कायोत्सर्ग जैन मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। वास्तव में ये लोग बड़े बलिष्ठ, धर्मनिष्ठ और अहिंसाव्रत के अनुयायी थे। द्रविड़ सभ्यता के नगरों का जहाँ-जहाँ खनन-कार्य हुआ है, वहाँ अनेक मूर्तियाँ तो निकली हैं। किन्तु कहीं पर भी बलि-प्रथा के सूचक कोई चिन्ह नहीं मिले। इससे प्रगट है कि द्रविड़ लोग वस्तुतः अहिंसा धर्म के कट्टर पालक थे और जैन थे। इतिहासकार मानते हैं कि द्रविड़ जाति प्राचीन विश्व की अत्यन्त सुसभ्य जाति थी और भारत में भी सभ्यता का वास्तविक प्रारम्भ इसी जाति ने किया था।[1]

जब आर्य लोगों ने भारत भूमि में प्रवेश किया, तब उन्हें अत्यन्त समृद्ध और विकसित नागरिकों से मुकाबिला करना पड़ा था। यद्यपि द्रविड़ लोग असंगठित होने के कारण आर्यों से प्रारम्भ में पंजाब में हार गये, किन्तु आर्यों को उन्हें हराने के लिये जितना परिश्रम करना पड़ा था, वह इससे ही प्रगट है कि उन्हें इन द्रविड़ों के लिये वेदों में

१—दिनकर (संस्कृति का चार अध्याय पृ० २७)

दस्यु, अनास, मृध्रवाक्, अयज्वन्, अकर्मन्, अन्यव्रत आदि घृणा-सूचक शब्दों का प्रयोग करना पड़ा। इनसे पृथक बने रहने के लिये ही आर्यों को 'वर्णभेद' करना पड़ा।

ये द्रविड़ लोग सर्प-चिन्ह का टोटका अधिक प्रयोग में लाते थे। अतः इन्हें नाग, सर्प आदि नामों से पुकारा जाता था। व्यापार में निष्णात होने के कारण इन्हें पणि और शुणि कहा जाता था। श्यामवर्ण होने से इन्हें कृष्ण कहते थे। और व्रतों का आचरण करने के कारण ही ये व्रात्य कहलाते थे। इनकी संस्कृति वास्तव में आध्यात्मिक थी, जबकि आर्य लोगों की संस्कृति आधिदैविक थी।

आधुनिक तामिल द्राविड़ शब्द का ही अपभ्रंश है। द्राविड़ों का प्राचीन नाम द्रामिल था। लघु एशिया के अभिलेख में वहाँ की जाति का नाम 'त्रमिल्ली' लिखा है। द्रामिल का अपभ्रंश होते-होते ही तामिल शब्द बन गया। इसी प्रकार द्राविड़ का संस्कृत रूप बदलते-बदलते धराविद् हुआ और उससे विद्याधर। इन विद्याधरों का वर्णन जैन साहित्य में विपुल परिमाण में मिलता है। ये वैताढ्य पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी में रहते थे और अनेक कलाओं में पारङ्गत तथा अपने युग के महान वैज्ञानिक लोग थे।

असुर—द्रविड़ों की तरह असुर भी व्रात्य-परम्परा की भारत की एक प्राचीन जाति थी। वैदिक साहित्य में असुरों के सम्बन्ध में बहुत कुछ विवेचन उपलब्ध होता है। ये लोग भौतिक सभ्यता में अत्यन्त समुन्नत थे। प्रासाद और नगर-निर्माण की इनकी योग्यता असाधारण थी। स्थान-स्थान पर इनके किले बने हुए थे। युद्ध-कला में अत्यन्त पारङ्गत थे। इनके नगर धन-धान्य से समृद्ध थे। महाभारत-काल में असुरों में मयनामक एक प्रसिद्ध इंजीनियर का वर्णन हमें मिलता है, जिसने

युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ-मण्डप का निर्माण किया था।

आर्य लोग इनकी समृद्धि से आकृष्ट होकर उन पर बराबर आक्रमण करते रहते थे। और असुर लोग आर्यों के यज्ञों का योजना बद्धविध्वंस करते रहते थे। वेदों और पुराणों में इन घटनाओं का देवासुर-संग्राम के रुप में विस्तार से वर्णन मिलता है। इन वर्णनों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि असुर अत्यन्त समृद्ध, बलिष्ठ, चतुर और व्यूह रचना में अत्यन्त कुशल थे। असुरों के ऐसे अनेक राजाओं का वर्णन पुराणों में आता है, जो वेदों और यज्ञों के विरोधी थे तथा जिनकी शक्ति के मारे इन्द्र सदा भयभीत रहता था। तथा जिन्हें विष्णु या रुद्र ने अपनी कूटनीति द्वारा मारा।

वैदिक साहित्य में इन असुरों की अनेक जातियों का वर्णन मिलता है जैसे नाग, कौलेय। यह भी पता चलता है कि असुर प्रजापति की सन्तान थे। इनकी भाषा संस्कृत न होकर विरोधी थी[१]। वे आर्यों के शत्रु रहे थे।[२] वे ज्योतिष और मंत्रशास्त्र में निष्णात[३] थे। उनके ध्वज-चिन्ह सर्प और गरुड़ थे।

इन असुर लोगों का धर्म क्या था, इसके सम्बन्ध में हमें स्पष्ट ज्ञात नहीं हो पाता। केवल इतना अवश्य पता चलता है कि ये लोग यज्ञों के कट्टर विरोधी थे और सदा ही उनमें विघ्न डालते रहते थे। किन्तु विष्णु[४] पुराण में देवासुर संग्राम के प्रसंग में माया मोह का उल्लेख

१—ऋग्वेद ७।१८।१३।

२ - ऋग्वेद १।१७४४।१।

३—ऋग्वेद १।२२८।८, १।१६०।२३

४—अध्याय १७।१८

किया है, उससे इनके धर्म पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसमें उल्लेख है कि मायामोह ने असुरों में आर्हत धर्म का प्रचार किया, जिसके कारण वे धर्मभ्रष्ट होकर पतन को प्राप्त हुए। यह मायामोह एक दिगम्बर जैन मुनि के रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दू पद्म पुराण में इस मायामोह की उत्पत्ति बृहस्पति की सहायता के लिए विष्णु द्वारा बताई गई है। इस मुंडे सिर और मयूर पिच्छिकाधारी योगी दिगम्बर मायामोह द्वारा दैत्यों (असुरों) को जैनधर्म का उपदेश और उनके द्वारा जैनधर्म में दीक्षा का स्पष्ट वर्णन है। देवी भागवत[1] में इसी प्रकार की एक कथा देकर मायामोह द्वारा असुरों को दिये उपदेश का भी विवरण दिया है। उसमें मायामोह ने असुरों से कहा 'हे देवरिपुओ मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, अहिंसा ही परमधर्म है जिसे अर्हन्तों ने निरूपित किया है।' इससे मिलता जुलता वर्णन मत्स्य[2] पुराण में भी मिलता है।

पुराणों के इस विवेचन में से यदि सांप्रदायिक द्वेष के पुट को निकाल कर ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूल्याङ्कन किया जाय तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि असुर आर्हत या जैन धर्म के अनुयायी थे।

जेन्द अवेस्ता में जिस अहुरमज्द (असुर महत्) को परम आराध्य देव माना गया है, उससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दो संस्कृतियों का स्पष्ट संघर्ष चल रहा था और वे संस्कृतियाँ सुर-संस्कृति और असुर-संस्कृति कहलाती थीं। आर्य लोग सुर का जिस प्रकार सम्मानास्पद और असुर का प्रयोग घृणात्मक रूप में करते थे, ठीक उसी प्रकार असुर-संस्कृति वाले लोग भी असुर का प्रयोग सम्मानसूचक और

१—स्कंध ४ अध्याय १३

२—अ० २४

सुर का प्रयोग घृणा सूचक अर्थ में करते थे। वस्तुतः ये दोनों ही संस्कृतियाँ अत्यन्त समर्थ और समृद्ध थीं।

आग्नेय–अग्नि देवता के उपासक आग्नेय कहलाते थे। ये आसाम से भारत के भीतरी भागों में आये थे और आकर सारे उत्तरभारत, पंजाब, मध्यभारत तक फैल गए तथा दक्षिण भारत में भी घुस गये थे। गंगा शब्द की उत्पत्ति आग्नेय भाषा के खांग कांग आदि नदी वाचक शब्दों से कही जाती है। ये भौतिक सभ्यता की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत थे। इनके सम्पर्क में आकर आर्यों ने बहुत कुछ इनसे लिया। चावल की खेती करना, नारियल, केला, तांबूल, सुपाड़ी, हल्दी, अदरक, लौकी आदि का उपयोग आग्नेयों की देन है। बीसी की गणना और चन्द्रमा से तिथि-गणना भी आग्नेय है। वे पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। आर्यों ने इन्हीं से पुनर्जन्म का सिद्धान्त लिया। कर्म-सिद्धान्त, योगाभ्यास और पूजा-विधि भी आर्यों ने इन्हीं से अपनाई।[1]

यह जाति निश्चय ही भारत की प्राचीनतम जातियों में से है और आर्य जब भारत में आये थे, उस समय यह जाति अपने आध्यात्मिक विश्वासों और भौतिक विज्ञान में बहुत समुन्नत थी। इनके पुनर्जन्म और कर्म सिद्धान्त जैनों की प्राचीन व्रात्य परम्परा से मिलते जुलते थे। और यह असंभव नहीं कि आग्नेय भी व्रात्य-परम्परा के अनुयायी रहे हों।

ऐसा लगता है कि यह जाति बाद में निर्बल पड़ गई। मगध, कामरुप, कलिंग, केरल, चोल और पाण्ड्य देशों में इन्हें द्रविड़ों ने हरा दिया। निर्बल पड़ने पर यह जाति कृष्णांग जाति में या परवर्ती

१—डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

जातियों में विलीन हो गई।

नाग—यह जाति द्रविड़ों की एक शक्तिशाली शाखा थी। इसका प्रभाव भारत के उत्तरी भाग में अत्यधिक रहा है। यह जाति आध्यात्मिक, भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न थी। सहस्राब्दियों तक इस जाति का भारत के विभिन्न भागों पर वर्चस्व कायम रहा। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि नाग जाति अपने सौन्दर्य के लिए जगत् में विख्यात थी। नाग-कन्याओं की तुलना सर्वत्र ही देवाङ्गनाओं से की जाती रही है। नाग-कन्याओं के साथ आर्य लोगों के विवाह के अनेकों उल्लेख पाये जाते हैं। अर्जुन ने नाग-कन्या उलूपी से विवाह किया था।

नाग लोग युद्ध-कला में भी अत्यन्त निष्णात थे। अर्जुन के पौत्र परीक्षित को जिस तक्षक ने मारा था, वह वास्तव में सर्प न होकर नाग जाति का बलिष्ठ युवक ही था।

ये नाग लोग व्रात्य धर्म के अनुयायी थे। जैन साहित्य में नागों के अधिपति धरणेन्द्र को अर्हन्तों का परम उपासक बताया गया है। जैन तीर्थङ्करों में सातवें सुपार्श्वनाथ और तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की मूर्तियों पर जो सर्पफण बने हुये मिलते हैं, उसका अर्थ ही यह है कि ये दोनों नाग जाति के महापुरुष थे। और भी तीर्थङ्करों की मूर्तियों के दाँये-बाँये बहुधा फणधारी नाग लोग खड़े हुए मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नाग लोग सदा जैनधर्म के अनुयायी रहे हैं।

यदु—यह जाति भी अत्यन्त समृद्ध और सभ्य जाति थी। वेदों[1]

१—ऋग्वेद १०।४९।८

से ज्ञात होता है कि ऋषभदेव की अग्नि के नाम से उपासना करने वाले पाँचजन थे। इनमें यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्यु और अनु ये पाँच क्षत्रिय जातियाँ थीं। ऋग्वेद काल में ये जातियाँ कुरुक्षेत्र, मत्स्य देश और सौराष्ट्र में बसी हुई थीं। जब आर्य लोग कुरुक्षेत्र में आये और इन जातियों के साथ निकट सम्पर्क स्थापित हुआ, तब आर्य लोग भी प्रभावित होकर ऋषभदेव की उपासना अग्नि के नाम से करने लगे। इस बात को काश्यप गोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने ऋग्वेद के ऋषभ सूक्त में मंत्रों द्वारा प्रगट किया है। (विशेष के लिए ऋषभदेव-परिच्छेद देखिए)

इस तरह प्राग्वैदिक काल में भारत में जितनी प्रमुख जातियाँ थीं, सभी समुन्नत, समृद्ध और सभ्य थीं और व्रात्य-परम्परा की अनुयायी थीं। उनका विश्वास अहिन्सा मूलक धर्म पर था।

वैदिक साहित्य के अतिरिक्त प्राग्वैदिक संस्कृति का रूप जानने का दूसरा उपाय पुरातत्व सामग्री है। पुरातत्व सम्बन्धी खोजें हमें आज से ५००० वर्ष पूर्व तक की भारतीय संस्कृति के दर्शन करा देती हैं। दजला फ़ुरात की नदी घाटियों, सिन्धु और नर्मदा की उपत्यकाओं और गंगा के खादरों में से खनन के फलस्वरूप जिस सभ्यता के दर्शन हुए हैं, वह निश्चय ही प्राग्वैदिक सभ्यता मानी जाती है। इस सभ्यता का निकास और विकास एक सीमित क्षेत्र में न होकर अत्यन्त व्यापक था। इन स्थानों पर जो पुरातत्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों का रहन-सहन, पहनाव-पोशाक रीति-रिवाज, रुचि और विश्वास इन सब पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। ये सब भारत की प्राग्वैदिक जातियों की अत्यन्त समुन्नत सभ्यता के परिचायक हैं।

पुरातत्व और प्राग्वैदिक संस्कृति का रूप

इन सबमें सिन्धु घाटी की पुरातत्व-सामग्री सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है। सिन्धु काण्ठे के मोहनजोदड़ो और रावी काण्ठे के हड़प्पा नगरों के ध्वंसावशेष भारतीय पुरातत्व विभाग द्वारा जबसे प्रकाश में लाए गए हैं, तबसे प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक सभ्यता के सम्बन्ध में प्रचलित विश्वासों में परिवर्तन करने के लिए विद्वानों को बाध्य होना पड़ा है। ये अवशेष ५,००० वर्ष प्राचीन माने जाते हैं।

यद्यपि इन नगरों में कोई देवालय जैसे पृथक् भवन उपलब्ध नहीं हुए, किन्तु मुद्राओं, मोहरों, मिट्टी-धातु और पाषाण की मूर्तियों आदि के रूप में वहाँ से विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है।

यदि इस सामग्री की तुलना भारतीय सभ्यता के नये केन्द्र-मथुरा के कंकाली टीले की कुषाण कालीन सामग्री से की जाय तो उसके कुछ रोचक और अद्भुत परिणाम सामने आवेंगे। और तब दोनों काल की कलाओं में हमें एक सामञ्जस्य और साम्य दृष्टिगोचर होगी। दोनो ही कलाओं में ध्यान के लिये पद्मासन और कायोत्सर्ग आसनों को प्रधानता मिली है। ध्यानस्थ पुरुष दिगम्बर वीतरागी है। दोनों ही जगह जटाधारी मूर्तियाँ मिलती हैं। त्रिशूल और चक्र भी दोनों कलाओं में कुछ भेद के साथ मिलते हैं। सिन्धु सभ्यता के केन्द्र में त्रिशूल ध्यानी पुरुषों के शिरों पर दिखाये गये हैं और मथुरा कला में ये पुरुष के चारों ओर या नीचे दिखाये हैं, जिनपर धर्म-चक्र भी रक्खे हुए हैं। दोनो कला केन्द्रों में मूर्ति के नीचे या आसपास में पशु और वृक्षों के चिन्ह विशेष रूप से मिलते हैं। दोनों कलाओं में नाग जाति के उपासक वन्दना करते हुए मिलते हैं।

इन समानताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि मथुरा की तरह मोहन जोदड़ों में भी जैन परम्परा के चिन्ह

विपुल परिमाण में पाये जाते हैं। वहाँ की अधिकांश ध्यानस्थ मूर्तियाँ जिन्हें भूल से शिव मूर्तियाँ मान लिया गया है, ऋषभदेव, शान्तिनाथ आदि जैन तीर्थङ्करों की हैं। दुर्भाग्य से जैन मान्यताओं के साथ सिन्धु-सभ्यता के इन अवशेषों की तुलना करने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया। केवल डाक्टर प्राणनाथ और डा० रामप्रसाद चन्द्रा आदि कुछ विद्वानों ने वृषभ चिन्हित मुद्राओं में कायोत्सर्ग आसन से खड़ी हुई मूर्ति को ऋषभदेव की मूर्ति स्वीकार किया है और उसकी समानता मथुरा में प्राप्त कायोत्सर्ग आसन में ध्यानस्थ मूर्ति से बताई है। इन विद्वानों ने वहाँ की सील-मुहर नं० ४४६ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। किन्तु हमारी विनम्र मान्यता है कि ध्यानस्थ सभी मूर्तियाँ जैन तीर्थङ्करों की हैं। ध्यानारुढ़ वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु और वृक्ष, नाग ये सभी चीजें जैन कला की निजी विशेषतायें हैं। जैन कला की एकमात्र विशेषता यदि कही जा सकती है तो वह है कायोत्सर्ग आसन, जो जैन श्रमणों द्वारा ध्यान के लिये प्रयुक्त होता है। सिन्धु घाटी के अवशेषों में कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रावाली भी कई मूर्तियाँ निकली हैं। इसलिये हम यह स्वीकार करते हैं कि मोहन जोदड़ो की योगी मूर्तियाँ जैन अर्हन्तों की मूर्तियाँ हैं।

इस प्रकार पुरातत्व से भी यह सिद्ध होता है कि प्राग्वैदिक संस्कृति जैनधर्म द्वारा प्ररूपित अहिंसा पर आधारित थी। तत्कालीन समाज में अहिंसा की गहरी प्रतिष्ठा थी। यही कारण है कि वहाँ कोई शस्त्रास्त्र हमें दृष्टिगोचर नहीं होते। केवल लाठी और कुल्हाड़ी मिलती हैं, जो साधारणतः सहारे और पेड़ काटने के काम में प्रयुक्त होती थीं।

वेदों और इतर वैदिक साहित्य में किस प्रकार हिन्सा का आगमन हुआ, उसका किस प्रकार विस्तार हुआ और किस प्रकार फिर अहिंसा

की प्रतिष्ठा हुई, यह जानने के लिए हमें वैदिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने की आवश्यकता है। इससे ही हम उसका समुचित मूल्याङ्कन कर सकेंगे।

हिंसा मूलक यज्ञों का विरोध और वैदिक साहित्य पर उसका प्रभाव

हर वेद के तीन भाग हैं—मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मंत्र कवियों की रचना है। मंत्रों का संग्रह संहिता कहलाती है। ब्राह्मण पुरोहितों की रचना हैं। और उपनिषद् तत्व चिन्तकों की कृति हैं। मंत्रों में प्रकृति धर्म का विवरण है, ब्राह्मणों में आचार-विधान है और उपनिषदों में आत्म-धर्म का निरूपण है। ब्राह्मणों में गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों का विधान है। आरण्यकों में—जो ब्राह्मण और उपनिषदों के मध्यवर्ती काल की रचनायें हैं—गृहत्यागी अरण्यवासी मुनियों की ध्यान-तपस्या का विधान है। और उपनिषदों में तात्विक चिन्तन है।

वेदों और ब्राह्मणों का निर्माण-काल आधुनिक विद्वानों[1] के मत से ई० पू० १५०० से ई० पू० ६०० वर्ष माना जाता है। इस काल में आर्य लोग भारत में आये, विजय प्राप्त की। धीरे-धीरे वे जमते गए और इस प्रकार अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते गये। इसी काल में उन्होंने वनों में ऋषियों के विशाल आश्रम बनाये, जो एक प्रकार से वन्य विश्वविद्यालय थे। इनमें राजकुमार और रंक समान भाव से ऋषियों से शिक्षा पाते थे। इन आश्रमों ने वैदिक संस्कृति को प्रचारित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। प्रारम्भ में तीन वेद ही मान्य थे—ऋग्, यजु और साम। यह वेदत्रयी कहलाती थी।

1—डॉ० राधाकृष्णन (Indian philosophy vol. I)

अथर्ववेद तो उस समय की रचना है, जब आर्य लोग मूल भारतवासी व्रात्यों, आग्नेयों आदि के साथ सांस्कृतिक आदान प्रदान करने लग गये थे और वे इनके देवताओं और मान्यताओं को स्वीकार करने लगे थे। इसी समन्वयवादी दृष्टि का परिणाम अथर्ववेद था। यह बहुत समय तक तो वेद ही नहीं माना गया। पश्चात् इसे वेद मानने की प्रवृत्ति बढ़ी और अन्ततः इसे भी चौथा वेद स्वीकार कर लिया गया।

ई० पू० ६०० से ई० सन् २०० में प्राचीन उपनिषदों और दर्शनों के आद्य रूप का निर्माण हुआ। औपनिषदिक चिन्तन के परिणाम स्वरूप गीता का निर्माण भी इसी काल में हुआ। इसके बाद सूत्र-युग आया और फिर दार्शनिक विवादों का युग।

दर्शनों का निर्माण कोई आकस्मिक घटना नहीं है। वे निश्चित नाम और रूप लेकर इस काल में सामने आये, किन्तु उनकी विचार-धारा का चिन्तन काफी समय से चल रहा था। वेदों में सांख्य और योग का नाम तक आया है। किन्तु फिर भी ये षट् दर्शन किस क्रम से निर्मित हुए, यह हम विश्वासपूर्वक नहीं कह सकते। इस सम्बन्ध में प्रो० गर्वे का मत है कि सर्वप्रथम सांख्य दर्शन का प्रणयन हुआ, उसके पश्चात् योग, मीमांसा, वेदान्त, वैशेषिक और अन्त में न्याय का।

यह हम पहले ही निवेदन कर चुके हैं कि संहिता के छन्द-काल में देवताओं से केवल प्रार्थनायें की जाती थीं। उस समय तक यज्ञों में हिंसा का विधान नहीं किया गया था। किन्तु जब मंत्र काल आया, छन्दों का संकलन और विभाग किया गया, तब यज्ञों में बलि-हिंसा का प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे यज्ञों में हिंसा बढ़ती गई। ब्राह्मणों ने तो यज्ञों को गृहस्थ के हर कार्य और हर कामना के लिए अनिवार्य कर दिया

तक में अहिंसा के प्रति गहरी आस्था बढ़ने लगी। इसी काल में उन्होंने देवताओं से स्पष्ट कहना प्रारम्भ कर दिया—

'देवता-गण! हम कोई बलि नहीं देते। हम किसी पशु-पक्षी का शिकार भी नहीं करते। हम तो पवित्र मंत्रों द्वारा ही पूजा करते हैं[1]।

वैदिक हिंसा के विरुद्ध वैदिक ऋषियों द्वारा यह विद्रोह की घोषणा थी। वैदिक क्षेत्र में यह क्रान्ति का एक समर्थ आह्वान था, जो व्रात्य परम्परा की अहिंसक भावना से स्पष्ट ही प्रभावित था।

यज्ञों में जब इन्द्र द्वारा हिंसा का प्रारम्भ किया गया था, तब भी ऋषियों ने उसे अधर्म कहकर विरोध किया था। और जब यज्ञों में हिंसा का खूब प्रचलन हो गया, तब भी विरोध होता रहा, यद्यपि ब्राह्मण, श्रौत, गृह्य और धर्म-सूत्र अपनी इस नव-नवोदित हिंसक संस्कृति के प्रचार में निरन्तर लगे हुए थे। किन्तु रह-रह कर यजुर्वेद की यह ध्वनि बराबर सुनाई देरही थी—

'मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखूँ[2]।'

'जो लोग जीव-हिंसा करते हैं, वे मरकर उन लोकों की यात्रा करते हैं, जिनमें प्रकाश का लेश नहीं और जो सूची भेद्य अन्धकार से आच्छन्न हैं।

'जो सब प्राणियों को अपने में स्थित और निजात्मा को सब जीवों में अधिष्ठित समझता है, वह उस परमात्मा से किसी प्रकार की शंका नहीं रखता।

इसी सुर में अथर्ववेद[3] भी अपना सुर मिलाकर मांस के विरुद्ध

१—सामवेद १।२।६।२

२—यजुर्वेद १८।२

३—अथर्ववेद १।७०।६

प्रचार करने लगा था। किन्तु इन वेदों की यह ध्वनि निजी नहीं थी, यह तो वस्तुतः व्रात्य-महापुरुषों द्वारा निरुपित अहिंसा की प्रतिध्वनि मात्र थी और वैदिक क्रियाकाण्ड के विरुद्ध खुला विद्रोह था। यही कारण था कि विद्रोह करने वाले इन ऋषियों ने ऋषभदेव की तरह अरिष्टनेमि को भी अपना देवता मान लिया था और वे उनसे भी प्रार्थना करने लगे थे।

हिंसा के विरुद्ध क्रान्ति का यही आव्हान उपनिषदों में ध्वनित हुआ। जब आर्य व्रात्यों के साथ घुल मिल गये और व्रात्य श्रमणों के तप-स्थानों में, जिन्हें निषद्या कहा जाता था, जाकर उनके निकट अहिंसा और आत्म-तत्व सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों का समाधान पाने लगे, तब उनमें प्रेरणा जागी कि वे उन सिद्धान्तों का वैदिकीकरण करें। किन्तु वे उन निषद्याओं का आभार नहीं भुला सके, जिनके निकट बैठकर उन्होंने यह अपूर्व आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया था। अतः अपनी आभार-भावनाओं को प्रगट करने के लिये ही उन्होंने अपने उन ग्रन्थों का नाम उपनिषद् रक्खा और उनमें वही आध्यामिक ज्ञान प्रतिध्वनित होने लगा, जो उन्होंने व्रात्य-परम्परा से प्राप्त किया था।

आगे चलकर व्रात्यों का यह तत्व-चिन्तन ही सांख्य के नाम से दार्शनिक रूप लेकर उद्घाटित हुआ, जिसमें व्रात्य परम्परा का जीव और पुद्गल प्रकृति और पुरुष बन कर आगे आया और जिसमें इस सम्पूर्ण सृष्टि का संचालन-सूत्र ईश्वर नाम के किसी कल्पित व्यक्तित्व को न देकर प्रकृति और पुरुष के संयोग को दिया गया। वास्तव में यह विचारधारा केवल व्रात्य-परम्परा के प्रभाव का परिणाम थी।

व्रात्यों की योगाभ्यास मूलक साधना, ध्यान मूलक तपस्या और अहिंसा मूलक आचार वैदिक आर्यों में अत्यधिक लोकप्रिय होते जा रहे

थे। अतः इस साधना और आचार को ज्यों का त्यों ग्रहण करके उसका वैदिक संस्करण 'योग-दर्शन' के नाम से किया गया। इसमें भी इस श्रमण-मान्यता को स्वीकार किया गया कि व्यक्ति अपने प्रयत्नों द्वारा ही कैवल्य पा सकता है।

वैदिक हिंसा और यज्ञ-यागादि के विरोध में वैदिक आर्यों में एक वर्ग उठ खड़ा हुआ था। वह अपनी परम्परा को छोड़ नहीं सकता था, किन्तु वह श्रमण-परम्परा-जिसका नाम अब श्रमण परम्परा भी पड़ गया था—के महापुरुष जिनदेवों के आदर्शों से अत्यन्त प्रभावित था। इस लिए योगवाशिष्ठ में रामचन्द्र जी की एक महत्वाकांक्षा का उल्लेख मिलता है। राम वैदिक आदर्शों की उपेक्षा करके कहते हैं—

'मैं राम नहीं हूँ, मेरे मन में अब कोई लालसा भी शेष नहीं है, विषयों में मेरा मन भी अब नहीं जाता। मैं तो अब वैसी ही शान्ति प्राप्त करने के लिए उत्सुक हूँ, जिस प्रकार जिनदेवों ने आत्म-शान्ति प्राप्त की है।

राम का सारे संसार के प्रति निर्वेद और जिनदेव के समान बनने की आकांक्षा अकारण नहीं है। राम के मुख से जिस महत्वाकांक्षा का उद्घाटन हुआ है, वस्तुतः वह तो महर्षि वशिष्ठ की महत्वाकांक्षा है, जो श्रमण परम्परा से अत्यन्त प्रभावित हैं और जीवन का परम आदर्श मान कर जिनदेव जैसे बनने को इच्छुक हैं। राम तो इस श्रमण-परम्परा से पहले से ही प्रभावित रहे हैं, जिसे उन्होंने शबरी का आतिथ्य ग्रहण करके प्रगट भी कर दिया था। यह शबरी वास्तव में भीलनी न होकर द्राविड़ जाति की श्रमणोपासिका थी।

श्रमणों के महान् आदर्श और अहिंसा सिद्धान्त वैदिक आर्यों में कितने लोकप्रिय होते जा रहे थे, यह हमें महाभारत के शान्ति पर्व और

मोक्ष अधिकार से विशेषतः ज्ञात होता है। वैदिक आर्यों में जो यह विश्वास बद्धमूल होकर व्याप्त था कि कृत-युग में मोक्ष का साधन ध्यान है, त्रेता में बलि, द्वापर में पूजा और कलियुग में स्तुति है। इस विश्वास के विरुद्ध महाभारत काल में यह विश्वास प्रबल हो गया था कि कृत-युग में मोक्ष का साधन तप है, त्रेता में ज्ञान है, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान है।[1]

महाभारत की यह क्रान्तिकारी घोषणा थी कि 'मर्यादा को उल्लंघन करने वाले, जड़मति, नास्तिक, संशयशील पुरुषों ने ही हिन्सा का वर्णन किया है।' यह वैदिक बलिप्रथा के विरुद्ध खुला विद्रोह था।

महामना भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि यदि प्राणि-वध से धर्म एवं स्वर्ग मिलता है, तब संसारी पुरुषों के लिए नरक कैसे प्राप्त होगा।' 'हे युधिष्ठिर! प्राणि-हिंन्सन निस्सन्देह यज्ञ में नहीं होता। यज्ञ तो हिंसा रहित होता है। इस कारण सदा हिंसा-रहित यज्ञ ही करना उचित है।'

'पशु बलि के बाँधने के खूँटे को तोड़ कर, पशुओं को मार कर, खून खच्चर मचाकर यदि कोई स्वर्ग चला जायगा तो नरक कौन जायगा ?

महाभारत के अश्वमेघ पर्व में तो यज्ञ में पशु-वध का विधान करने के कारण कड़ी फटकार पिलाई है। और उसे धर्म घातक बताया है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि व्रात्य परम्परा ने हिंसा मूलक यज्ञों का

१—महाभारत शान्ति पर्व

२—महाभारत अश्वमेघ पर्व अ० ९१ श्लो० १३-१४

जो विरोध किया था, वह इतना अधिक प्रभावक सिद्ध हुआ कि उस विरोध में स्वयं अनेकों ऋषि महर्षि भी सहयोग देने लगे और उन्होंने जिस वैदिक साहित्य का प्रणयन किया, उसमें उन्होंने हिंसा का डट कर विरोध किया। हिंसा का यह विरोध और अहिंसा का समर्थन निश्चय ही उनकी निजी मान्यता न थी, अपितु यह व्रात्य-परम्परा का प्रभाव था।

इन तमाम तथ्यों के पश्चात् यदि हम यह कहें कि भारत में अहिंसा की उद्भावना, विकास और उसके संरक्षण का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह है व्रात्य-श्रमण अथवा जैन-परम्परा। यह कितने आश्चर्य की बात है कि जिस प्रकार अथर्ववेद से पहले के किसी वेद में ईश्वर शब्द नहीं मिलता, उसी प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी अहिंसा शब्द उपलब्ध नहीं होता। ऐसे मंत्र अवश्य मिलते हैं, जिनका अर्थ अहिंसा परक है। वस्तुतः वैदिक साहित्य में अहिंसा शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख छान्दोग्य[1] उपनिषद् में मिलता है।

हिंसा-अहिंसा का यह संघर्ष निरन्तर तीव्र होता जा रहा था। व्रात्य परम्परा अहिंसा की प्रतिष्ठा रखने के लिये कृतसंकल्प थी, किन्तु उसके इस संकल्प में कुछ वैदिक ऋषि-गणों का भी हिंसा विरोधी सहयोग मिल रहा था। वे भी हिंसा को धर्म

धार्मिक क्रान्ति स्वीकार करने के लिये तैयार न थे। धीरे-धीरे यह संघर्ष हिंसा-अहिंसा के केन्द्र से आगे बढ़ कर ब्राह्मण और क्षत्रियों के संघर्ष का रूप धारण करता गया। और एक

१—अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्य वचमिति अस्य दक्षिणा, छान्दोग्य उपनिषद् ३-१७४

समय ऐसा आ गया, जब ब्राह्मणों के आधिपत्य से क्षत्रियों ने मुक्ति पाने का प्रयत्न शुरू कर दिया। परशुराम द्वारा क्षत्रियों के समूलोन्मूलन का २१ बार प्रयत्न, विश्वामित्र द्वारा ब्रह्मर्षि बनने के प्रयत्न का महर्षि वशिष्ठ द्वारा विरोध ये घटनायें ब्राह्मण-क्षत्रियों के आन्तरिक संघर्ष की निदर्शक हैं। इस आन्तरिक संघर्ष का परिणाम यह निकला कि क्षत्रिय पर विद्या अर्थात् अध्यात्म की ओर झुक गये, जबकि ब्राह्मण लोग देवताओं और पितरों की सन्तुष्टि के लिये हिंसा पूर्ण यजन-याजन पर बल देते रहे। यज्ञों में जो हिंसा बकरों की बलि से प्रारम्भ हुई थी, वह अब बढ़ते-बढ़ते अश्व, मृग, एण, रुरु, वनशूकर, महिष, गौ, यहाँ तक कि नर-मेध तक जा पहुँची। राजा हरिश्चन्द्र द्वारा वरुण की सन्तुष्टि के लिये खरीद कर लाये हुए ऋषि-पुत्र शुनःशेप को विश्वामित्र ने यज्ञ के खम्भे से छुड़ाकर और इस प्रकार उसे बलि होने से बचाकर अपना पुत्र ही मान लिया। यद्यपि गायत्री मन्त्र के आद्य द्रष्टा विश्वामित्र के इस कृत्य से ब्राह्मण ऋषि लोग सन्तुष्ट नहीं हो सके, किन्तु फिर भी यह घटना तत्कालीन यज्ञों के रूप और ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त है।

ईसा से ६०० वर्ष पूर्व भारत में वैदिक क्रियाकाण्डों के नाम पर फिर एक बार हिंसा का प्रबल उफान आया। हिंसा की इस आकस्मिक वृद्धि का कारण क्या था, यह तो निश्चय पूर्वक कहना कठिन है, किन्तु लगता है, इस समय क्षत्रिय वर्ग कुछ निर्बल पड़ गया था अथवा वह ब्राह्मण-वर्ग के प्रभाव में आकर दब गया था। किन्तु क्षत्रिय वर्ग में याज्ञिकी हिंसा और मांसाहार की अदम्य वेग से बढ़ती हुई प्रवृत्ति के विरुद्ध असन्तोष की आग सुलग रही थी। अन्ततः यह आग क्रान्ति का विस्फोट लेकर प्रगट हुई। एक ओर तो शाक्य वंशीय तथागत गौतम

की 'करुणा' की पुकार जन-जन का आव्हान करने लगी तो दूसरी ओर ज्ञातृवंशीय तीर्थङ्कर महावीर का 'सत्वेषु मैत्री' का अहिंसक निर्घोष सारे भारत में व्याप्त होने लगा। बुद्ध की करुणा और महावीर की अहिंसा एक ओर जहाँ सर्वजीव-समभाव का घोषणा-पत्र थी, तो दूसरी ओर वह यज्ञों और पितरों के नाम पर की जाने वाली भयानक हिंसा को खुली चुनौती थी। वस्तुतः यह भारतीय इतिहास में श्रमण और ब्राह्मण संस्कृति में प्रथम खुला संघर्ष था।

इस हिंसा-विरोधी क्रान्ति में हाथ बटाने के लिए मक्खलि गोशाल, पूरणकाश्यप, अजितकेशि आदि अनेकों नेता आगे आये। लेकिन वे अधिक सहयोग न दे पाये। उसका बाह्य कारण कुछ भी रहा हो, किन्तु उसका आन्तरिक कारण संभवतः यह था कि यह दो संस्कृतियों का संघर्ष होने पर भी वस्तुतः यह ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष था। चूँकि ये दूसरे नेता आभिजात्य कुल के क्षत्रिय नहीं थे, अतः उनको क्षत्रियों का सहयोग तो मिल ही नहीं सका, ब्राह्मणों के सहयोग का तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं था।

यह क्रान्ति मुख्यतः हिंसा के विरोध में थी, किन्तु इसने हिंसा के साथ-साथ ब्राह्मणवाद के दूसरे अन्धविश्वासों पर भी करारे प्रहार करने शुरू कर दिये। इन अन्धविश्वासों में जन्मजात-जातिवाद, स्त्री-शूद्रों का धर्म के अधिकार क्षेत्र से बहिष्कार, वैदिक आर्यों की भाषा संस्कृत को उच्च कुलों की भाषा मानने का दम्भ, लोक भाषाओं की उपेक्षा आदि मुख्य थे। इन दोनों युग-महापुरुषों ने इस क्रान्ति को जीवन भर जगाये रक्खा।

किन्तु अभी क्रान्ति की कुछ ही राह तय हुई थी कि तथागत गौतम उस क्रान्ति का साथ पूरी तौर पर न दे सके। याज्ञिकी हिंसा और मांसा-

हार के विरोध में क्रान्ति का जो झण्डा उठाया गया था, वह झण्डा आगे जाकर लोक-संग्रही भावना के आगे कुछ झुक गया। म० बुद्ध अपने उपासक भक्तों द्वारा दिये हुए मांसाहार को अस्वीकार न कर सके। तब फिर जिन सिद्धान्तों के विरुद्ध क्रान्ति उठाई थी, उन सिद्धांतों के साथ एक बार सुलह करने के बाद विरोध का कोई अर्थ या उसमें कोई बल नहीं रह जाता। मांसाहार अनेक विधिनिषेधों के साथ एक बार जब स्वीकार कर लिया गया, तब उस प्रवृत्ति का दमन अत्यन्त कठिन हो गया। वह तो बल्कि फिर बढ़ती गई। उसका परिणाम यह हुआ कि अहिंसा बुद्ध-धर्म की नींव न बन सकी और वह धर्म जहाँ भी गया, उसके अनुयायी मांसाहार से घृणा न कर सके। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि म० बुद्ध उस अहिंसक क्रान्ति में अन्त तक अपना सम्पूर्ण योग न दे पाये।

इस क्रान्ति में श्रमण-परम्परा की इस नवीन धारा के पिछड़ने पर भी क्रान्ति पर उसका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। श्रमण-परम्परा की प्राचीन धारा ने, जिसके तत्कालीन नेता भगवान महावीर थे, उस क्रान्ति को आगे बढ़ाया। उस युग के बड़े से बड़े वैदिक ब्राह्मण विद्वान् महावीर के समक्ष चुनौती लेकर आये और अपने विश्वास को तिला-ञ्जलि देकर उनकी विचारधारा और शिष्यत्व स्वीकार करने को स्वेच्छया बाध्य हुए।

इस क्रान्ति का तत्कालीन परिणाम यह हुआ कि भारत भर का आकाश असहाय पशुओं की करुण चीत्कारों से जो प्रतिध्वनित होता रहता था, यज्ञ-वेदियाँ पशुओं के रक्त से रक्त वर्ण हो जाती थी (जैसा कि महाभारत में चर्मण्वती नदी और रन्तिदेव राजा के वृत्तान्त से ज्ञात होता है), वह सब एकबारगी कम हो गया। उसके बाद जो

वैदिक साहित्य निर्मित हुआ, उसमें भी हिंसा के स्थान पर अहिंसा की ही प्रतिष्ठा हुई।

कहते हैं, इतिहास अपने को दुहराता है। भ० महावीर से १००० वर्ष पहले जो वैदिक आर्य भारत के पाञ्चाल और आर्यावर्त को जीतने में समर्थ हो सके, वे उस समय कीकट देश को न जीत सके। कीकट देश ने उनकी प्रगति को और इस प्रकार उनकी संस्कृति को अवरुद्ध कर दिया था। और अब इस क्रान्ति के समय भी कीकट की इस श्रमण-संस्कृति ने ही वैदिक-संस्कृति की हिंसापरक प्रवृत्ति को अवरुद्ध कर दिया।

आर्य लोगों ने वैदिक साहित्य में जिन अंग, वंग, कलिंग, सौराष्ट्र, मगध देशों में (व्रात्य संस्कृति के कारण) जाने पर प्रतिबन्ध लगाया था, आश्चर्य है कि उन देशों में (वंग को छोड़ कर) आजतक अहिंसक मान्यतायें प्रचलित हैं और यह सब उस क्रान्ति का परिणाम है, जो भ० महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व चलाई थी।

भ० महावीर ने अहिंसा को लेकर जो क्रान्ति की, उसका प्रभाव न केवल इस देश में और न केवल सामयिक ही हुआ, अपितु उसका प्रभाव सुदूर देशों में और बहुकालिक हुआ।

अहिंसक क्रान्ति का दूरगामी प्रभाव

अहिंसक क्रान्ति की जिन लहरों ने उस समय के सम्पूर्ण भारतीय धर्मों को अपने में ढंक लिया, वे लहरें भारत के बाहर एशिया में पहुँचीं, यूनान और मध्यपूर्व में पहुँचीं। वहाँ पहुँच कर उन्होंने वहाँ के धर्मों को भी अपने रंग-रूप से आप्लावित कर लिया।

पाइथौगोरस—यूनान में पाइथौगोरियन सम्प्रदाय प्रचलित है। इसकी स्थापना वहाँ के महान् सन्त पाइथौगोरस ने की थी। यह सन्त

भगवान् महावीर के काल में (ई० पू० ६०० में) भारत आया था। इसने ऐलोरा और ऐलीफैण्टा के ऐतिहासिक गुहा-मन्दिरों में ब्राह्मण और श्रमणों से भेंट की थी। उनकी अहिंसा और जगत् सम्बन्धी तात्विक मान्यताओं का इस सन्त के ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इस सन्त को 'यवनाचार्य' कहकर महान् सम्मान भी प्रदान किया था। इसी सन्त ने उक्त सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इस सम्प्रदाय का अन्तिम महा-पुरुष प्रोक्लस पाँचवीं शताब्दी में हुआ है।

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों पर जैनधर्म की गहरी छाप है। इसका मुख्य सिद्धान्त है कि 'मनुष्य जब 'स्व' को पहचान लेता है तो वह देवत्व प्राप्त कर लेता है।'[1] यह आधारभूत सिद्धान्त वाक्य ग्रीस के डल्फी नगर में अपोलो मन्दिर के द्वार पर उत्कीर्ण किया हुआ है।

जिस प्रकार जैनधर्म ने इस विश्व के ऊपर किसी कल्पित अमानवीय शक्ति का नियमन स्वीकार नहीं किया, बल्कि हर प्राणी में पूर्णता प्राप्त करने की शक्ति को स्वीकार किया है और जो अपने प्रयत्नों द्वारा इस पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें ही अर्हन्त, जिन माना है। ठीक इसी प्रकार पाइथोगोरियन सम्प्रदाय में भी जो व्यक्ति अपने सम्यक् जीवन द्वारा पूर्ण पुरुष बन जाते हैं, वे दिव्य पुरुष (Theodidactoi) कहलाते हैं। उनकी यह दशा अमरत्व, ज्ञान, प्रेम और पूर्णता की दशा कहलाती है और यही उनका निर्वाण कहलाता है।

इस सम्प्रदाय में जीव-दया को सम्यक् जीवन के लिये अनिवार्य माना है। मौनव्रत पालकर इस सम्प्रदाय के साधु तप करते हैं। मांसा-हार और द्विदल भक्षण का भी इस सम्प्रदाय में निषेध है।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय पर निश्चय ही जैनधर्म की अहिंसा और

1—Man know thyself and become Divine.

दूसरे सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव रहा है।

पाइथौगोरस के अतिरिक्त एक और यूनानी तत्ववेत्ता भ० महावीर के समय भारत में आया था, जिसका नाम पैरेहो (Pyrrho) था, वह श्रमणों के तत्वज्ञान के सम्पर्क में आया था। और उसने उससे प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों में स्याद्वाद का अनुकरण किया था।

चीनी तत्ववेत्ता—महावीर ने अहिंसा की जो क्रान्ति चलाई थी, वह पर्वतों और समुद्रों को लांघकर चीन देश में भी जा पहुँची। भ० महावीर के कुछ समय बाद होने वाले चीनी सन्त लाओत्जे और फूत्जे कुँग के सिद्धान्तों का जैनधर्म के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ये सिद्धान्त बहुत अंशों में जैन-धर्म की देन हैं। उनके निर्मांस-भोजन, जीव दया और साधु के आचारों में जैन मान्यताओं की स्पष्ट झलक है।

प्रो० कोक का मत है कि चीनी तुर्किस्तान के गुहामन्दिरों में जैनधर्म सम्बन्धी चित्र भी उपलब्ध होते हैं।[१]

अन्य देशों में जैन अहिंसा की गूंज

इतिहासज्ञ विद्वान् यह भी स्वीकार करते हैं कि मौर्य सम्राट् सम्प्रति (अशोक के पौत्र) ने जैन श्रमणों को धर्म-प्रचार के लिये अफगानिस्तान, अरब और ईरान भेजा था।[२] एक समय जैन श्रमण रूम, यूनान और नार्वे तक गये थे। डुबोई[३] और फर्लांग[४] का मत

१—N. C. Mehta (Studies in Indian Painting p. *2*)

२—परिशिष्ट पर्व

३—Dubois (Descriptions of the people of India-Intro: 1817)

४—J. G. R. Furlong (Short studies in Science of Comparative Religion (1897) p. 67)

है कि एक समय सारी मध्य एशिया में जैनधर्म फैला हुआ था।

ईसाई धर्म के संस्थापक महात्मा ईसा जैनधर्म से कितने प्रभावित थे, यह हम प्रसिद्ध यहूदी लेखक श्री जोजफ्स का एक उद्धरण देना ही पर्याप्त समझते हैं—

म० ईसा

'पूर्वकाल में गुजरात प्रदेश द्राविड़ों के अधिकार में था और गुजरात का पालीताना नगर तामिल नाड्डू प्रदेश के आधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जाकर भी यहूदियों ने पालीताना के नाम पर ही पैलेस्टाइन नामक नगर बसाया था। गुजरात का पालीताना जैनों का प्राचीन तथा प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। प्रतीत होता है कि ईसूखिस्ट ने इसी पालीताना में जाकर बाइबिल में वर्णित ४० दिन के जैन उपवास द्वारा जैन शिक्षा प्राप्त की थी।'[१]

यदि उक्त विवरण सही है तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि महात्मा ईसा ने जैन शिक्षाओं को ही अपने साँचे में ढालकर आलंकारिक ढंग से जनता के समक्ष रक्खा। उनका सुप्रसिद्ध गिरि प्रवचन (Sermons on the mountain) तथा पीटर, एण्ड्रू, जेम्स और जॉन नामक शिष्यों को दिये गए उपदेश वस्तुतः जैन सिद्धान्तों के अत्यधिक निकट हैं। उन्होंने कहा—

'धन्य हैं वे, जिनकी आत्मा निरभिमान है क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।'

'धन्य हैं वे, जो दुःख और पश्चाताप करते हैं, क्योंकि वे शान्ति पावेंगे।'

'धन्य हैं वे, जो दयावान हैं क्योंकि उन पर दया की जायगी।'

'बुरे का सामना न कर। किन्तु जो तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़

१—Bombay Samachar 21st May of 1931.

लगाता है, उसकी ओर बाँया गाल भी कर दे। जो तुझ पर नालिश करके कुर्ता लेना चाहे, उसे दोहर भी लेने दे।

'अपने बैरी से प्रेम रख और सताने वालों के लिये प्रार्थना कर।'

'यदि तू बुरी नीयत से किसी स्त्री की ओर देखता है तो तू उससे व्यभिचार कर चुका। यदि तुझे एक आँख ठोकर खिलाती है तो अच्छा है, तू उसे निकाल दे, जिससे सारा शरीर तो नरक में जाने से बच जाय।'

'तुम परमेश्वर और धन दोनों की सेवा नहीं कर सकते। इसलिये तू अपने खाने पीने की चिन्ता न कर।'

'तुमने सेंत पाया है और सेंत दो। मार्ग के लिये न दो कुर्ते, न झोले और न लाठी रक्खो क्योंकि मजदूर को अपना भोजन मिल जाना चाहिये।'

ये शिक्षाएँ जैन अणुव्रतों की भावना के अनुरूप ही हैं। इसका कारण यही है कि ईसा ने जैन श्रमणों के निकट रहकर शिक्षा पाई थी।[1]

ईसाई लेखकों[2] ने परिग्रह-त्याग पर जोर देते हुये लिखा है—

'क्योंकि हम जिन्होंने भविष्य की चीजों को चुन लिया है, यहाँ तक कि हम उनसे ज्यादा सामान रखते हैं, चाहे वे फिर कपड़े लत्ते हों या दूसरी कोई चीज, पाप को रक्खे हुये हैं क्योंकि हमें अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिये। हम सबके लिये परिग्रह पाप है। जैसे भी हो, वैसे इनका त्याग करना पापों को हटाना है।'

१—विश्व-कोष (सं० श्री नगेन्द्रनाथ वसु) भाग २ पृ० १२८

२—Clementine Homillies (by Appossol Peter)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा और उनका प्रतिपादित धर्म वस्तुतः अहिंसक क्रान्ति से प्रभावित रहे हैं और इन्होंने जैनधर्म को अपने रूप में स्वीकार कर लिया था।

अहिंसक क्रान्ति का हजरत मुहम्मद और उनके इस्लाम धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो कहना कठिन है। किन्तु फिर भी हजरत मुहम्मद ने रहम (अहिंसा) की कितनी प्रतिष्ठा की, यह निम्न उल्लेखों से स्पष्ट है।

हजरत मुहम्मद

'(अय मुहम्मद !) हमने तुझे नहीं भेजा, बल्कि सम्पूर्ण प्राणधारियों के लिये रहम (अहिंसा) भेजा है।'[१]

'स्वयं हजरत लोगों से कहा करते थे—मनुष्यों ! मैं रहमत हूँ, जो तुम्हारे पास भेजा गया हूँ।'[२] (Narrator Abu Salch)

'अहोद के युद्धक्षेत्र में शत्रुओं के तीरों और पत्थरों की बौछार से घायल होकर मुहम्मद सा० दम तोड़ रहे थे। ऐसी दयनीय दशा में उनके साथियों ने अविश्वासी शत्रुओं को शाप देने का उनसे आग्रह किया। किन्तु उन्होंने शाप देने से इनकार कर दिया और कहा—'मैं शाप देने नहीं भेजा गया हूँ, बल्कि मैं रहमत बनाकर भेजा गया हूँ। ऐ खुदा ! तू मेरे इन अज्ञ मनुष्यों को मार्ग दिखा क्योंकि वे मुझे नहीं जानते[३]।'

कुरान का प्रत्येक अध्याय भी अर्रहमान- अर्रहीम शब्दों से प्रारम्भ होता है, जिसका आशय है कि खुदा इस दुनिया के बनाते समय भी

१—कुरान २१ पृ० २६

२—Ibid 9 pp. 187-8

३—Q. Md. Sulaiman in Rahmat—Al-Lil-Alamina vol 1 p. 114

दयालु थे और बनाने के बाद व्यक्ति के कृत्यों का विचार करते समय भी दयालु रहते हैं[1]।

हदीसों के ढाई लाख पृष्ठों में ह० मुहम्मद के लिये या उनके सम्बन्ध में रहमत (दयालु) और रहम (दया) का प्रयोग हजारों स्थलों पर हुआ है। यदि इसे छोड़ भी दें, तबभी केवल कुरान में ही इन शब्दों का प्रयोग ४०९ बार हुआ है।[2] इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि ह० मुहम्मद दया और अहिंसा को कितना महत्व देते थे। यहाँ तक कि वे किसी के प्रति अपशब्द, अश्लील और असभ्य बात तक नहीं कहते थे। इस बात का वर्णन मलिक के पुत्र अनास, आयशा, अमर के पुत्र अब्दुल्ला आदि ने किया है।

पशु-पक्षियों के प्रति मुहम्मद सा० कितने दयालु थे, यह शिकारी की उस घटना से ज्ञात हो जाता है, जिसमें मुहम्मद सा० ने हिरणी को अपने बच्चे को दूध पिलवाने के लिये छुड़वा दिया था और अपनी जान को अमानत रखकर शिकारी को विश्वास दिलाया था कि हिरणी अपने बच्चे को दूध पिलाकर फिर वापिस आजायगी। जीव-दया का इससे सुन्दर उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिल सकेगा। मुहम्मद सा० की अहिंसा के प्रति अगाध निष्ठा का ही यह परिणाम था कि हिरणी अपने बच्चे को दूध पिलाये बिना, उससे केवल मिलकर ही लौट-आई।

विद्वानों की मान्यता है कि मुहम्मद सा० ने कुर्बानी का उपदेश नहीं दिया था। इस्लाम में कुर्बानी-प्रथा का प्रारंभ संभवतः इब्राहीम के समय से हुआ है।

—Mohammad Ali's Translation of Koran foot note 3.

2—Mohammad, in Ancient Scriptures by U. Ali vol. 1 p. 35

कुछ अहिंसक आन्दोलन

जगत् के विभिन्न भागों में समय-समय पर अहिंसक आन्दोलन होते रहे हैं। किन्तु एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में केवल जैनधर्म ही ऐसा सम्प्रदाय रहा है, जिसने आचार और विचार दोनों ही क्षेत्रों में अहिंसा की आवश्यकता पर बल दिया है। और हिंसा को किसी भी रूप में प्रश्रय देने का सदा निषेध किया है। उसकी अहिंसा सम्बन्धी मान्यता में अहिंसा सम्बन्धी उच्च नैतिक आदर्शों पर ही न केवल बल दिया गया है, बल्कि उन आदर्शों की प्राप्ति के लिये उच्च नैतिक जीवन-व्यवहार और सर्व-प्राणी-समभाव की नैतिक मान्यता को भी अत्यन्त अनिवार्य बताया है। शुद्ध साध्य का साधन भी शुद्ध ही होना चाहिये, इस सिद्धान्त की स्वीकृति ही जैनधर्म की अहिंसक मान्यता का आधारभूत तथ्य है।

जैनधर्म की तरह अन्य अनेकों धार्मिक सम्प्रदायों ने भी अहिंसा के प्रति अपनी गहरी आस्था प्रगट की है, किन्तु उनकी यह आस्था जीवन व्यवहार की मान्यताओं में अधिक दूर तक न चल सकी, विशेषतः आहार विषयक उनकी मान्यतायें अहिंसक आस्था के साथ सामञ्जस्य न कर सकीं। और इसलिये उनकी अहिंसा सर्वजीव-समभाव का रूप कभी ग्रहण न कर सकी। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अहिंसा सम्बन्धी गम्भीर अनुशीलन से हम इस परिणाम पर पहुँचने को विवश हो जाते हैं कि उनका दृष्टिकोण मानव-हित तक ही सीमित रहा। यदि मानव हित के लिये किसी प्राणी का वध आवश्यक हो तो उसे करने में उनको कोई आपत्ति नहीं। इस तरह उनकी अहिंसा सर्वाङ्ग सम्पूर्ण न रहकर एकाङ्गी बनकर रह जाती है। उनके विश्वास के अनुसार चरम ध्येय से साधन का निकटतम सम्बन्ध आवश्यक नहीं रह जाता। उनकी धारणा

है कि साधन के औचित्य का आधार साध्य है। यदि साध्य वांछनीय है तो जो भी साधन साध्य-प्राप्ति में उपयोगी हो, वह उचित है। जबकि दूसरी ओर जैनधर्म में साधन की शुद्धता पर ही साध्य की शुद्धता निर्भर मानी है।

धार्मिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त भी विभिन्न देशों में अहिंसक आन्दोलन समय-समय पर होते रहे हैं। इन आंदोलनों के प्रणेता विभिन्न व्यक्ति या संस्थायें रही हैं। कुछ प्रभावशाली लेखक या सन्त भी हुए हैं, जिन्होंने अहिंसा के प्रति अपनी गहरी निष्ठा प्रगट करके अहिंसा के प्रसार में सहायता दी है। इनमें से सबका परिचय देना तो संभव नहीं है, किन्तु कुछ का परिचय यहाँ देना उचित होगा।

प्राचीन तथा मध्यकालीन कुछ ईसाई संस्थाओं ने युद्ध में किसी प्रकार का सहयोग देने से इनकार कर दिया था। उनका विश्वास था

ईसाई लेखक और संस्थायें

कि युद्ध एक बुराई है और उस बुराई से कोई समझौता नहीं हो सकता। इन संस्थाओं में अल्बि-जेन्सेज, वाडोइ, लॉलार्ड्स, पार्लाशियन्स, मेनोनाइट्स उल्लेख योग्य हैं।

सोलहवीं शताब्दी में इरैस्मस नामक लेखक ने हिंसा की बुराइयों की ओर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया। इस शताब्दी की कुछ अनाबैप्टिस्ट संस्थायें हिंसा का विरोध कर रही थीं। राज्य का आधार हिंसा है, इस कारण वे राजकीय कार्यों में कोई भाग नहीं लेती थीं, मुकदमों और राजनैतिक कामों से भी अलग रहती थीं। इन मान्यताओं के कारण राज्य के हाथों इन लोगों को बड़ी यातनाएँ उठानी पड़ीं। कुछ समय बाद इनमें से कुछ संस्थायें समाप्त हो गई और शेष अमेरिका में चली गई।

यह शान्तिप्रिय लोगों का विख्यात संगठन है। क्वेकर्स की एक विख्यात सोसाइटी आफ फ्रेण्ड्स की स्थापना सन् १६६० में जार्ज फाक्स ने की थी। क्वेकर्स युद्ध के विरोधी होते हैं।

क्वेकर्स

उनका विश्वास है कि शान्ति बनाये रखने के लिये सेना सम्बन्धी कार्यों से पृथक् रहना चाहिये और आपसी झगड़ों का फैसला पंचायतों द्वारा कर लेना चाहिये।

क्वेकर्स आदर्शों पर आधारित एक अहिंसक राज्य की स्थापना सन् १६८२ में पैनसिलवेनिया के पेन और रैट इण्डियन्स की सन्धि के फलस्वरूप हुई। दोनों में यह सन्धि हुई कि

एक अहिंसक राज्य की स्थापना

'दोनों का व्यवहार और सब काम प्रेम से होगा कोई एक दूसरे से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं करेगा। दोनों शरीर के दो अंगों की तरह रहेंगे। दोनों के आपसी झगड़ों का फैसला एक पंचायत से कर लिया करेंगे। यह राज्य ७० वर्ष तक निर्बाध चलता रहा। किन्तु इसके बाद कुछ ऐसी घटनायें हो गई, जिनसे इसका चलना कठिन हो गया। उनमें से एक घटना तो यह हुई कि निकटस्थ फ्रांसीसी उपनिवेश के साथ झगड़ा होने पर पैनसिलवेनिया के गवर्नर को सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी, जो कि क्वेकर्स सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। दूसरी यह कि बहुत से गोरे आ गये, जिससे क्वेकर्स का बहुमत न रह सका। फिर भी ७० वर्ष तक एक राज्य का संचालन अहिंसा द्वारा संभव हो सका, यह एक अपूर्व प्रयोग था।

यह एक शान्तिप्रिय और अहिंसावादी रूसी सम्प्रदाय है। ये निरामिषभोजी हैं, और सब प्रकार की हिंसा के विरोधी हैं। उनके आचार विचार बहुत कुछ सन्यासियों जैसे हैं। अपने अहिंसक विश्वासों के

कारण उनको दो शताब्दियों से विभिन्न राज्यों से बड़ी यातनायें उठानी पड़ी हैं। सैनिक सेवा से इनकार करने पर रूसी सरकार ने उन पर निर्मम अत्याचार किये। तब उनमें से बहुत से सन् १८९९ में कनाडा भाग गये, किन्तु अत्याचारों और उनके दुःखों का अन्त यहाँ भी न हो पाया। उन पर कनाडा की सरकार कुपित रही। सामूहिक खेती से और सेना में भर्ती होने से इनकार कर देने के कारण रूस की कम्यूनिस्ट सरकार ने भी उन पर बड़ी सख्तियाँ कीं। किन्तु बराबर कष्ट उठाकर भी ये लोग अपने विश्वास को छोड़ने के लिये किसी प्रकार तैयार नहीं।

दूखोबार्स

इस शताब्दी में प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् सन् १९१९ से युद्ध विरोधी शान्ति-आन्दोलन जोर पकड़ गया है। इसके लिये सारे विश्व में वार रैजिस्टर्स इण्टरनेशनल की शाखायें स्थापित की गईं। इसका उद्देश्य संसार में शान्ति बनाये रखना, युद्ध को हर हालत में टालना और झगड़ों का निपटारा पंचायतों द्वारा करना था। किन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध के समय फासिज्म के कारण जनतन्त्रवाद को गहरा धक्का लगने पर इस अन्दोलन को गहरी क्षति पहुँची। और इस आदोलन के कई अग्रगण्य नेता तक, जिनमें स्व० रोमारोलां, बर्ट्रैण्ड रसेल प्रमुख हैं, यह समर्थन करने लगे कि प्रजातन्त्रवादी राज्यों को प्रचुर मात्रा में सैनिक सामग्री रखनी चाहिये।

युद्ध-विरोधी आन्दोलन

द्वितीय विश्व-युद्ध के द्वारा जो भीषण जन और धन हानि हुई, उसके कारण सारे संसार की जनता युद्ध की अवांछनीयता को अनुभव करने लग गई और सबके दिल से शान्ति की पुकार उठने लगी।

राज्यों की आक्रामक राजनीति के फलस्वरूप युद्ध की आशंका निरन्तर बढ़ती जा रही है और वैज्ञानिक प्रगति ने युद्ध की भीषणता और विनाशक रूप को अधिक बढ़ा दिया है। इससे भी शान्ति की चाह को बल मिला है। फलतः शान्ति की पुकार प्रबल हो गई है और शान्ति-आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय रूप में चलने लगे हैं। किन्तु धीरे-धीरे ये आन्दोलन राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के साधन बनते जा रहे हैं। युद्ध के संचालक ही शान्ति आन्दोलनों के संचालक या प्रेरक बन बैठे हैं और शान्ति-आन्दोलन शक्ति-गुटों के रूप में बंट गये हैं। इससे शान्ति-आन्दोलन वस्तुतः सन्देहजनक और प्रचारात्मक बन गये हैं। विश्व में शान्ति स्थापना के उद्देश्य को इससे गहरा धक्का लगा है।

वस्तुतः ये शान्ति आन्दोलन अपने मूल रूप में ही प्रभावहीन और असफल रहे हैं। ये सदा निषेधात्मक रहे हैं अथवा प्रचारात्मक। इन आन्दोलनों के संचालकों ने कभी तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया कि वैयक्तिक और सामूहिक जीवन से जबतक हिंसा को दूर करने का प्रयत्न नहीं होता, तब तक युद्धों का निराकरण बिलकुल असंभव है।

बीसवीं शताब्दी इतिहास में सदा अमर रहेगी, क्योंकि इस शताब्दी में अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ अपूर्व और सफल प्रयोग हुए। यह

राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का सफल प्रयोग

विश्वास सदा से चला आया है कि अहिंसा सार्वत्रिक और सार्वकालिक सम्पूर्ण समस्याओं का एकमात्र समाधान है। उसका प्रयोग भी विभिन्न परिस्थितियों में सफलता पूर्वक किया जाता रहा है, उससे वैयक्तिक, आर्थिक, सामाजिक सभी समस्याओं का समाधान भी मिलता रहा है। किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष की निःशस्त्र और निर्बल जनता को अंग्रेजों की राजनैतिक

दासता से मुक्ति दिलाने के लिए महात्मा गान्धी ने अहिंसा का प्रयोग किया और उसमें वे सफल हो गये। तबसे विश्व-इतिहास में अहिंसा को भी विश्व-शान्ति तथा दूसरी समस्याओं के हल के लिये एक विकल्प स्वीकार किया जाने लगा है।

निश्चय ही अहिंसा का यह महान् दर्शन म० गान्धी को जैन संस्कारों की विरासत के रूप में मिला था। अहिंसा की ओर उनके झुकाव का प्रारम्भ विलायत जाते समय मद्य, मांस और पर स्त्री-सेवन के त्याग रूप उस प्रतिज्ञा से हुआ था, जो इनकी धर्म परायण 'जैन' माता ने उनसे कराई थी। माता के प्रति उनकी भक्ति और अपनी प्रतिज्ञा के प्रति उनकी निष्ठा से यह संभव हो सका कि विलायत में अपने विद्यार्थी जीवन में वे इन पापों से बच सके, बल्कि सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि यह प्रतिज्ञा उनके जीवन में एक गहरा प्रभाव छोड़ गई और यह उनके जीवन का संस्कार बन गई।

इसके पश्चात् इग्लैण्ड से वापिस आने पर गान्धी जी बम्बई के जौहरी और प्रसिद्ध जैनश्रावक कवि राजचन्द्र के सम्पर्क में आये और उनके गंभीर शास्त्रज्ञान, निर्मलचरित्र और आत्मदर्शन की उत्कण्ठा से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने गान्धी जी की सत्य-धर्म की जिज्ञासा का समाधान किया तथा आगे भी बहुत अवसरों पर धार्मिक और नैतिक उलझनों में गान्धी जी का पथ-प्रदर्शन किया[1]। उनके सम्पर्क ने गान्धी जी को अहिंसा में दृढ़ विश्वास करने वाला बना दिया।

इसके बाद गाँधी जी ने अहिंसा के परम्परागत तत्व दर्शन का एक प्रकार से नव-संस्करण किया। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने जीवन

१—आत्म कथा भाग २ अ० १

के प्रत्येक क्षेत्र में अहिंसा के उपयोग की संभावना की छानबीन की है और उसका उपयोग देशव्यापी जन-आन्दोलनों में किया है। उनके शब्दों में 'अहिंसा सब परिस्थितियों में कारगर सार्वभौम नियम है। उसका त्याग विनाश का सबसे अधिक निश्चित मार्ग है[1]।' उनके राजनैतिक विचार और राजनैतिक प्रतिरोध की सत्याग्रही पद्धति उनके धार्मिक विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों के निष्कर्ष हैं।

अहिंसा को गान्धी जी, केवल व्यक्तिगत आचरण की चीज नहीं मानते। उनका तो कहना है कि 'मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है। केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है, वह पिण्ड भी है और ब्रह्माण्ड भी, वह अपने ब्रह्माण्ड का बोझ अपने कन्धों पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खतम हो जाता है, वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है और आज भी कर रहा है[2]।'

गान्धी जी की मान्यता है कि साध्य की तरह साधन भी शुद्ध होने चाहिये। उनके शब्दों में 'साधन बीज है और साध्य वृक्ष। इसलिये जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। शैतान की उपासना करके मैं ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकता[3]।'

गाँधी जी अहिंसा के व्यावहारिक और सामूहिक प्रयोग के लिए सत्याग्रह को आवश्यक मानते थे। सत्याग्रह शब्द गाँधी जी ने दक्षिण

१—हरिजन १६-७-१६३६-पृ० २०१

२—जुलाई १६४० में गान्धी सेवा संघ की सभा में दिया गया भाषण

३—हिन्द-स्वराज्य पृ० १२६

अफ्रीका में वहाँ की सरकार के विरुद्ध भारतवासियों के अहिंसक प्रतिरोध के सच्चे रूप का परिचय कराने के लिये गढ़ा था। उनकी दृष्टि में सत्याग्रह केवल अहिंसक प्रतिरोध के विभिन्न रूपों-असहयोग, सविनय आज्ञा-भंग, उपवास, घरना आदि तक ही सीमित नहीं है। बल्कि उनके मन में 'सत्याग्रह सत्य के लिए तपस्या है।'[1] वह 'सत्य की, प्रतिपक्षी को कष्ट देकर नहीं, स्वयं कष्ट सहकर रक्षा है।'[2] वास्तव में वे अहिंसक प्रतिरोध को नागरिक का वैध अधिकार मानते थे। वे सत्याग्रह को उसके व्यापक अर्थ में लेते थे और सामूहिक झगड़ों का जिस प्रकार सफल उपाय समझते थे, उसी प्रकार वे इसका प्रयोग दैनिक जीवन के व्यवहार में करने पर जोर देते थे। उनके मत से 'सार्वजनिक सत्याग्रह व्यक्तिगत या घरेलू सत्याग्रह का प्रसार या विस्तृत रूप है और सार्वजनिक सत्याग्रह को वैसे ही घरेलू मामले की कल्पना करके परखना चाहिए।[3] सत्याग्रह का उद्देश्य अन्यायी को दबाना, हराना, दण्ड देना या हानि पहुँचाना और परेशान करना नहीं है। बल्कि विरोधी का हृदय परिवर्तन करना और उसमें न्याय-भावना जाग्रत करना ही उसका ध्येय होता है। अहिंसक, युद्ध का अन्त समझौते में होता है। इस रूप में सत्याग्रही एक पक्ष की विजय के लिए, दोनों पक्षों की विजय के लिए लड़ता है। सत्याग्रह की एक महत्वपूर्ण शाखा और कष्ट सहन का एक प्रकार अहिंसात्मक असहयोग है। गाँधी जी ने एक बार मिस अगैथा हैरीसन से कहा था—'यद्यपि असहयोग अहिंसा के अस्त्रागार में प्रमुख

१—यंग इण्डिया भाग २ पृ० ८३८

२—स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी मद्रास १९२८

३—यंग इण्डिया भाग २ पृ० ८२१

अस्त्र है, पर यह न भूलना चाहिए कि वह सत्य और न्याय के अनुसार विरोधी के सहयोग प्राप्ति का साधन है।'[1] सत्याग्रह के अस्त्रागार का अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ शक्ति वाला अस्त्र उपवास है। असहयोग में सत्याग्रही विरोधी की ओर से आया हुआ कष्ट सहन करता है। उपवास सत्याग्रही द्वारा स्वयं निर्धारित कष्ट सहन है। इस प्रकार गाँधी जी ने सामूहिक आन्दोलनों में सत्याग्रह को एक मनोवैज्ञानिक और युक्तियुक्त रूप प्रदान करके अहिंसक प्रतिरोध का एक नवीन अस्त्र संसार को दिया है।

गाँधी जी किसी भी दशा में किसी राष्ट्र द्वारा अपने देश पर, किसी दुष्ट द्वारा अपने ऊपर या किसी गुण्डे द्वारा मा बहन पर आक्रमण होने पर भी हिंसा के विरोधी थे। उनका दृढ़ मत था कि 'यदि कोई दुष्टता से आक्रमण करता है तो फिर बिना मारे मरना सीखो। कायरता और अहिंसा एक वस्तु नहीं है। शौर्य की आत्यंतिकता का ही दूसरा नाम अहिंसा है। शौर्य की परमावधि का ही दूसरा नाम अहिंसा है। कायरता का नाम अहिंसा हरगिज नहीं है। सम्पूर्ण निर्भयता में ही अहिंसा संभवित हो सकती है। और जो अत्यन्त शूर है, वही अत्यन्त निर्भय हो सकता है। असावधानी और अभय से अलग-अलग चीजें हैं। जिसके सामने भय उपस्थित है, पर निर्भय है, वही परम शूर है, वही अहिंसावादी है।'[2]

वास्तव में गाँधी जी ने अहिंसा का उपयोग राजनैतिक क्षेत्र में सरलतापूर्वक करके अहिंसा की महान् शक्ति का विश्व के समक्ष उद्घाटन किया और अपने अगाध विश्वास तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व

१—हरिजन २६-४-३६ पृ० १०१

से संसार को अहिंसा के सम्बन्ध में सोचने विचारने को बाध्य कर दिया। इस युग में विश्व-शान्ति के लिए अहिंसा की जो चर्चा होती है, वह निस्सन्देह गाँधी जी के कारण ही। यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने अहिंसा के परम्परागत भारतीय विश्वास का ही समर्थन किया था और किसी नये सिद्धान्त की कल्पना नहीं की थी। हाँ! अहिंसा सम्बन्धी उनका चिन्तन अत्यन्त गम्भीर था और उसके प्रयोग की विधि अपूर्व थी।

—२—

अहिंसा के उन्नायक तीर्थंकर

सारे जैन तीर्थङ्कर अहिंसामूलक धर्म का ही उपदेश करते हैं। उनके सिद्धान्तों में किसी प्रकार का मौलिक अन्तर नहीं होता। किन्तु फिर भी सभी तीर्थङ्करों के काल में परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं और उन परिस्थितियों में वे लोक-कल्याण के लिए धर्म के किसी एक पहलू पर विशेष जोर देते हैं अथवा समस्याओं के समाधान की पद्धति उनकी अलग-अलग होती है। भगवान ऋषभदेव के काल में यज्ञयागादि का नाम तक न था किन्तु भगवान् महावीर के काल में यज्ञ-यागादि का प्राबल्य था। ऐसी स्थिति में यज्ञ-यागादि की हिंसा को दूर करने के लिए अहिंसा पर जितना बल भ० महावीर को देना था, उतना भगवान् ऋषभदेव को नहीं। यद्यपि अहिंसा का उपदेश दोनों ने ही दिया था। इससे उनकी अहिंसा में अन्तर नहीं पड़ा, केवल उनके समय की क्या परिस्थितियाँ थीं, इस बात पर प्रकाश पड़ता है।

हम यहाँ केवल चार तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में ही परिचय देना पसन्द करेंगे, जिनके काल में परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न थीं। हम इन परिचयों से यह जान सकेंगे कि उन परिस्थितियों में उन महापुरुषों ने अहिंसा का किस प्रकार सफल प्रयोग किया था। ये चार तीर्थङ्कर हैं—भगवान ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर। हमारी इच्छा थी कि हम यहाँ सभी तीर्थङ्करों का परिचय विस्तार से देते, किन्तु

अहिंसा के दृष्टिकोण से केवल इन चार तीर्थङ्करों का ही विस्तृत परिचय हमें मिल सका।

जैन मान्यता[1] है कि भरत खण्ड में एक समय ऐसा था, जब मानव सभ्यता विकसित नहीं हो पाई थी। तब जो संस्कृति वहाँ पर थी, वह एक प्रकार से वन-संस्कृति थी। वहाँ विभिन्न प्रकार के वृक्ष होते थे, जिन्हें कल्पवृक्ष कहा जाता था। लोग उनसे ही अशन वसन, पान, प्रकाश सब कुछ पाते थे। इस समय प्रकृति का कुछ ऐसा वैचित्र्य था कि माता के गर्भ से दो बालक युगल ही उत्पन्न होते थे, एक पुत्र और दूसरी पुत्री। युवावस्था में ये दोनों पति-पत्नी के रूप में रहने लगते थे। इन दिनों लोगों के मानस पवित्र थे, पाप-कर्म वे जानते तक न थे; धर्म का उन्हें बोध न था। वह समय *भोग-भूमि-युग* कहलाता था।

भगवान् ऋषभदेव

किन्तु भोग-भूमि का यह युग समाप्त हो रहा था। कल्पवृक्ष कम होने लगे थे। व्यक्तियों की आवश्यकताएँ पूरी न हो पाती थीं। इस समय के व्यक्तियों में जो प्रमुख और समझदार मनुष्य होते थे, वे मनु कहलाते थे। वे मनुष्यों की कठिनाइयों का समाधान करते थे। ऐसे मनु चौदह हुए। चौदहवें मनु का नाम नाभिराय था और उनकी पत्नी का नाम था मरुदेवी। वे अयोध्या नगर के अधिपति थे।

नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव हुए। गर्भ में आने से छः मास पूर्व इन्द्र ने नाभिराय के महलों में हिरण्य वृष्टि की थी। अतः उनका नाम

1—आदि पुराण। समवायाङ्ग सूत्र। आवश्यक सूत्र। स्थानाङ्ग सूत्र। जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति। कल्पसूत्र। त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र। तिलोय-पण्णत्ति आदि।

हिरण्यगर्भ हो गया। माता मरुदेवी ने उनके गर्भ में आने के समय स्वप्न में देखा कि एक विशाल बैल उनके मुख में घुस गया है। इससे आगे चलकर ऋषभदेव का लाक्षणिक चिन्ह वृषभ (बैल) हो गया। और नाम भी इसीलिए ऋषभदेव रक्खा गया। उनका विवाह कच्छ और सुकच्छ की पुत्रियों-यशस्वती और सुनन्दा के साथ हुआ। यशस्वती से भरत आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री हुई। सुनन्दा से बाहुबलि पुत्र और सुन्दरी पुत्री हुई।

कल्पवृक्षों की संख्या और शक्ति अब और भी घट गई। आवश्यकताओं की पूर्ति न होने से जनता में कुछ विवाद भी उत्पन्न होने लगे। उदर-पूर्ति कठिन होने लगी, तब जनता नाभिराय के पास उपाय पूछने आई। उन्होंने जनता को ऋषभदेव के पास भेज दिया। ऋषभदेव ने लोगों को बताया-अब भोगभूमि का युग समाप्त हो गया है, कर्मभूमि का युग प्रारम्भ हो रहा है। अबतक आप लोगों को वृक्षों से इच्छित पदार्थ मिल जाते थे, किन्तु अबसे आप लोगों को कार्य करने पड़ेंगे, तभी उदर-पूर्ति हो सकेगी। उदर-पूर्ति के लिये उन्होंने सर्व प्रथम अपने आप उगे हुए इक्षुओं का रस निकालकर पीना सिखाया। इससे वे इक्ष्वाकु कहलाने लगे और उनका वंश इक्ष्वाकुवंश।

जनता कोई भी कार्य करना नहीं जानती थी, अतः ऋषभदेव ने स्वयं लोगों को असि (शस्त्र निर्माण और उसके प्रयोग की विधि) मषि (अक्षर बोध) कृषि (खेती, बागवानी) विद्या (नृत्य गानादि कलायें) वाणिज्य (द्रव्यों का क्रय-विक्रय) और शिल्प (भवन-वस्त्र आदि का निर्माण) ये छः कर्म सिखाये। गाँव, पुर, पत्तन, नगर आदि निर्माण कराये। कर्मों के आधार पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विभाग किये। राज्य-शासन और शासन की पद्धति बताई। सारांशतः ऋषभ-

देव ने सर्व प्रथम कर्म का प्रवर्तन किया। अतः प्रजापति कहलाये।

उन्होंने अपने पुत्रों को विभिन्न विद्याओं में पारंगत किया। दोनों पुत्रियों को स्वयं शिक्षित किया। एक दिन दोनों पुत्रियाँ उनकी गोद में बैठी थीं। ब्राह्मी बाईं जांघपर और सुन्दरी दाईं जांघ पर बैठी थी। उन्हें पढ़ाने के लिये ऋषभदेव ने लिपि और अंकविद्या का आविष्कार किया। ब्राह्मी का हाथ पकड़कर उन्होंने बांये से दांये ओर को लिखाया। वह विद्या लिपि विद्या कहलाई। सुन्दरी का हाथ पकड़ कर दांई ओर से बांई ओर को लिखाया। यह विद्या अंक विद्या कहलाई। ब्राह्मी को जो लिपि सिखाई थी, वही लिपि आगे चल कर ब्राह्मी लिपि कहलाई।

कर्मों की स्थापना और प्रचलन करने के बाद ऋषभदेव ने गृहस्थ जीवन त्याग कर मुनि जीवन अंगीकार कर लिया। वे वनों में घोर तपस्या करने लगे। इस काल में उनकी जटायें बढ़ गईं। उनकी देखा देखी चार हजार व्यक्ति भी मुनि बन गये। किन्तु वे धर्म के सम्बन्ध में अनभिज्ञ थे। तप की कठोर साधना को वे सहन न कर सके और सम्राट भरत के भय के मारे वे फिर गृहस्थ जीवन भी अङ्गीकार न कर सके। अतः वहीं वन में रहकर ही वृक्षों के बल्कल पहनने और कन्द मूल फल खाकर जीवन यापन करने लगे। उन्होंने भी जटायें बढ़ालीं। बाद में इनमें से अनेक ने विभिन्न धर्मों की नींव डाली। इनमें उल्लेखनीय ऋषभदेव का पौत्र मरीचि था।

ऋषभदेव जब छः मास के उपवास के बाद आहार के लिये निकले, उस समय मुनि के योग्य आहार की विधि कोई न जानता था। अतः ऋषभदेव जिधर जाते, लोग श्रद्धावश विभिन्न उपहार लेकर आते, जो मुनि के लिये निषिद्ध थे। ऋषभदेव उन्हें स्वीकार किये बिना आगे बढ़ जाते थे। इसी प्रकार निराहार ही छः मास और बीत गये। भगवान्

इसी प्रकार विहार करते-करते हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ के राजा सोमयश का लघुभ्राता श्रेयान्स था। उसने भगवान् को आहार के लिये आते हुए देखा। देखते ही उसे पूर्व जन्म में मुनि को दिये गये आहार की विधि का स्मरण हो आया। वहीं प्रासाद में इक्षुरस रक्खा था। उसने विधिपूर्वक वह इक्षुरस देकर भगवान् को आहार कराया। प्रभाव शाली लोकनेता और आदि मुनि को प्रथम आहार देने के कारण श्रेयान्स और उस तिथि की मान्यता लोक में हो गई। श्रेयान्स दान तीर्थ का प्रवर्तक कहलाया और वह तिथि अक्षय तृतीया के नाम से पर्व बन गई।

भगवान् को तपस्या करते-करते केवलज्ञान (कैवल्य) की प्राप्ति हुई, तब उन्होंने धर्म का उपदेश देना प्रारम्भ किया। और अहिंसा की प्रतिष्ठा की। इस प्रकार धर्म के आदि पुरस्कर्ता भी भगवान् ऋषभदेव हुए। इसलिये उन्हें आदिनाथ भी कहा जाने लगा।

भगवान् जब अपनी उपदेश-सभा (समवशरण) में बैठ कर उपदेश देते थे, उस समय उनका एक चामत्कारिक रूप सबको दिखाई पड़ता था। जो जिस दिशा में बैठता था, उसे भगवान् का मुख अपनी ओर ही दीखता था। इस प्रकार चारों दिशाओं में उनके चार मुख दिखाई पड़ते थे। (सभी तीर्थङ्करों के इसी प्रकार चारों ओर मुख दिखाई देते हैं।)

भगवान् के उपदेश से लोक में अहिंसा-धर्म की बड़ी मान्यता हो गई। अन्त में भगवान् कैलाश पर्वत से माघकृष्णा १४ को मुक्त हो गये।

यह युग एक प्रकार से निर्माण का युग था। भगवान् ऋषभदेव ने कर्म और धर्म दोनों की स्थापना की थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत इस

देश के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् हुए। उन्होंने दिग्विजय करके साम्राज्य बनाने का एक नया ही प्रयोग किया और सर्वप्रथम इस देश को एक सूत्र में आबद्ध करके एक छत्र के नीचे संगठित किया। अतः उनके नाम पर इस देश का नाम भी भारतवर्ष कहलाया[1]। इस बात की पुष्टि न केवल जैन साहित्य से ही होती है, अपितु वैदिक साहित्य से भी होती है[2]।

जैन वाङ्मय में भरत को १६ वां मनु भी बताया है[3]। इसकी पुष्टि भी वैदिक साहित्य से होती[4] है। मनु वास्तव में संज्ञा न होकर एक प्रकार की उपाधि थी।

भरत के बड़े पुत्र अर्ककीर्ति से सूर्यवंश और हस्तिनापुर के प्रतापी नरेश सोमयश से सोम या चन्द्रवंश की स्थापना हुई।

वास्तव में ऋषभदेव इस परिवर्तनशील सृष्टि में इस युग के-कर्म युग के कर्म के और धर्म के संस्थापक थे। उनकी महानता और लोक व्यापी प्रभाव के कारण उनकी जीवन कथा को केन्द्र बनाकर अनेकों मान्यतायें प्रचलित हो गई। श्रद्धावश लोक ने उनके अनेक रूपों को देखा

१—आदिपुराण पर्व १५

२—वाराह पुराण अ० ७४ पृ० ४६ (नवलकिशोर प्रेस लखनऊ)
वायु पुराण अ० ३३ पृ० ५१। लिंगपुराण अ० ४७ पृ० ६८। स्कन्ध पुराण माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड अ० ३७। कल्याण-संत अंक प्रथमखण्ड वर्ष १२ सं० १ पृ० २७६ (श्रीमद्भागवत् के आधार पर)।

३—आदि पुराण ३,२३६

४—मत्स्य पुराण १४,५, वायुपुराण ४५,७६

और अनेक मान्यताओं की सृष्टि हो गई। संसार में उनके अनेक नाम प्रचलित होने का भी यही रहस्य है। वास्तव में वे अलौकिक दिव्य महापुरुष थे। उनकी हर क्रिया लोक के लिये उद्बोधक थी, अतः उनका हर रूप लोक के लिये एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व बन गया।

जैन वाङ्मय में भ० ऋषभदेव को इस युग का प्रथम तीर्थङ्कर माना है। उन्होंने जिस धर्म की पुनः स्थापना की थी, उस धर्म का नाम आर्हत धर्म या जैनधर्म था। उसका सारा ढांचा अहिंसा की नींव पर खड़ा हुआ है। अतः भगवान् ने वस्तुतः अहिंसा का ही प्रचार किया था। जैन वाङ्मय की इस मान्यता का समर्थन श्रीमद्भागवत्[1] से भी होता है। लिंग पुराण में स्पष्ट कथन हैं कि वे अपनी आत्मा में ही आत्मा के द्वारा परमात्मा की स्थापना करके दिगम्बर वेष में आहार न करते हुए रहने लगे। ऐसे समय में उनके केश बढ़ गये थे। और उनके मन से वस्त्र धारण करने का अधिकार समाप्त हो गया था। अतः वे नग्न रहते थे। आशाओं से मुक्त, सन्देह से रहित उनकी साधना उन्हें मोक्ष जाने में सहायक हुई[2]।

ऋषभदेव की मान्यता सारे लोक मानस में छा गई थी। अतः लगता है, उनके साथ दीक्षित उन तपोभ्रष्ट तथाकथित मुनियों ने तथा उनके पश्चाद्वर्ती धर्म संस्थापकों ने अपने उपास्य देवता के रूप और नाम की कल्पना भ० ऋषभदेव के असंख्य नाम रूपों में से किसी एक को लेकर कर ली और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों ने उसे ही एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व मान लिया। धीरे-धीरे उस व्यक्तित्व का वर्णन

---

१ भागवत् स्कन्ध २ अध्याय ७ श्लोक १०

२ — लिंग पुराण अ० ४७ श्लोक २२-२३

सात्त्विक और आलंकारिक शैली में किया जाने लगा। भारत में इस प्रकार का एक युग आया था, जब आलंकारिक शैली में वर्णन करने की प्रवृत्ति काफी व्यापक हो गई थी। इस युग में भ० ऋषभदेव के किसी एक रूप, एक नाम का वर्णन आलंकारिक भाषा में किया जाने लगा। धीरे-धीरे जनता उसके मर्म को भूल गई और अन्धश्रद्धा वश उस आलंकारिक वर्णन को उस स्वतन्त्र व्यक्तित्व वाले देवता का वास्तविक रूप मानना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह भ० ऋषभदेव को लेकर अनेक स्वतन्त्र देवताओं और उनके मानने वाले स्वतन्त्र धर्मों की सृष्टि हो गई।

यह विश्वास करने के कारण हैं कि भ० ऋषभदेव की मान्यता देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके विदेशों में भी व्यापक रूप से फैल गई। इस सृष्टि में (युग में) धर्म और कर्म, जीवन के सभी क्षेत्रों की प्रवृत्तियों और मानव-संस्कृति के आद्य प्रस्तोता होने के कारण ऋषभदेव को संसार के सभी देशों, व्यक्तियों और धर्मों ने अपने-अपने रूप में ग्रहण कर लिया और नाम, जैसा कि हम निवेदन कर चुके हैं, उनके विविध रूपों में से किसी एक रूप को स्वीकार करने के कारण अपनी भाषा, शैली और मान्यता के साँचे में ढाल कर स्वतन्त्र रूप से विकसित हो गये।

यदि विश्व के धर्मों की मौलिक एकता का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया जाय तो हमें विश्वास है, भ० ऋषभदेव का रूप उसमें अत्यन्त सहायक हो सकेगा। धर्मों की विभिन्नता में भी एकता खोजी जा सकती है केवल ऋषभदेव के सहारे। अनेक धर्मों के देवता मूलतः ऋषभदेव ही हैं, रूप वही हैं, नाम विभिन्न-विभिन्न हैं—

जैनों ने उन्हें ऋषभदेव, आदिनाथ, जिन, अर्हत्, तीर्थङ्कर कहा।

प्राग् आर्यकालीन भारतीयों ने उन्हें शिव, रुद्र, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा माना। वैदिक आर्यों ने उनकी उपासना अग्नि, आत्य, सूर्य, मित्र आदि के रूप में की तो पौराणिक युग में वे विष्णु के आठवें अवतार मान लिए गये। पारसियों के वे अहुरमज्द और ईसाइयों के गौड हो गये। प्राचीन मिश्रवासी उन्हें औसरिस कहते थे। अरब में वे अल्लाह, आदम बन गये तो फारसी में उन्हें खुदा कहा जाने लगा। वस्तुतः इन मान्यताओं के अनुशीलन से विश्व में एकता की उद्भावना की जा सकती है और इससे विविध धर्मों, संस्कृतियों और देशों में एकता और देशों में अभिन्नता की शक्तियों को सुदृढ़ किया जा सकता है।

शिवजी

ऋषभदेव और शिव जी एक ही व्यक्ति हैं, इस मान्यता की पुष्टि में जैन शास्त्रों में वर्णित ऋषभदेव के वर्णन और शिव के रूप की साम्यता से होती है। यह तो अब स्वीकार कर लिया गया है कि शिव जी वैदिक आर्यों के देवता नहीं थे।[१] जब वैदिक आर्य भारत में आये थे, उस समय शिव जी के उपासकों की संख्या नगण्य नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और पंजाब, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा शाखा की खुदाई में शिव जी की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि

१—*In fact Shiva and........the worship of Linga and* other features of popular Hinduism, were well established in India long-long before the Aryans came.

K. M. Pannikkar (A Survey of Indian History p. 4.)

प्राचीन काल में शिव जी की मान्यता बहुत प्रचलित थी। उन्हें शिव, महादेव, रुद्र, पिनाकपाणि आदि विविध नामों से पूजा जाता था।

ऋषभदेव किस प्रकार शिव बन गये, इसका उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। ईशान संहिता में उल्लेख है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी की महानिशा में आदिदेव करोड़ों सूर्य की प्रभा वाले शिव लिंग के रूप में प्रगट हुए।[1]

शिव पुराण में तो स्पष्ट उल्लेख है कि मुझ शंकर का ऋषभावतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा और उनका अवतार नौवाँ कहलाएगा।[2]

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋषभदेव और शिव जी एक ही व्यक्ति थे। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि शिव जी का जो रूप विकसित हुआ, उसका मूल रूप क्या था।

दिगम्बर रूप—भ० ऋषभदेव संसार से उदासीन होकर दिगम्बर मुनि बन गये और मुनि-दीक्षा लेकर वट वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये[3]। ऋषभदेव के दिगम्बर रूप की पुष्टि जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर साहित्य से भी होती है। भागवत् पुराण में ऋषभदेव का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'उनके शरीर मात्र परिग्रह बच रहा

१—माघ कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंग तयोद्भूतः कोटि सूर्य सम प्रभः॥ ईशान संहिता

२—इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गति दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तुनः॥

शिवपुराण ४-४७

३—महापुराण

था। वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी बिखरे हुए केशों सहित आहवनीय अग्नि को अपने में धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए[1]। और मलिन शरीर सहित वे ऐसे दिखाई देते थे, मानों उन्हें भूत लगा हो।

इसी पुराण में यह भी लिखा है कि तपाग्नि से कर्मों को नष्ट कर वह सर्वज्ञ 'अर्हत' हुए और 'आर्हतमत का प्रचार किया[2]।

शिव जी को भी नग्न माना है और ऋषभदेव के मलिन शरीर को प्रदर्शित करने के लिये शिव जी के देह पर भभूत लगाई दिखाई जाती है। वेदों में जिस शिश्नदेव का उल्लेख मिलता है, उसका रहस्य भी दिगम्बरत्व में ही निहित है।

जटायें—ऋषभदेव ने जब ६ माह की कठोर तपस्या की, उस समय उनके केश बढ़कर जटा के रूप में हो गये थे[3]। अब भी ऋषभदेव

१—उर्वरित शरीर मात्र परिग्रह उन्मत्त इव गगन परिधानः प्रकीर्ण केशः आत्मन्या रोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज।

भागवत्

२—भागवत पुराण ५-५

३—(अ) मेरु कूट समाकार-भासुरांशः समाहितः
स रेजे भगवान् दीर्घजटा-जाल हृतांशुमान्॥ पद्मचरित्र ४-५
(आ) ततो वर्षार्धमात्रं स कायोत्सर्गेण निश्चलः।
धरा धरेन्द्रवत्तस्थौ कृतेन्द्रिय समस्थितिः॥
वातोद्धृता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्तयः।
धूमाल्य इव सद्ध्यान वन्हि शक्तस्य कर्मणः॥
पद्मचरित पर्व ३ श्लोक २८७-२८८

की जटायुक्त प्राचीन प्रतिमायें बहुत मिलती हैं। शिवजी भी जटाजूट-धारी हैं।

नान्दी—चौबीस तीर्थङ्करों के प्रतीक चौबीस पशु-पक्षी हैं। इनके ये चिन्ह लगभग सभी जैन मूर्तियों पर अब तक मिलते हैं। इनमें ऋषभदेव का प्रतीक वृषभ (बैल) है। शिव का वाहन भी बैल (नान्दी) है।

कैलाश—ऋषभदेव ने कैलाश (अष्टापद) पर जाकर तपस्या की थी और अन्त में वहीं से उन्होंने निर्वाण (शिवपद) प्राप्त किया था। शिवजी का भी धाम कैलाश पर्वत माना गया है।

शिवरात्रि—ऋषभदेव ने माघकृष्णा चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। कैलाश पर्वत और माघकृष्णा चतुर्दशी ऋषभदेव के निर्वाण कल्याणक के स्मारक क्षेत्र और तिथि हैं। यह तिथि ही शिवजी के लिंग-उदय की तिथि मानी जाती है। कहीं-कहीं शिवरात्रि माघ कृष्णा १४ को न मानकर फाल्गुन कृष्णा १४ को मानी जाती है। यह अन्तर उत्तर और दक्षिण भारत के पंचाङ्गों के अन्तर के कारण है। उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्णपक्ष से मानते हैं और दक्षिण वाले शुक्लपक्ष से। किन्तु हिन्दू[1] शास्त्रों में माघकृष्ण १४ को ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है। फाल्गुन और माघ मास के अन्तर पर काल-माधवीयनागर-खण्ड में और भी स्पष्ट प्रकाश

१—माघे कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिव लिंगतयोद्‌भूतः कोटि सूर्य समप्रभः॥
तत्काल व्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रि-व्रते तिथिः।
ईशान संहिता।

डालकर समस्या का समाधान किया गया है कि माघमास के अन्तिम पक्ष में या फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष में जो कृष्णा चतुर्दशी है, वह शिवरात्रि है।

गंगावतरण—जैन मान्यता[1] है कि गंगानदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकल कर पहले पूर्व की ओर और फिर दक्षिण की ओर बहती है। वहाँ एक चबूतरे पर, जो गंगाकूट कहलाता है, जटाजूट मुकुट से सुशोभित ऋषभदेव की प्रतिमा है। उन पर गंगा की धारा पड़ती है, मानो गंगा उनका अभिषेक ही कर रही हो, इसी प्रकार शिवजी के बारे में मान्यता है कि गंगा जब आकाश से अवतीर्ण हुई तो शिवजी की जटाओं में आकर गिरी और वहीं बहुत समय तक विलीन रही।

त्रिशूल और अन्धकासुर—शिव जी को त्रिशूलधारी और अन्धक नामक असुर का संहारक माना जाता है। इसीलिए शिव मूर्तियों के साथ त्रिशूल और नरकपाल भी बनाये जाते हैं। दूसरी ओर ऋषभदेव ने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप त्रिशूल को धारण करके मोह रूप अन्धकासुर का विनाश किया था, इस प्रकार का वर्णन

---

1 अ—आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड मउड सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तु मणा व सा पडदि॥
तिलोय पण्णत्ति ४-२३०

आ—सिरिगिह सीसट्ठियं बुजकण्णिय सिंहासणं जडामंडलं।
जिणमभिसित्तु मणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा॥
त्रिलोकसार ५९०

स्थान-स्थान पर जैन शास्त्रों[1] में आया है। त्रिशूलधारी मूर्तियों की मान्यता जैन परम्परा में अति प्राचीन काल से रही है। इस प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा संग्रहालय और मोहनजोदड़ो में प्राप्त हुई हैं। मोहन-जोदड़ो में यह त्रिशूल ध्यानी योगी के शिर पर रक्खे दिखाये गये हैं और मथुरा की मूर्तियों में ध्यानारूढ़ व्यक्ति के चारों ओर या मूर्ति के नीचे रक्खे दिखाये हैं। वास्तव में ये त्रिशूल जैन परम्परा में मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड इन त्रिदण्ड या मन, वचन, काय की गुप्ति इन त्रिगुप्तियों के प्रतीक हैं। बौद्ध[2] साहित्य में भी जैनों के इस त्रिदण्ड का वर्णन मिलता है। उसमें एक स्थान पर बताया है—'आवुस आनन्द! पाप कर्म के हटाने के लिए निग्गंठनातपुत्त तीन दण्डों का विधान करते हैं जैसे काय-दण्ड, वचन-दण्ड, मनदण्ड।

लिंगपूजा—तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक भूमियाँ (क्षेत्र मंगल) सदा से पवित्र और इसीलिये तीर्थ भूमि मानी जाती रही हैं। ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत पर तपस्या की और वहाँ से निर्वाण प्राप्त किया फलतः कैलाश सिद्धभूमि माना गया है। निर्वाण कल्याणक मनाने के बाद जब चक्रवर्ती भरत अयोध्या लौटे तो उन्होंने कैलाश के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर ऋषभदेव की मूर्तियाँ खुदवाईं। चौराहों और राज-प्रासाद के द्वारों पर

१—शुद्धलेश्या त्रिशूलेन मोहनीय रिपुर्हतः॥ रविषेणाचार्य

तिरयण-तिसूल धारिय मोहंधासुर-कबन्ध विंदहरा।

सिद्ध सयलप्परूवा अरिहंता दुण्णय कयंता॥

वीरसेनाचार्य (धवल सिद्धान्तग्रन्थ)

२—मज्झिम निकाय (उपालिसुत्त)

भी ऐसे घण्टे टांग दिये। यहाँ तक कि उन्होंने राजमुकुट भी उसी आकार का बनवाया था[1]। कैलाश पर्वत का आकार घण्टा या लिंग की आकृति का था। लिंग का अर्थ तिब्बती भाषा में क्षेत्र[2] है। अतः लिंग-पूजा का अर्थ क्षेत्र पूजा (कैलाश पर्वत की पूजा) था। शिवानुयायी व्यक्ति भी लिंग-पूजा करते आये हैं। प्रारम्भ में इसका आशय कैलाश पर्वत की पूजा से ही रहा था। किन्तु जब शिव के अनुयायियों में कापालिकों-तान्त्रिकों का जोर बढ़ गया, तब लिंग क्षेत्र के अर्थ में न रहकर जननेन्द्रिय के अर्थ में ले लिया गया। इतना ही नहीं; उन्होंने पर्वत पर तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हुई आत्मसिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दे दिया और पुरुष-लिंग के साथ स्त्री की जननेन्द्रिय-पूजा की कल्पना कर डाली। और फिर कापालिकों के हाथों में पड़ कर शिवजी के सम्बन्ध में कल्पनाओं का जो ताना बाना बुना गया, उसमें से शिवजी का एक ऐसा भयानक रूप प्रगट हुआ, जिसके अनुसार वे अत्यन्त कामी, क्रोधी, जहर और भांग पीने वाले मान लिये गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राग् आर्यकालीन भारत में जनता शिवजी को अत्यन्त श्रद्धा के साथ पूजती थी किन्तु जनता के ये शिवजी ऋषभदेव के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं थे। ऋषभदेव को

१—महापुराण पर्व ४१ श्लोक ८७ से ९२

२—It may be mentioned here that Linga is a Tibetan word for land. The Northern most district of Bengal is called Dorje-ling (Darjieling is an English-corruption) which means Thunder's land.

S. K. Roy (Prehistoric India & ancient Egypt p. 28)

तपस्या-काल में देवाङ्गनाओं ने च्युत करने के लिये बड़ा प्रयत्न किया था किन्तु वे सफल न हो सकी थीं। ऋषभदेव ने तपस्या में अविचल रह कर कामदेव को जीत लिया था। ऋषभदेव की काम-विजय ही शिव-चरित में जाकर काम-विध्वंस बन गई। वस्तुतः कामदेव कोई व्यक्तित्व तो है नहीं, वह तो मन की विकृतियों का नाम है, जिसे कवित्व की भाषा में व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया है। इसी प्रकार शिवजी के जिस संहारक रूप और तीसरे नेत्र की कल्पना की गई है, वह वास्तव में ऋषभदेव द्वारा मोह, राग द्वेष आदि कर्म-शत्रुओं का संहार और आत्मज्ञान रूप तृतीय नेत्र का आलंकारिक वर्णन मात्र है।

वस्तुतः जनता ऋषभदेव को ही अपना उपास्य मानती रही है। उसने जिस शिव की कल्पना की, वे शिव और ऋषभदेव भी एक ही रहे हैं। इसीलिये शिव[1] महापुराण में ऋषभदेव को अट्ठाईस योगावतारों में राम और कृष्ण से भी पूर्व में माना गया है। स्वयं वेद ने भी उन्हें पशुपति[2] कहा। यद्यपि पशु का अर्थ लोक में जानवर है किन्तु ब्राह्मणों में पशु का अर्थ किया है श्री, यश, शान्ति, धन, आत्मा[3] आदि। अर्थात् ऋषभदेव इन सबके स्वामी थे। उनके आदिदेव, देवाधिदेव,

---

१—शिवमहापुराण ७,२,६

२—ऋषभो वा पशूनामधिपतिः। तां० ब्रा० १४-२-५

३—श्रीर्वै पशवः। तां० ब्रा० १३-२-२

पशवो यशः। शत० ब्रा० १-८-१-३८

शान्तिः पशवः। तां० ४-५-१८

पशवो वै रायः। शत० ब्रा० ३-३१-८

आत्मा वै पशुः। कौत्स० ब्रा० १२-७

महादेव, पिनाकपाणि, रुद्र आदि नामों की सार्थकता भी ऋषभ और शिव को एक ही व्यक्ति मानने में है।

ब्रह्मा

इतिहासज्ञों की मान्यता है कि ब्रह्मा भी शिवजी की तरह अनार्य देवता हैं। शिवजी की तरह ब्रह्मा का आर्यकरण आर्यों ने संस्कृति-समन्वय की भावना से किया था। किन्तु वेदों ने ब्रह्मा का आर्यकरण करने के बाद भी यह स्वीकार किया कि आदि ब्रह्मा ने जिन वेदों की रचना की थी, वे वेद नष्ट हो गये और अथर्वा के पिता ब्रह्मा ने पुनः तीन वेदों का संग्रह किया। ऋग्वेद में कथन है कि उसने (भरत ने) अयु के प्राचीन निविद मन्त्रों से मनुष्यों की प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् उन मन्त्रों के अनुसार ही प्रजा का पालन पोषण किया और नियमादि भी उसी आधार पर[1] बनाये।

ये निविद मंत्र वर्तमान वेदों के निर्माण से पूर्व ही नष्ट हो चुके थे। ऐतरेय[2] ब्राह्मण में लिखा है कि वे निविदमन्त्र अब गर्भ में चले गये अर्थात् वे अब विलुप्त हो गये।

ये निविद मन्त्र कौन से थे, इसके सम्बन्ध में हमें महाभारत से कुछ प्रकाश मिलता है। शान्ति पर्व में राजधर्म के प्रारम्भ में युधिष्ठिर ने भीष्म से प्रश्न किया कि राजन! शब्द किस प्रकार उत्पन्न हुआ। इसका उत्तर देते हुए भीष्म बोले-जब काम-क्रोधादि बहुत बढ़ गये, तब ब्रह्मा

१—स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमा प्रजा अजनय मनूनाम्
ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ९६ मं० २

२—गर्भा वै एते उक्थानां यन्निविदः।
पेशा वै एते उक्थानां यन्निविदः॥ ऐतरेय ब्राह्मण ११।२।

ने एक लाख श्लोकों का एक वृहद् ग्रन्थ बनाया। उसमें धर्म के सम्पूर्ण तत्वों का वर्णन था। ब्रह्मा ने वह ग्रन्थ पृथ्वी के प्रथम सम्राट् अनंग को दिया और उससे कहा कि इसके अनुसार राजकार्य करो। यह सम्राट् अनंग और कोई नहीं, ऋषभ-पुत्र भरत ही हैं।

इस ब्रह्मा ने ही सर्व प्रथम योग का वर्णन किया था। महाभारत[1] शान्ति पर्व में कहा है कि योग मार्ग के आद्य प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं। इससे पुराना मार्ग अन्य नहीं है।

पातञ्जल योग के प्राचीन टीकाकारों ने भी यह स्वीकार किया है कि योग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं।

ये हिरण्यगर्भ वस्तुतः ब्रह्मा ही हैं।

योग दर्शन का सूक्ष्म अध्ययन करने पर हमें पता चलता है कि उसमें समाधि योग से कर्मकृत वासना को भस्म किया जा सकता है। वासना नष्ट होने पर फिर जन्म मरण नहीं होता, जिस प्रकार बीज के भस्म होने पर पुनः वह नहीं उगता। आत्मा आवागमन के चक्र से निकल कर अपनी शुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है। इसी का नाम योग है। सांख्य दर्शन में इसी को कैवल्य-प्राप्ति कहा गया है।

महाभारत[2] में कहा है कि यह जीव जब केवली हो जाता है तो वह सम्पूर्ण २६ पदार्थों को प्रत्यक्ष देखता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

१—हिरण्य गर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

महाभारत शान्ति पर्व अ० ३४६

२—यदा स केवलीभूतः षड्विंशमनुपश्यति।
तदा स सर्वविद् विद्वान् न पुनर्जन्म विद्यते॥

महाभारत शान्ति पर्व ३१६

वास्तव में ऋषभदेव ही वे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा रहे हैं, जिन्होंने सर्व प्रथम योगमार्ग बताया था। उन्होंने जैनधर्म के रूप में जो उपदेश दिया था, उससे योग दर्शन की तुलना करने पर बहुत कुछ साम्य मिलता है और प्रतीत होता है कि योग दर्शन जैनधर्म द्वारा प्रचलित आत्म स्वरूप की शुद्धि-प्राप्ति वाले मार्ग का अनुकरण है। कर्म नष्ट करने पर अपुनरागमन और भवभ्रमण की समाप्ति का सिद्धान्त तथा केवली और कैवल्य जैसे शब्द केवल जैनधर्म से सम्बन्ध रखते हैं, जिसका प्रथम उपदेश ऋषभदेव ने किया था और जिसको वेदों में निविद् मन्त्र तथा महाभारत योग दर्शन आदि में योग बताया है, वह जैनधर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ब्रह्मा वास्तव में कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि उपाधि है। यह उपाधि देव, ऋषि, कवि और ब्राह्मणों में जो श्रेष्ठ होता था, उसको दी जाती थी। किन्तु आदि ब्रह्मा के अनेकों नाम वेद, ब्राह्मण, पुराण और कोषों[1] में उपलब्ध होते हैं, जैसे—हिरण्यगर्भ, प्रजापति, चतुरानन, स्वयम्भू, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, लोकेश, अज आदि। इनमें परमेष्ठी शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। परमेष्ठी पूज्यअर्थ में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि के लिए प्रयुक्त होने वाला पारिभाषिक जैन शब्द है और जो इस युग की आदि में सर्व प्रथम ऋषभदेव के लिए ही प्रयुक्त हुआ था।

इसके अतिरिक्त शेष शब्द भी ऋषभदेव के ही उपनाम हैं और इन शब्दों का प्रयोग जैन परम्परा में ऋषभ चरित में विपुलता से हुआ

१—ब्रह्मात्मभू सुरश्रेष्ठः परमेष्ठी पितामहः।
हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भू चतुराननः ॥ अमर कोष

है। गर्भ में आने से छः माह पूर्व से इन्द्र ने ऋषभदेव के पिता नाभिराय के घर में हिरण्य वृष्टि की थी, अतः वे हिरण्यगर्भ कहलाये। वे प्रजा के प्रथम लोकप्रिय नायक थे तथा उन्होंने मानव-सृष्टि के सारे कर्मों का प्रथम प्रचलन किया था, अतः वे प्रजापति[1] कहलाये। समवशरण (उपदेश सभा) में उनके चारों ओर मुख दीखते थे। अतः उन्हें चतुर्मुख कहने लगे। आज भी चतुर्मुखी जैन प्रतिमायें बहुत मिलती हैं। जन्म से ही विशेष ज्ञान तथा बिना किसी की सहायता के उन्हें आत्म-बोध और कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। अतः वे स्वयम्भू[2] कहलाये। पहले मुनि, फिर अर्हन्त और अन्त में सिद्ध होने के कारण वे परमेष्ठी कहलाते थे। उन्होंने सारे कर्मों को नष्ट करके जन्म मरण के सारे बन्धनों को काट दिया। अब वे कभी पुनः जन्म ग्रहण नहीं करेंगे, वे मुक्त हो चुके, अतः अज-अजन्मा कहलाते हैं। वे पितामह और लोकेशतो हैं ही। इस प्रकार ऋषभदेव के लिये प्रयुक्त होने वाले सारे विशेषण ही ब्रह्मा के नाम हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात विशेष उल्लेखनीय है। पुराणों में वर्णित ब्रह्मा की पुत्री का नाम सरस्वती बताया है। इधर ऋषभदेव की पुत्री

१—प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः, शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा।
प्रबुद्ध तत्वः पुनरद्भुतोदयो, ममत्वदो निर्विविदे विदांवरः॥

स्वयम्भू स्तोत्र २

ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः। शत० ५-२-५-१७

२—स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले, समंजस ज्ञान विभूति चक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः, क्षमाकरेणेव गुणोत्करैः करैः॥

स्वयम्भू स्तोत्र १

का नाम ब्राह्मी है, जो सरस्वती का ही पर्यायवाची है। इसी प्रकार ब्रह्मा का पुत्र मरीचि बताया गया है, इधर ऋषभदेव के पौत्र का नाम भी मरीचि है। ब्रह्मा नाभिज हैं, ऋषभ भी नाभिपुत्र हैं।

इस तरह हम कह सकते हैं कि ऋषभदेव और आदि ब्रह्मा अभिन्न व्यक्ति हैं। ऋषभ के ही विभिन्न अवसरों पर प्रयुक्त होने वाले नाम ब्रह्मा के नाम से प्रयुक्त किये जाने लगे।

अग्निदेव

भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण उपास्य देवों में आद्य और अग्र थे। अतः उन्हें आदिदेव, आदिनाथ, अग्नि आदि नामों से भी स्मरण किया जाता था। वेदों में इन्हीं अग्निदेव की स्थान-स्थान पर प्रार्थना की गई है।

वेदों में जिस अग्नि को देवता मानकर प्रार्थना की गई है, वह भौतिक अग्नि नहीं। उसकी प्रशंसा जिन शब्दों में की गई है, उसमें उसके लिये आद्य[1] (आदि पुरुष) मिथुनकर्ता[2] (विवाह प्रथा का प्रचलन कर्ता) ब्रह्म,[3] पृथ्वीपति,[4] धाता,[5] ब्रह्मा,[6] और सर्वविद्[7]

१—अग्निर्वै सर्वमाद्यम्। तां० २५।६।३

२—अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता। तै० १।७।२।३

३—अग्निरेव ब्रह्म। शत० १०।४।१।५

४—अग्ने पृथ्वीपते। तै० ३।११।४।१

५—अग्निर्वै धाता। तै० ३।३।१०।२

६—अग्निर्वै ब्रह्मा। षड्विंश ब्रा० १।१

७—अयमग्निः सर्ववित्। शत० ६।२।१।८

(सर्वज्ञ) जैसे विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इन नामों के अतिरिक्त वेदों में अग्नि को जातवेदस (जन्मना ज्ञान सम्पन्न) रत्नधाता (रत्न धारण करने वाला) विश्ववेदस (विश्व को जानने वाला) मोक्ष नेता, ऋत्विज (धर्म संस्थापक) आदि विशेषण प्रदान किये गये हैं। उसे धर्म, अर्क, शुक्र, ज्योति, सूर्य, रुद्र, शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, आद्य, विष्णु, इन्द्र, मित्र, वरुण, सुपर्ण, दिव्य, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि कहा है।

इन विशेषणो और नामों को देख कर यह तो कल्पना करना ही असंभव होगा कि जिस अग्नि की इन शब्दों से प्रार्थना की गई है, वह अग्नि व्यक्ति न होकर पंच भूतों की अग्नि होगी। शतपथ[1] ब्राह्मण में इस विषय को और भी स्पष्ट किया है। उसमें इस बात की स्वीकृति है कि उपास्य देवों के अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह अग्नि या अग्नि नाम से व्यवहृत हुए।

इन नामों और विशेषणों द्वारा ही अथर्ववेद के ऋषभ सूक्त द्वारा ऋषभदेव की स्तुति की गई है।

अग्नि ही ऋषभदेव हैं। देवों ने ऋषभदेव को ही अग्नि के नाम से अपना आराध्यदेव स्वीकार कर लिया, इस तथ्य का उद्घाटन स्वयं काश्यप गोत्री मरीचि पुत्र ऋषि ने ऋग्वेद १-६६ द्वारा किया है।[2]

१—(अ) सयदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निरग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षय। शतपथ ब्रा० २-१-१-११

(आ) तद्वा स्नमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्यादग्निराग्रर्त वै नामैतद्य दग्निरिति। शत० ब्रा० २-२-४-२

२—बा० जयभगवान जी ऐडवोकेट (आदिनाथ ऋषभ और वेदों का अग्निदेव)

इस सूक्त में नौ मंत्र हैं। उनमें से चार मंत्र यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

आपश्च मित्रं (जो संसार का मित्र है) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है) प्रत्नथा (जो पुरातन है) सहसा जायमानः (जो स्वयंभू है) सद्यः काव्यानि वड्धत्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रों को धारण करता रहता है अर्थात् जिसकी सभी स्तुति करते हैं) देवा आग्निम् धारयन् द्रविणोदाम् (देवों ने उस द्रव्य दाता अग्नि को धारण कर लिया अर्थात् अपना आराध्य देव स्वीकार कर लिया) ॥१॥

पूर्वया निविदा कव्यतासो (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है) इमाः प्रजा अजन्मन् नाम् (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुसा द्याम पश्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए है) देवों ने उस द्रव्य दाता अग्नि को धारण कर लिया ॥२॥

तमड़ित प्रथम महासाद्यं (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्व प्रथम मोक्ष का साधक है) आर्हत (सर्वपूज्य है) आरीविशः उर्जः भुञ्जसानम् (जिसने स्वयं शरण में आनेवाली प्रजा को बल से समृद्ध करके) पुत्रं भरतं सम्प्रदानुं (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया) देवों ने उस द्रव्य दाता अग्नि अर्थात् अग्रनेता को धारण कर लिया ॥३॥

स मातरिश्वा (वह वायु समान निर्लेप और स्वतन्त्र है) पुरुवार पुष्टि (वह अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है) स्वर्वितं (उसने ज्ञान सम्पन्न होकर) तनयाय (पुत्र को) गातम् (विद्या) विदद (देदी) विशागोपा (वह प्रजाओं का संरक्षक है) पार्वता रोदस्योः (वह अभ्युदय और निःश्रेयस का उत्पादक है) देवों ने उस

अग्रनेता अग्नि को धारण किया-अपना आराध्य देव स्वीकार कर लिया ॥४॥

इस सूक्त में अग्नि की स्तुति में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है और जो इतिवृत्त दिया गया है, उनसे जैनशास्त्रों में ऋषभदेव के लिये दिये गये विशेषणों और इतिवृत्त के साथ तुलना करने पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह स्तुति अग्नि के रूप में ऋषभदेव की ही की गई है और यह कि अग्नि ऋषभदेव के अतिरिक्त और कोई देव नहीं है।

अग्नि ऋषभदेव ही है, इसके प्रमाण में एक और बात उल्लेख योग्य है। अग्नि के नामों में यम और मित्र शब्द आये हैं। ईरानी धर्म पुस्तक जेन्दावस्ता में यम को मित्र और प्रथम राजा और धर्म, सभ्यता का संस्थापक बताया है। फारसी के प्रसिद्ध कवि फिरदौसी ने अपने शाहनामे में भी इसी बात की पुष्टि की है। जेन्दावस्ता में उल्लेख है कि सदाचारी मनुष्य मित्र का और अहुरमज्द का दर्शन करता है। यम के पिता का नाम विवन्वत् लिखा है।

इस यम के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें यम को प्रजा का स्वामी, विवस्वान् का पुत्र, प्रजा को नियम से चलाने वाला, पृथ्वी का स्वामी बताया है।

इसी प्रकार मित्र के बारे में क्षत्रिय, पृथ्वी का स्वामी आदि के रूप में उल्लेख मिलते हैं।

जेन्दावस्ता और वैदिक साहित्य मित्र के सम्बन्ध में एक मत हैं और यह मित्र ही यम है, और ये दोनों नाम अग्नि के हैं। विवस्वान् अन्तिम मनु है, जिसका पुत्र यम है।

जैन साहित्य में ऋषभदेव भी पृथ्वी (भारतवर्ष) के स्वामी थे,

क्षत्रिय थे, प्रजा को नियम से चलाने वाले और अन्तिम मनु नाभिराय के पुत्र थे।

अतः यह मानने में कोई बाधा नहीं कि यम और मित्र ऋषभदेव ही हैं।

वेदों में ऋषभदेव की स्तुति न केवल अग्नि के रूप में ही मिलती है, अपितु ऋषभदेव के रूप में भी स्तुतिपरक अनेक मंत्र मिलते हैं। यहाँ दो चार मन्त्रों का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा, आदित्य स्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आवाहन करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।[1]

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति योग्य ऋषभ को पूजा साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते[2]।

हे शुद्ध दीप्तिमान्, सर्वज्ञ वृषभ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों[3]।

इनके अतिरिक्त अनेक मंत्र हैं, जिनमें देवता ऋषभ है।

१—अहो मुंचं वृषभ यज्ञिमानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्
अपां न पातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियंदत्तमोजः ॥
अथर्ववेद कां० १६।४२।४

२—अनर्वाणं वृषभं मन्द्र जिह्वं बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कें ॥
ऋ० मं० १ सू० १६० मं० ०

३—एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि ॥
ऋ० २।३३।१५

अन्य धर्मों और देशों में ऋषभ के रूप

अहुरमज्द—पारसियों ने ऋषभदेव को अहुरमज्द के रूप में माना है, जिसका अर्थ है असुर[1]-महत् अर्थात् महान् दयालु।

औसरिस—प्राचीन मिश्रवासियों का देवता, जिसका अर्थ है असुरीश अर्थात् असुरों के ईश।

गौड—पश्चिमी जगत् में ईसाइयों का उपास्य देव। यह गौर शब्द का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ वृषभ है। वेदों में भी गौर शब्द का उल्लेख इसी अर्थ में कई सूक्तियों में आया है।

खुदा—फारसी भाषा में भगवान् का नाम। चूंकि ऋषभदेव ने बिना किसी गुरु के स्वयं ही मोक्ष-मार्ग का पता लगाया था। अतएव स्वयंभू कहलाते थे। इसी भाव में फारसी भाषा में उनका नाम खुदा हो गया।

अल्ला—मुस्लिम जगत् में अरबभाषा में भगवान् का नाम। इस शब्द का भी एक इतिहास है। ऋषभदेव जगत् पूज्य थे। उनके लिये इला और ईड्य शब्दों द्वारा पूज्य भाव प्रगट किया जाता था। जब पणि आदि भारतीय व्यापारी पश्चिमी एशिया में गये और वहाँ के निवासियों से उनका सम्पर्क बढ़ा, तब ऋषभदेव के लिये प्रयुक्त होने वाले इला शब्द को अरब लोगों ने ग्रहण कर लिया और उसे अपने सांचे में ढाल लिया। इस तरह वे ऋषभदेव को अल्ला (अल्ल इला) कहने लगे।

आदम—ऋषभदेव आदिदेव या आदिनाथ कहलाते हैं। वे धर्म और कर्म के आदि संस्थापक कहलाते हैं। इसी आदि-पुरुष के

१—असून् प्राणान् राति ददाति इति असुरः

रूप में उन्हें अरबी में आदम कहा जाने लगा।

इस प्रकार ऋषभदेव विभिन्न धर्मों और देशों में विभिन्न नामों से माने गये हैं। इन सभी धर्मों ने प्रारम्भ में ऋषभ के केवल नाम को ही नहीं स्वीकार किया था, अपितु उन्होंने जिस अहिंसाधर्म की सर्व प्रथम प्राण प्रतिष्ठा की थी, अहिंसा का प्रचार किया था, उसको भी सर्वतोभावेन स्वीकार किया था। उनकी उस अहिंसा का प्रभाव सभी धर्मों पर गहरा पड़ा। बाद में यद्यपि वे धर्म अपने उपास्यदेव के रूप में ऋषभदेव की मान्यता को तो भुला बैठे, किन्तु उन पर अहिंसा की जो गहरी छाप लगी थी, वह आज तक जीवित रही है। और आज तक भी कोई धर्म अहिंसा की सर्व श्रेष्ठता से इनकार नहीं कर सका, भले ही उन्होंने किन्हीं कारणों और परिस्थितियों से बाध्य होकर हिंसा को ही क्यों न अङ्गीकार कर लिया हो।

आज विद्वानों का इसमें ऐकमत्य है कि विश्व के सारे धर्मों का मूल स्रोत एक ही है। बाद में वे विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगे हैं। विद्वान् इस बात से भी सहमत से हैं कि इस स्रोत का उद्‌गम स्थान भारत ही है। हमारी विनम्र मान्यता है कि यह स्रोत केवल ऋषभदेव हैं और ऋषभदेव के सूत्र के सहारे विश्व के सारे धर्मों में एकता के बीज ढूँढ़े जा सकते हैं।

भ० नेमिनाथ बाईसवें तीर्थङ्कर थे। वे यदुकुल में उत्पन्न हुए थे। उनका वंश हरिवंश था, जो यदुकुल का मूल वंश था। यदुवंश के संबन्ध में जैन पुराणों में विस्तृत और सुसम्बद्ध विवरण उपलब्ध होते[1] हैं। चंपापुरी (अङ्गदेश) का राजा आर्य था। यह मूलतः विजयार्ध पर्वत की उत्तर

भगवान् नेमिनाथ

१—हरिवंश पुराण (जैन)

दिशा में हरिपुर नामक नगर का स्वामी था। किन्तु कारणवश चंपापुरी आ गया था। उसने आकर अनेक राजाओं को जीतकर अपना राज्य काफी विस्तृत कर लिया था। उसका पुत्र हरि हुआ, जो बड़ा प्रतापी और तेजस्वी था। उसके नाम पर 'हरिवंश' की स्थापना हुई।

आगे चलकर इसी हरिवंश में दक्ष नामक एक निम्न प्रकृति का नरेश हुआ। अपनी पुत्री के साथ उसके अनुचित सम्बन्ध को देखकर उसकी पत्नी इला और पुत्र ऐलेय रुष्ट होकर चले गये और दुर्गदेश में जाकर इलावर्धन नगर बसाया। ऐलेय ने अंगदेश में ताम्रलिप्ति और नर्मदातट पर महिष्मती नगर की स्थापना की। ये दोनों नगर आगे चलकर इतिहास में बड़े प्रसिद्ध हुए।

इसी वंश में आगे चलकर अभिचन्द्र नरेश हुआ। इसने विन्ध्याचल के पृष्ठ भाग पर चेदि राष्ट्र की स्थापना की। इसका पुत्र वसु हुआ जो अपनी सत्यवादिता के लिये प्रसिद्ध था। किन्तु नारद और पर्वत के विवाद में अनुचित पक्षपात वश 'अजैर्यष्टव्यं' का अर्थ 'बकरों द्वारा यज्ञ करने' का समर्थन करके पर्वत को न केवल विजय दिलाई, बल्कि वेदों में विहित यज्ञों को हिंसक रूप प्रदान किया। इससे उसकी बड़ी अपकीर्ति हुई।

वसु के दस पुत्र हुए। इनमें से आठ तो अधिक दिन राज्य न कर पाये। शेष दो पुत्रों में सुवसु नागपुर चला गया और वृहध्वज मथुरा चला गया। सुवसु के वंश में आगे चल कर जरासिन्ध और उसका पुत्र कालयवन हुए।

वृहध्वज के वंश में यदु हुआ। यह बड़ा वीर और प्रतापी नरेश था। इस नरेश से ही यदु-वंश अथवा यादव वंश चला।

यदु के नरपति और नरपति के शूर और सुवीर दो पुत्र हुए। शूर ने मथुरा के निकट शौरीपुर नगर बसाया और वहीं रहने लगा। शूर का पुत्र अन्धक वृष्णि हुआ और सुवीर के भोजक-वृष्णि। अन्धक वृष्णि से समुद्रविजय, वसुदेव आदि १० पुत्र और कुन्ती, मद्री ये दो कन्यायें हुईं। भोजक वृष्णि के उग्रसेन आदि तीन पुत्र हुए। शौरीपुर के शासक समुद्रविजय हुए और मथुरा का शासन उग्रसेन ने सम्हाला। कंस उग्रसेन का पुत्र था। वसुदेव के प्रमुख पुत्रों में बलराम और कृष्ण ये दो महापुरुष हुए।

समुद्रविजय की रानी शिवा की कुक्षि से भगवान् नेमिनाथ का अवतार हुआ था।

वैदिक साहित्य के अनुसार मनु की पुत्री इला का विवाह चन्द्रमा के पुत्र बुध के साथ हुआ था। उससे पुरुरवा ऐल का जन्म हुआ। इसी से 'चन्द्रवंश'[1] चला। पुरुरवा की पत्नी उर्वशी से आयु और अमावसु का जन्म हुआ। आयु के बाद अमावसु का पुत्र नहुष, नहुष का ययाति हुआ। ययाति के दो पत्नियाँ थीं—देवयानी और शर्मिष्ठा। देवयानी से यदु, तुर्वसु दो पुत्र हुए। और शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, पुरु और अनु हुए। ययाति की इच्छानुसार पुरु प्रतिष्ठान का शासक बना। उनके वंशज 'पौरव' कहलाये।[2] यदु से यादव, तुर्वसु से यवन, द्रुह्यु से भोज तथा अनु से म्लेच्छ जातियों का जन्म हुआ।[3]

यदु के पश्चात् अनेक राजाओं के नाम मिलते हैं, जो यदुवंश में

१—हरिवंश १, ३०, २६

२—महाभारत (नवीन पूना संस्करण १९३३) १, ८०, १३-१५

३—महाभारत १, ८०, २६

उत्पन्न हुए। पार्जीटर ने इन राजाओं की एक क्रमबद्ध तालिका भी दी है।[1] इन राजाओं में एक भीम सात्वत हुआ, जो संभवतः अन्धक और वृष्णि का पिता था। अन्धक का वंश मथुरा का और वृष्णि का वंश द्वारका का शासक हुआ।

यादव द्वारका क्यों गये, इसका उत्तर जैन और हिन्दू पुराणों में एक सा ही मिलता है। वह है कि जरासिन्ध द्वारा विशाल. शक्तिशाली सेना के साथ मथुरा पर आक्रमण की योजना का पता लगते ही यादव मथुरा छोड़कर सौराष्ट्र में जाकर द्वारका नगरी में जा बसे।

भगवान् नेमिनाथ की प्रारम्भ से ही विराग की ओर प्रवृत्ति थी। वे देख रहे थे, देश में आहार के लिये पशु-मांस का प्रचार बढ़ता जा रहा है, राज्य-शासन की अतृप्त आकांक्षा के कारण नित नये-नये युद्ध होते हैं, नर संहार होता है। वे देश भर में व्याप्त हिंसा के इस दैत्य को परास्त करना चाहते थे।

कृष्ण चाहते थे कि नेमिनाथ विवाह कर लें। कृष्ण के संकेत से उनकी स्त्रियों ने नेमिनाथ की सांसारिक भावनाओं को उभारने का प्रयत्न भी किया। किन्तु तभी एक घटना और हो गई। कृष्ण की एक पट्ट-रानी जाम्बवती के व्यङ्ग्य से आहत होकर युवक नेमिनाथ कृष्ण की आयुधशाला में जा पहुँचे और वहाँ नाग शय्या पर चढ़ कर कृष्ण के शार्ङ्गधर धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर उसे टंकारने लगे तथा पाँचजन्य शंख को जोरों से बजाना शुरू किया। जाम्बवती द्वारा अपने पति के शारीरिक पौरुष के लिये दर्पोक्ति और नेमिनाथ के प्रति व्यङ्ग्य किये जाने का ही यह उत्तर था। क्योंकि नारायण के शार्ङ्गधर धनुष को

१—पार्जीटर, ऐंश्यैण्ट इण्डियन हिस्टारीकल ट्रेडीशन पृ० १०९-१०७

चढ़ा सके और पाँचजन्य शंख को बजा सके, ऐसा बलशाली कौन पुरुष होगा।

धनुष की टंकार और शंख का तीव्र घोष सुनकर सारा नगर एकबारगी ही भय विह्वल हो उठा। कृष्ण शस्त्रागार की ओर दौड़े और जब उन्होंने नेमिनाथ को यह उत्पात करते हुए देखा तो उनके बल-विक्रम को देखकर कृष्ण शंकित हो उठे और उन्होंने अविलम्ब उग्रवंशी कुमारी राजुलमती के साथ नेमिनाथ का सम्बन्ध पक्का करके विवाह की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं।

निश्चित तिथि को बरात चली। नेमिनाथ वरोचित मुकुट और कंकण बाँधे रथ में चल रहे थे। शेष यादव गण विभिन्न वाहनों में थे। बारात नगर में पहुँची ही थी कि नेमिनाथ की दृष्टि एक बाड़े की ओर गई। उसमें अनेकों पशु बन्द थे। हर्ष की इस वेला में ये पशु बन्धन में क्यों डाले गये हैं, इस पर उन्होंने विचार किया, किन्तु कोई समाधान उन्हें न मिल सका। तब उन्होंने सारथी से पूछा—भद्र! ये पशु बन्धन में पड़े हैं, इसका क्या कारण है?

सारथी बोला—आर्य! आप के विवाह में अनेकों मांसाहारी व्यक्ति भी आये हैं। उनके मांस की व्यवस्था के लिए ही ये पशु यहाँ बन्द किये गए हैं। इन्हें मारकर आतिथ्य सत्कार किया जायगा।

नेमिनाथ सुनते ही गम्भीर विचार में पड़ गये—क्या मेरे निमित्त इतने पशुओं के प्राणों का विघात होगा! मेरी खुशी का मूल्य इतने पशुओं की मृत्यु है! तब तो मेरी खुशी इन निरीह प्राणियों को काफी महंगी पड़ेगी। किन्तु मेरा अपने प्रति, इन मूक प्राणियों के प्रति और सारे जगत् के प्रति जो दायित्व है, उसे मैं तब तक पूरा न कर सकूँगा, जब तक मैं अपनी प्रसन्नता का बलिदान न कर दूँगा। मेरे हर्ष की

बलि के मूल्य पर भी अगर इन प्राणियों के प्राण बच सकें तो मैं अपने हर्ष को इनकी रक्षा के लिये सदा सर्वदा के लिये त्याग दूँगा। मेरे क्षणिक हर्ष के लिये इन्हें जीवन से ही हाथ धोना पड़े तो यह मेरे लिए अत्यन्त लज्जाजनक होगा।

और तभी उन्होंने सारथी को आदेश दिया — भद्र! रथ रोक लो!

सारथी ने रथ रोक लिया। वह जब तक अपने प्रभु की ओर मुड़े, तब तक नेमिनाथ मुकुट, कंकण और आभूषण उतार चुके थे। और रथ से उतर कर सीधे पहुँचे बाड़े की ओर। पशुओं ने उन्हें नेत्रों में कृतज्ञता भरकर देखा। नेमिनाथ ने उन पशुओं के बन्धन खोल कर स्वतंत्र कर दिया। पशु जीवन पा कर बन्धन खुलते ही सीधे वन की ओर भागे। नेमिनाथ ने उन प्राणियों के प्राणों को बचाकर अहिंसा के समुचित मूल्याङ्कन का मार्ग प्रशस्त कर दिया और भोग-विलासों को ठुकराकर मांसाहार और पशु-वध की वृत्ति को ठोकर लगाई। इससे जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा, उसने सारे यादव कुल और सारे लोक-मानस को मांस-भक्षण के विरुद्ध, हिंसा के विरुद्ध खड़ा होने में सहायता दी। आत्म-बलिदान किए बिना धर्म का मार्ग कभी प्रशस्त नहीं होता।

पशुओं को स्वतन्त्र करने के बाद नेमिनाथ आत्म-स्वातन्त्र्य के लिये राज-वैभव ठुकरा कर सांसारिक मोह पाशों को तोड़कर चल दिये गिरनार पर्वत की ओर। उनका यह विराग एक महान् आदर्श से अनुप्राणित था, एक महान् ध्येय के लिए था। वह चला गया, बरात विस्मय विमुग्ध रह गई। अन्तःपुर में समाचार पहुंचा। राजुलमती के सारे सपने चूर-चूर हो गये। माता-पिता ने कहा—'बेटी! शोक न कर। लग्न की बेला टली नहीं। दूसरे किसी राजकुमार के संग तेरा

परिणय कर देंगे।'

किन्तु राजुलमती ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—तात ! जीवन में पति एक ही होता है। मेरे जन्म जन्मान्तरों के न जाने किस अभिशाप से मेरे पति ने मुझे त्याग दिया है। लेकिन अपने अपराध को पति के सिर थोपकर और दूसरा विवाह करके क्या पति-द्रोह का एक और अपराध कर सकूँगी ? स्त्री के लिए तो पति ही एक मात्र शरण है। उन्होंने जो किया, वह ठीक ही किया होगा। अब तो उन्होंने जिन मार्ग का अवलम्बन किया है, वही मेरा भी मार्ग होगा। उनके पदानुगमन में ही मेरी मुक्ति है।

और वह भी घर छोड़कर गिरनार की ओर चल दी।

नेमिनाथ ने गिरनार के गहन वनों में, पर्वत शिलाओं पर घोर तप किया और जब उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई, तब उन्होंने देश भर में विहार करके अहिंसा धर्म का महान् प्रचार किया। उनके अलौकिक-व्यक्तित्व, असाधारण प्रभाव और लोक कल्याणकारी उपदेशों से भारत में फिर एक बार अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा हो गई। जन मानस में मांसाहार के विरुद्ध घृणा की भावना व्याप्त हो गई और प्राणी मात्र के प्रति मैत्री लोक-व्यवहार का आधार बन गई।

भ० नेमिनाथ के कारण गिरनार पर्वत तीर्थ बन गया। वेदों में भ० नेमिनाथ को देवता मानकर स्तुति की गई। यह स्तुति अरिष्टनेमि के नाम से की गई है। भ० नेमिनाथ को ही अरिष्टनेमि कहते हैं।

भ० पार्श्वनाथ

भगवान् पार्श्वनाथ २२ वें जैन तीर्थङ्कर भ० नेमिनाथ के बाद ई० पूर्व ८७७ में बनारस में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता राजा विश्वसेन थे और माता वामादेवी थीं। वे काश्यप गोत्रीय इक्ष्वाकुकुल के उग्रवंश

के क्षत्रिय थे। जैनधर्म और अहिंसा उन्हें वंश परम्परा से प्राप्त हुआ था। अहिंसा की साधना उन्होंने कई जन्म पूर्व से की थी। उन्हें अहिंसा की यह मूल्यवान थाती मरुभूति के जन्म से मिली थी। उस समय से उनकी महान् क्षमा, भूतदया और वैरी के प्रति अक्रोश भावना की परीक्षा निरन्तर आठ भवों तक कमठ का जीव अपने विभिन्न रूपों में लेता रहा, किन्तु सदा ही वे इस परीक्षा में सफल होते रहे। सदा ही कमठ ने कमठ के रूप में, कुक्कुट सर्प, अजगर, भील और सिंह होकर उन्हें कष्ट दिया, किन्तु वे अपनी अहिंसक निष्ठा से विचलित नहीं हुए। उन्होंने सदा ही शत्रु के ईर्ष्या-द्वेष से घृणा की, किन्तु अपने शत्रु से सदा प्रेम, मैत्री के भाव ही रखे।

किन्तु उनका शत्रु—कमठ का जीव विभिन्न योनियों की तरह इस बार भी संयोगवश उनके नाना महीपाल के रूप में उत्पन्न हुआ। और वह एक हठयोगी तपस्वी बन गया। बनारस के बाहर एक पैर पर घण्टों खड़ा रहकर पंचाग्नि तप करने लगा। एक बार अपनी माता के साथ राजकुमार पार्श्व सोलह वर्ष की आयु में नगर भ्रमण के लिये निकले और भ्रमण करते-करते उस स्थान पर जा निकले जहाँ महीपाल तपस्वी तपस्या रत था। पार्श्वकुमार जन्म-योगी और अवधि ज्ञान के धारक थे। उन्होंने अपनी ज्ञान-चक्षुओं से देखा-तपस्वी अपने अज्ञान वश अनेक जीवों का घात कर रहा है। ये निरन्तर जलने वाली लकड़ियाँ न जाने कितने जीवों की बलि ले चुकी हैं। और तभी तपस्वी ने एक मोटा लक्कड़ अग्नि में झोंक दिया। पार्श्वकुमार का हृदय दयार्द्र हो उठा; जलने वाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति से कराह कर वे बोले—तपस्वी! निकालो इस लक्कड़ को अग्नि से, तपस्वी होकर भी तुम्हें विवेक नहीं, कितनी हिंसा कर रहे हो।

तपस्वी का दम्भ फुंकार उठा—मैं आयु, पद, ज्ञान, अनुभव और तप सबमें इससे बड़ा हूँ किन्तु कैसी धृष्टता है इसकी कि यह मुझे ही उपदेश दे रहा है। वह बड़े गर्व भरे स्वर में बोला-बालक ! कैसे कहते हो कि मैं हिंसा कर रहा हूँ या तप के प्रति भी तुम्हारी निष्ठा नहीं है। वृद्धजनों के प्रति शालीनता अभी तुम्हें सिखानी पड़ेगी।

किन्तु पार्श्वकुमार बोले-तुम लक्कड़ न निकाल कर व्यर्थ बातों में समय नष्ट कर रहे हो। तप ने तुम्हें विवेक नहीं, दम्भ दिया है। लक्कड़ में सर्प-युगल जला जा रहा है। विश्वास न हो तो लक्कड़ फाड़ कर देख लो।

लक्कड़ फाड़ा गया और उसमें अर्धदग्ध सर्प-युगल निकला। पार्श्वकुमार ने दया-प्रेरित हो सर्प-युगल को धर्म का प्रतिबोध दिया। बचाये जा सकने का समय बीत चुका था। उनके मन में उनके भावी जीवन के सुख की कामना जाग उठी। फलतः उन्होंने दुःख को शान्ति पूर्वक सहने और मारने वाले के प्रति क्षमा भाव अंगीकार करने का जो उपदेश दिया, उसे सर्प-सर्पिणी दोनों ने ही मृत्यु की असह्य वेदना के बीच शान्त भाव से स्वीकार किया और इससे वे उस वेदना को भी भूल गये। धर्म की इस ज्योति के कारण वे नाग कुमार देवों के अधिप ति धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में उत्पन्न हुए।

इस तरह भ० नेमिनाथ ने जिस अहिंसा के लिये विवाह का कंकण तोड़कर फेंक दिया था और विराग पाकर गृहस्थी का त्याग कर दिया और इस तरह जिह्वा के लिये निरीह और मूक पशु-पक्षियों की हत्या करने वाले, उन पशु-पक्षियों की मृत लाशों को खाने वाले, मांस भक्षियों के लिये अहिंसा का मार्ग प्रशस्त किया था, उसी अहिंसा की प्रतिष्ठा पार्श्वनाथ ने अपने कुमार-काल में ही धर्म के क्षेत्र में विवेकहीन तप और अज्ञान जनित हिंसा को करारी ठोकर देकर की। लगता है, जिस

प्रकार नेमिनाथ के काल में मांस भक्षण का प्रचार बढ़ गया था और वे साधना के द्वारा ही उस प्रचार को कम कर सके, उसी प्रकार पार्श्वनाथ के काल में अज्ञान-तप और हठयोग का बहुत प्रचार बढ़ गया था। पार्श्वनाथ ने इस प्रकार के तप और हठयोग का जो दुष्परिणाम हो सकता है, उसको प्रत्यक्ष दिखा कर उस तप और हठयोग के प्रति जनता की श्रद्धा को हिला दिया। और कुछ समय बाद स्वयं कठोर तपश्चरण करके यह बता दिया कि तप केवल कायक्लेश नहीं है, वह तो इन्द्रिय और मन की वासनाओं के विरुद्ध एक विद्रोह है. प्रतिरोध का उपाय है जिससे 'स्व' को पूरी तौर पर पाया जा सके।

ये अहिंसा के आध्यात्मिक जगत में बढ़ते हुए चरण थे। तपस्वी महीपाल तप के जाल में स्वयं उलझकर निस्तेज हो गया था, उसका मान चूर-चूर होकर शत-शत खंडों में बिखर गया। जनता का निरन्तर उपहास, अनादर सह सकने की उसमें क्षमता नहीं रह गई थी। पार्श्वकुमार के विरुद्ध उसका दीप्त क्रोध शान्त न हो सका और क्रोध की ज्वाला में जलते-जलते ही उसने प्राण त्याग दिये। वह अब ज्योतिष्क देव हो गया। उसका नाम था संवर।

एक दिन पार्श्वनाथ अपनी मुनि अवस्था में विहार करते-करते सांख्यावती (अहिच्छत्र) पहुँचे। नगर के बाहर वन प्रान्त में पार्श्वनाथ आत्म-ध्यान में लीन थे। काम और मोह की सेना निरन्तर पराजित होती जाती थी, तभी संवर अपने विमान में उधर से निकला। पार्श्वनाथ के तेजोमय व्यक्तित्व के विस्तीर्ण प्रभा-चक्र को लाँघ कर कोई विमान जा सके, इतनी शक्ति किसी में नहीं थी। विमान आकाश में अटक गया। संवर देव ने कारण जानना चाहा, विमान में क्या खराबी आ गई है। तभी उसकी दृष्टि नीचे की ओर पहुँची। उसे

पहचानते देर न लगी, यह तो पार्श्वनाथ है, मेरे जनम-जनम का वैरी। बस उसने अपनी दैवी माया का विस्तार किया। पार्श्वनाथ के ऊपर भयानक उपद्रव होने लगे—ओले, वर्षा, बिजली, बादल, आँधी। वातावरण आतंकमय बन गया। संवर का रूप रौद्र होता जा रहा था। वह क्रूर बदला लेने पर तुला हुआ था। किन्तु इन सारे उपद्रवों से जैसे बेखबर पार्श्वनाथ अपने ध्यान में मग्न थे। वे तो उस समय काम, क्रोध, मोह, लोभ इनके साथ युद्ध कर रहे थे। पानी में पार्श्वनाथ डूबते जा रहे थे, तभी धरणेन्द्र और पद्मावती को ज्ञात हुआ—हमारे उपकारक महापुरुष पर यह कैसी विपत्ति! वे दौड़े आये। धरणेन्द्र ने उन्हें ऊपर उठा लिया और सर्पफणाकार छत्र ऊपर तान दिया। संवर की सारी कोशिशें बेकार हो गयीं। तभी से नगरी का नाम 'अहिच्छत्र' पड़ गया।

किन्तु पार्श्वनाथ की दृष्टि में संवर और धरणेन्द्र दोनों ही समान थे। वहाँ शत्रु-मित्र में कोई भेद नहीं रह गया था। अहिंसा की चरमोपलब्धि उन्हें हो चुकी थी। राग और द्वेष उनके नष्ट हो गये थे और सारे चराचर जगत् के प्रति उनकी मैत्री भावना अपने चरम रूप में विकसित हो चुकी थी। उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये।

संवर अपनी असफलता स्वीकार कर चुका था, हिंसा की असफलता स्वीकार कर चुका था, और अहिंसा के उस मौन निमन्त्रण के आगे वह आत्म-समर्पण करने को बेचैन हो उठा। वह पार्श्वनाथ के चरणों में आ पड़ा। आत्मग्लानि उसके भीतर न समा पाई तो आँखों की राह बह निकली।

अहिंसा के आगे हिंसा की पराजय का यह सार्वजनिक

स्वीकार था।

म॰ पार्श्वनाथ ने जिस मार्ग का उपदेश दिया था, वह चातुर्याम कहलाता था।[1] उस चातुर्याम में १ सर्व प्राणातिपात-विरति (सव्वाओ पाणाइवायओ वेरमणं) २ सर्व मृषावाद विरति (सव्वाओ मुसावायओ वेरमणं) ३ सर्व अदत्तादान विरति (सव्वाओ अदत्ता दाणाओ वेरमणं) और ४ सर्व वहिरादान विरत्ति (सव्वाओ वहिद्ध दाणाओ वेरमणं) ये चार व्रत थे।[2]

भगवान् महावीर ने चातुर्याम के स्थान पर पंच शिक्षिक या पंच महाव्रत वतलाये थे। ये पंच महाव्रत चातुर्याम के ही विस्तृत रूप थे। मूल दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं था। म॰ महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम और पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के, जो पार्श्वापत्य कहलाते थे, श्रमण केशिकुमार में, पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थों में जो भिन्न रूपता दीखती है, उसके सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ है। पार्श्वापत्य और महावीर के अनगारों का यह अपूर्व सम्मेलन था। इसमें केशिकुमार के प्रश्न के उत्तर में गौतम ने स्पष्ट कहा—

'पूज्य कुमार श्रमण ! सर्वत्र धर्म तत्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिये जिस समय में जैसी बुद्धि वाले मनुष्य हों, उस समय में उसी प्रकार की बुद्धि के अनुकूल धर्म का उपदेश करना योग्य है। प्रथम तीर्थङ्कर के समय में मनुष्य सरल परन्तु जड़ बुद्धि वाले थे। अन्तिम तीर्थङ्कर के समय में प्रायः कुटिल और जड़ बुद्धि वाले जीवों की अधिकता है। दोनों ही स्थितियों में आचार मार्ग को शुद्ध रखना

१—ठाणाङ्ग २०१ अ॰

२—श्वेताम्बर मान्यतानुसार

कठिन है। इस कारण प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करों ने पंच महाव्रतिक धर्म का उपदेश दिया, परन्तु मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के समय में जीव सरल और चतुर होते हैं। अतः उन्होंने चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया[1]।

इस सम्वाद से स्पष्ट है कि चातुर्याम और पंच महाव्रत दोनों में कोई अन्तर नहीं है, केवल दृष्टि-भेद है।

इसी चातुर्याम का उपदेश भ० पार्श्वनाथ ने अपने समय में दिया था। और इनके द्वारा अहिंसा का भारतव्यापी प्रचार किया था। ईसवी सन् से आठ शताब्दी पूर्व में भ० पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का जो उपदेश दिया था, वह काल अत्यन्त प्राचीन है और वह उपनिषद् काल, बल्कि उससे भी प्राचीन ठहरता है।[2]

भ० पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ। उनके बाद जितने धर्म-संस्थापक हुए, उन्होंने अपने धर्म सिद्धांतों की रचना में पार्श्वनाथ के चातुर्यामों से बड़ी सहायता ली। इनमें आजीवक मत के संस्थापक गोशालक और बौद्ध मत के संस्थापक बुद्ध मुख्य हैं। म० बुद्ध के जीवन पर तो पार्श्वनाथ के चातुर्याम की गहरी छाप थी। वे प्रारम्भ में पार्श्वापत्य अनगार पिहिताश्रव से दीक्षा लेकर जैन श्रमण भी बने थे और उन्होंने काफी समय तक जैन श्रमणोचित तप किये, केशलुंचन किये, नग्न रहे। इस प्रकार के वर्णन हमें दीघनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों में मिलते हैं। बुद्ध ने संघ-रचना और चतुर्याम संवर आदि सैद्धान्तिक रचना में बहुत कुछ पार्श्वा-

---

१—उत्तराध्ययन २३-१ ८६

२—डॉ० हर्मन जैकोबी (परिशिष्ट पर्व पृ० ६)

पत्य सम्प्रदाय से उधार लिया। बौद्ध धर्म की दस शिलायें चातुर्याम की व्याख्या मात्र हैं।

इनके अतिरिक्त वैदिक साहित्य पर चातुर्याम का जो अहिंसामूलक गहरा प्रभाव पड़ा है, वह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। पार्श्वनाथ के समय उपनिषदों की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। वेदों की आधिदैविक मान्यता जनता के मन को संतुष्ट नहीं कर पा रही थी। व्रात्यों का तप यज्ञ आर्यों को अपने पशु-यज्ञों की अपेक्षा अधिक प्रभावक प्रतीत होने लगा था। और वे व्रात्यों (श्रमण निर्ग्रन्थों) के अहिंसा-प्रचार के कारण धर्म के नाम पर अथवा भोजन के लिये किये जाने वाले पशु-वध को निस्सार स्वीकार कर चुके थे।

पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ प्रायः वनों में रहते थे। उनके रहने और ध्यान के स्थानों को निषद्, निषधि आदि नामों से पुकारते थे। वैदिक आर्य उनका उपदेश सुनने वहाँ जाते। उन निषदों के समीप बैठ कर उन्होंने जो उपदेश ग्रहण किया और उसे ग्रन्थों में गुम्फित किया, उन ग्रन्थों का नाम ही उन्होंने उपनिषद् रख दिया। (जैनों में आज भी निषद्या निषधिका आदि शब्द चैत्य के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।) इन उपनिषदों में हिंसामूलक यज्ञ के स्थान पर ज्ञान-यज्ञ का ही विवेचन मिलता है।

भ० पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से प्रभावित होने वाले नर-नारियों की संख्या उनके जीवन-काल में ही लाखों थी। १६००० साधु १६००० साध्वियाँ; १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। उन्होंने भारत के अनेक भागों में विहार करके अहिंसा का प्रचार किया। वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व की नाग, यदु, द्रविड़, आदि अनेक जातियों के लोग उनके धर्म के अनुयायी हो चुके थे। इन

जातियों के इतिहास के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ये जातियाँ उस समय सारे भारत में फैली हुई थीं और राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध थीं। इनमें नाग जाति सर्वाधिक शक्तिशाली थी।

नाग जाति के सम्बन्ध में हमें वेद, रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में विस्तृत उल्लेख मिलते हैं। महाभारत युद्ध के बाद अर्जुन के पौत्र और बालवीर अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित की मृत्यु नागराज तक्षक के हाथों हुई थी। नागकन्या उलूपी के साथ स्वयं अर्जुन ने विवाह किया था और उससे बभ्रुवाहन उत्पन्न हुआ था। इस काल में पञ्जाब तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश में नागजाति का बड़ा प्राबल्य था। जन्मेजय तृतीय ने इस नाग जाति को अपने पराक्रम से हराकर ही अपने राज्य का विस्तार कुछ समय के लिये तक्षशिला तक बढ़ा लिया था। ईसा पूर्व १००० वर्ष में नागजाति फिर प्रबल हो गई। फिर तो इसने पंजाब पश्चिमोत्तर प्रदेश, हस्तिनापुर, मध्य प्रदेश और सुदूर पूर्व बंगाल तक अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर, आदि इस जाति के प्रसिद्ध केन्द्र बन गए। वेदों में इन नागों का उल्लेख वेद विरोधी व्रात्य क्षत्रियों के रूप में मिलता है।

वस्तुतः व्रात्य श्रमण संस्कृति की जैन धारा के अनुयायी थे। भ० पार्श्वनाथ नागजातियों के इन केन्द्रों में कई बार पधारे थे। एक बार जब वे नागपुर (वर्तमान हस्तिनापुर[1]) पधारे, वहाँ का एक व्यापारी

१—महाभारत में हस्तिनापुर का नाम नाग साह्वयपुर (७, १, ८-१४, १६, २०) और नागपुर (५, १४७, ५) मिलता है। जैन पुराणों में इसका नाम गजपुर विशेषरूप में मिलता है। भागवत में इस नगर का उल्लेख गजसाह्वयपुर के रूप में आता है।

बन्धुदत्त अनेक दुर्भाग्य पूर्ण घटनायें सहता हुआ एक बार भीलों द्वारा उसके साथियों सहित गिरफ्तार कर लिया गया और देवता के आगे बलिदान के लिये ले जाया गया। उसकी पत्नी प्रियदर्शना भीलों के सरदार के आश्रय में धर्मपुत्री के रूप में रह रही थी। बलिदान का क्रूर दृश्य वह न देख सके, संभवतः इसलिये उसकी आँखों पर पट्टी बाँध दी गई थी। जब उसने देवता के आगे खड़े अपने पति को प्रार्थना करते हुए सुना तो उसने उसे पहचान लिया और उसे उसके साथियों सहित छुड़वा दिया। किन्तु भील सरदार के समक्ष समस्या थी, देवता को बिना नर-मांस के प्रसन्न कैसे किया जाय, जिसका उत्तर बन्धुदत्त ने अहिंसात्मक ढंग से दिया और देवता को फूल, फलों से सन्तुष्ट किया। भील सरदार अहिंसा की इस अपरिचित विधि से बड़ा प्रभावित हुआ। वह बन्धुदत्त के आग्रह से उसके साथ नागपुर गया और वहाँ पधारे हुए भ० पार्श्वनाथ के दर्शन किये। भगवान् का उपदेश सुनकर वह भील सरदार, जिसका एक मात्र व्यवसाय यात्रियों को लूटना, मारना, पशुओं का आखेट करना था, सदा के लिये अहिंसा का कट्टर उपासक बन गया। इस प्रकार के न जाने कितने हिंसकों ने भ० पार्श्वनाथ की शरण में आकर अहिंसा धर्म में दीक्षा अङ्गीकार कर ली।

अन्त में ई० पू० ७७७ में भ० पार्श्वनाथ ने सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त कर लिया। अपने युग के अहिंसा के सर्वोच्च पुरस्कर्ता होने के कारण जनता बनारस (उनके गर्भ-जन्म और दीक्षा के कारण) अहिच्छत्र (उनके कैवल्य प्राप्ति का स्थान होने के कारण) और सम्मेद शिखर (उनका निर्वाण स्थान होने के कारण) को तीर्थक्षेत्र और पवित्र भूमि मानने लगी।

भ० पार्श्वनाथ के असाधारण प्रभाव और अलौकिक व्यक्तित्व के

कारण सम्मेदशिखर पर्वत ही पारसनाथ कहा जाने लगा। सम्मेदशिखर जिस प्रदेश में है, उस बंगाल-बिहार-उड़ीसा (जो पहले संयुक्त थे) के निवासी उनके अनन्य भक्त बन गये। इन प्रान्तों में रहने वाले सराक जाति के लाखों लोग आजतक 'पारसनाथ' को अपना कुलदेवता मानते हैं, रात्रि में वे भोजन नहीं करते, जल छानकर पीते हैं, हिंसा से उन्हें हार्दिक घृणा है, यद्यपि वे अब जैनधर्म के अनुयायी नहीं रहे। किन्तु 'पारसनाथ' ने उस जाति को अहिंसा के जो संस्कार दिये थे, वे उनके हृदयों में आज भी संजोकर रक्खे हुये हैं।

भ० पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद उनकी परम्परा २५० वर्ष तक जीवित रही। उनके श्रमण (साधु) पार्श्वापत्य कहलाते थे। भ० महावीर के समय इस परम्परा के अनेक शिष्य गौतम आदि से मिले थे। इन सब ने ही महावीर के संघ में सम्मिलित होकर हजारों वर्षों से चली आई अविच्छिन्न जैन परम्परा को सुदृढ़ किया। पार्श्वापत्यों के महावीर-संघ में सम्मिलित होने के उल्लेख अनेक जैन शास्त्रों में मिलते हैं[1]। वास्तव में महावीर ने किसी स्वतन्त्र धर्म की स्थापना नहीं की थी, न किसी मौलिक सत्य की उद्भावना ही की थी, उन्होंने तो उसी धर्म का, उसी सत्य का जीर्णोद्धार मात्र किया था, जिसका अन्य तीर्थंकरों की तरह पार्श्वनाथ ने उद्धार किया था।

भ० पार्श्वनाथ की माता वामादेवी ने उनके गर्भ में आने के समय एक विशाल नाग को अपने पास से गुजरते हुए स्वप्न में देखा था। संवर देव द्वारा उपसर्ग होने पर नागराज धरणेन्द्र ने सर्पफणाकार छत्र

१—उत्तराध्ययन सूत्र २३,१,८६, भागवती सूत्र २-५। रायपसेनिय सूत्रकृताङ्ग २ ७

तानकर पार्श्वनाथ की रक्षा की थी। इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ स्वयं भी नाग जाति के क्षत्रिय थे, ऐसा कहा जाता है। संभवतः इन्हीं कारणों से पार्श्वनाथ का सांकेतिक और लाक्षणिक चिन्ह नाग माना गया है। उनकी प्रतिमायें भी सर्पफणाच्छादित ही मिलती हैं। ऐसी प्रतिमायें सारे भारत में ही मिलती हैं।

पार्श्वनाथ से सम्बन्धित पुरातत्व परिमाण की दृष्टि से अत्यन्त विपुल है। उसमें दो चीजों का यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। एक है बोद्धस्तूप और दूसरे दो शिलालेख। इनसे इतिहास पर एक नया प्रकाश पड़ता है।

बोद्ध स्तूप मथुरा के कंकाली टीले से खुदाई में उपलब्ध हुआ है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता[1] है कि यहाँ पर सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की स्मृति में सोने का एक स्तूप बनवाया गया था। फिर पार्श्वनाथ (तेईसवें तीर्थङ्कर) के समय इसके चारों ओर ईंटों का एक विशाल-स्तूप बनाया गया। आठवीं शताब्दी में बप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार कराया था। इस स्तूप की अनिंद्यकला को देखकर ही दूसरी शताब्दी में इस पर लेख उत्कीर्ण किया गया कि इसका निर्माण देवों ने किया था, मनुष्य इतनी सुन्दर कृति का निर्माण कर सकें, यह संभव नहीं है।

इस स्तूप से यह सिद्ध होता है कि भारत में कला के विकास में जैनों ने सभ्यता के आदिकाल से ही अपना पूरा योग दान किया है। यह स्तूप भारत की ज्ञात इमारतों में सर्वाधिक प्राचीन है।

शिलालेखों में एक शिलालेख है दानशाला का (१२ वीं

१—विविधतीर्थकल्प

शताब्दी) जो दक्षिण भारत में उपलब्ध हुआ है, उसमें पार्श्वनाथ के उग्रवंश की वंशावली नृप जिनदत्तार्य तक दी हुई है। यह मथुरा का राजकुमार था, जो दक्षिण भारत चला गया था और वहाँ उसने हुम्मच तीर्थ की स्थापना की थी।[1]

एक दूसरा शिलालेख कल्लुरगुड्ड (जिला सिमोगा, मैसूर सन् ११२१) से उपलब्ध हुआ है। उसमें गंगवंशावली दी है। इसमें उल्लेख है कि जब भ० पार्श्वनाथ को अहिच्छत्र में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस समय यहाँ प्रियबन्धु राजा राज्य करता था। वह राजा पार्श्वनाथ के दर्शन करने अहिच्छत्र गया।

इन शिलालेखों से पार्श्वनाथ के भारत व्यापी प्रभाव और उनकी अहिंसा के सुदूर दक्षिण तक प्रचार पर प्रकाश पड़ता है।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर ने लोक में व्यापक रूप से फैली हुई हिंसा और मांसाहार की प्रवृत्ति को अपने लोकोत्तर प्रभाव, साधना और सत्य सिद्धान्तों द्वारा रोक दिया, यह इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। किन्तु इसका मूल्याङ्कन करने से पूर्व हमें यह जान लेना होगा कि अपने इस व्यक्तित्व निर्माण के लिये उन्होंने न जाने कितने जन्मों से साधना की थी। पत्थर हथौड़े की पचास चोट लगने पर टूटता है। इस तरह पत्थर तोड़ने का श्रेय उस पचासवीं चोट को अवश्य मिलता है। किन्तु उससे पहले जो उनचास चोटें लगी थीं, वे निरर्थक नहीं गईं, पत्थर के टूटने में उनका भी योग कम नहीं है। हमें वृक्ष दीखता है, उसका बीज नहीं। किन्तु वृक्ष को वर्तमान रूप देने में बीज

१—Ibid p. 367

की तपस्या और उत्सर्ग को एकदम भुलाया नहीं जा सकता। वस्तुतः बीज के बलिदान पर ही वृक्ष की महानता टिकी हुई है। यों ही महावीर की महानता उनकी जन्म-जन्मान्तरों की अहिंसक साधना की ऋणी है।

एक जन्म में महावीर वन में भीलों के सरदार के रूप में उत्पन्न हुए। नाम था उनका पुरुरवा। उसकी पत्नी का नाम था कालिका। भीलराज का काम था शिकार खेलना, लोगों को लूटना। एक दिन दोनों वन में विहार कर रहे थे, तभी पुरुरवा ने देखा-लताओं के गुल्म में दो आँखें चमक रही हैं। प्रसन्नता से उसका हृदय भर उठा, उसने धनुष पर शर-सन्धान करना चाहा, तभी कालिका ने उसका शर पकड़ लिया-क्या गजब करते हो, वहाँ तो वन-देवता विराजमान हैं। पुरुरवा आतंक और श्रद्धा से भर गया। वह उस गुल्म के निकट पहुँचा, देखा, एक जैन मुनि विराजमान हैं। दम्पति ने उनको नमस्कार किया। मुनिराज ने आशीर्वाद दिया-धर्म-लाभ हो। आशीर्वाद देकर उन्होंने उपदेश दिया 'भीलराज !' यह मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है किन्तु तुम हो जो इसे दासता में ही गंवाये दे रहे हो। भील को दासता की बात सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—'कौन कहता है, मैं दास हूँ। मैं भीलों का सरदार हूँ।' मुनिराज हँस कर बोले-'ठीक है, तुम भीलों के सरदार हो, किन्तु क्या तुम अपनी तीन अंगुल की जीभ के दास नहीं हो ? क्या उसी की तृप्ति के लिये ही तुम जीवों को नहीं मारते फिरते हो। 'लेकिन शिकार न करूँ तो पेट कैसे भरूँ' भील ने बड़ी उत्सुकता से पूछा। मुनिराज ने कहा-'पेट भरने के लिये तो प्रकृति ने फलफूल, अन्न प्रचुर राशि में उत्पन्न किये हैं। क्यों नहीं तुम उनसे पेट भरते हो। पेट भरने का साधन केवल मांस ही तो नहीं है।' मुनिराज की सीख भीलराज के हिये को लग गई। उसने शिकार, मांस, सब छोड़ दिया। उसे अब

जीवन में कुछ शान्ति-सन्तोष और सुख अनुभव होने लगा। अब वह अहिंसक बन गया। वह सब जीवों से प्यार करने लगा और बदले में सब जीवों का प्यार भी पाने लगा। महावीर-जीवन की तैयारी महावीर ने अपने इसी भील-जीवन से प्रारम्भ की।

एक जन्म में वे सिंह बने अत्यन्त भयंकर, महान् क्रूर। सारा वन प्रान्त उसकी भयंकर गर्जना से हिल-हिल उठता। उसकी दहाड़ से आतंकित होकर वन के प्राणी सिकुड़े सिमटे से रहते। एक बार उसने हिरण का शिकार किया। संयोगवश उधर से अजितं जय मुनि आ निकले। मुनिराज ने सिंह को बोध दिया-'पशुराज !' तुम अपना जीवन क्यों पाप में व्यतीत कर रहे हो, तुम एक बार भगवान् आदिनाथ के पौत्र बने थे, किन्तु तुमने सद्धर्म के प्रचार से विमुख होकर मिथ्यामार्ग संसार में चलाने का पाप कमाया। उसमें तुम स्वयं डूबे और अनेकों को डूबने का मार्ग खोल दिया। तुम एक बार त्रिपृष्ट नारायण बने तीन खण्ड के अधिपति। किन्तु हिंसा में लगे रह कर तुमने अपने लिये नरक के द्वार खोल दिये। तुम अनेक बार पशु बने, मनुष्य हुए और देव योनि के सुख भी पाये, किन्तु कभी आत्म-कल्याण न कर सके, अब तुम इस पशु-पर्याय में आये हो और अपना जीवन हिंसा में गला रहे हो। चाहो तो कल्याण तुमसे दूर नहीं है।' मुनिराज की आत्मा में से निकले इन उद्गारों को सिंहराज ने समझ लिया और उसने हिंसा का फिर त्याग कर दिया। बस इस जीवन से उसने अहिंसा की जो साधना की वह अभंग, अखंड चलती रही।

इसके बाद वे प्रियमित्र चक्रवर्ती बने षट् खण्डाधिपति। किन्तु धर्म का विस्मरण तब भी न कर सके। संसार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य, विलास की असीम सामग्री उनकी दासी थी। किन्तु दासी का भोग उन्होंने कभी न

किया। उनका जीवन जल से कमल की तरह पाप और वासनाओं के बीच भी अलिप्त था। एक पौरुषवान् व्यक्ति की तरह उन्होंने जो पाया, वह सब एक दिन साधक की तरह त्याग भी दिया। शारीरिक सुखों को पाने के लिये उन्होंने एक दिन संसार की सारी सम्पत्ति संग्रह कर ली थी, और एक दिन आत्मा के सुख के लिये उस सबको ठुकरा कर बन की ओर चल दिये। तब उन्होंने अहिंसा की जो सर्वाङ्ग सम्पूर्ण साधना की, उसके कारण ही उन्हें 'तीर्थङ्कर' बनने की सिद्धि मिल सकी। उसके चौथे जीवन में वे महावीर बन गये।

महावीर वैशाली के निकट कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला के उदर से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उत्पन्न हुए थे। जिस दिन से वे गर्भ में आये, पिता की सम्पत्ति, राज्य के धन-धान्यादि में वृद्धि होने लगी। ऐसे पुण्यवान थे वे। इसीलिये उनका नाम 'वर्धमान' रक्खा गया। उनको देखते ही आकाशचारी संजय और विजय के मन की शंकायें दूर हो गयीं। अतः उन्होंने भक्ति विभोर होकर बालक का नाम 'सन्मति' रख दिया।

महावीर को जन्म से ही अपूर्व सौन्दर्य, बल और ज्ञान मिला था। वे किसी पाठशाला में जाकर नहीं पढ़े। तीर्थङ्कर किसी पाठशाला में पढ़ते भी नहीं, वे तो इस लोक व्यापी शास्त्र को बड़ी गहराई से पढ़ते हैं। यह लोक ही उनकी पाठशाला होता है, स्वयं उसके गुरु होते हैं और स्वयं ही उसके छात्र होते हैं, अनुभव उनकी शिक्षा होता है और प्रयोग उसकी सार्थकता। महावीर भी इस लोक की पाठशाला में पढ़े थे। जीवन के प्रतिक्षण में होने वाले अनुभवों पर वे गहन, सूक्ष्म चिंतन करते और उससे वे सही निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करते। बुद्धि के बल पर लिखे गये शास्त्रों में वह तत्व कहाँ था, जो उनके चिंतनपूर्ण

अनुभवों में भरा पड़ा था। सारा लोक ही तो एक विशाल शास्त्र था, जिसे पढ़ने और समझने का वे निरन्तर प्रयत्न कर रहे थे। और जब उसे उन्होंने एक दिन पूरा जान लिया, तब वे सर्वज्ञ कहलाये थे। अस्तु!

अपने कुमार-काल में वे अत्यन्त निर्भय और साहसी थे। एक दिन नगर में एक मत्त हाथी बिगड़ उठा। नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। कुमार वर्धमान को ज्ञात हुआ तो दौड़े-दौड़े पहुँचे उस हाथी के पास और आनन-फानन में उसे अपने वश में कर लिया। लोगों ने देखा, वह मत्त हाथी उनके प्रिय राजकुमार की आज्ञा मानकर एक आज्ञाकारी बालक की भाँति चल रहा है।

और ऐसे ही एक दिन वे खेल रहे थे अपने बाल-सखाओं के संग। एक देव को सूझी उनके पराक्रम और साहस की परीक्षा करने की। वह भयंकर विषधर बनकर वहीं आकर फुँकारने लगा, जहाँ बालक खेल रहे थे। उसे देखते ही आतंक में भर कर बाल-सखा चीख-चिल्ला उठे और भाग खड़े हुये। किन्तु कुमार वर्धमान के जीवन में भय नाम की कोई चीज ही नहीं थी। वे निर्भीक भाव से सर्प के पास पहुँचे। उनकी दृष्टि में करुणा थी, और हृदय में निश्छल प्रेम। वे उछले कि फन उनके हाथ में, और उसके साथ ऐसे खेलने लगे, मानो वह उनका कोई बाल-सखा हो। देव अपने कृत्य पर लज्जित था। उसने हाथ जोड़ कर कहा—भगवन्! सचमुच ही तुम 'अतिवीर' हो।

यों ही उनका शैशव बीता और यौवन आया। यौवन आया, किन्तु यौवन की रंगीनियाँ नहीं आयीं, यौवन की मादकता न आई। यौवन कर्त्तव्य की प्रेरणा लेकर आया। वे राज-पुत्र थे, राजसी वैभव और गणतन्त्र की सत्ता प्रतीक्षा में खड़े-खड़े कुम्हला रहे थे। वे

अधिकार का त्याग कर रहे थे। और कर्तव्य में निरन्तर रत रहने लगे। किन्तु सांसारिक कर्तव्यों में भी आत्मिक कर्तव्य का एक क्षण भर को भी विस्मरण न कर सके। उनके सारे कर्म निष्काम थे। चिन्तन की प्रवृत्ति और भी वेगवती हो गई। अब उनके चिन्तन का रूप और क्षेत्र और भी व्यापक हो गया। पहले वे लोक के रुप, उसकी हर प्रवृत्ति के साथ आत्म-कर्तव्य का सम्बन्ध जोड़ने लगे। वे सदा विचारते रहते—लोक में बढ़ती हुई हिंसा, मांसाहार की प्रवृत्ति और लोक मानस में समाई हुई क्रूर वृत्ति को हटाने के लिये मैं क्या कुछ कर सकता हूँ। उसे हटाने के लिये उनका संकल्प निरन्तर तीव्रतर होता जा रहा था। साथ ही उनमें यह भावना भी प्रबल से प्रबलतर होती जा रही थी कि बिना सम्पूर्ण आत्म शुद्धि किये लोक-मानस को बदलना क्या निरी विडम्बना ही न होगी।

और जब यह संकल्प अपने अन्तिम विन्दु (Climax) पर जा पहुँचा तो तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने घर, राज्य और संसार की सारी वासनाओं को छोड़कर विराग ले लिया। वे किसी एक अँधेरी रात में गुपचुप उठ कर वन की ओर नहीं चल दिये। बल्कि उन्होंने अपने विराग की सबको सूचना दी, उसकी आवश्यकता से सबको सहमत किया और सबकी स्वीकृति से ही वे घर छोड़कर, अपरिग्रही बन कर, अकिंचन होकर ज्ञातृखंडवन में जाकर अशोक वृक्ष के नीचे ध्याना-रूढ़ हो गये। उनके आत्म-शोध और आत्म-शुद्धि का प्रारम्भ हो गया।

तपस्या कठिनाइयों का स्वेच्छा से ग्रहण है। कठिनाइयाँ शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक दृढ़ता की परीक्षायें होती हैं। बिना कठिनाइयों के सफलता पाने का कोई मजा नहीं। सफलता का रस ही

कठिनाइयों की मात्रा पर निर्भर है। महावीर लोक की जिस सर्वोच्च सिद्धि के लिये अग्रसर हो रहे थे, उसके लिये वैसी ही कठिनाइयाँ भी उनकी परीक्षा के लिये आ खड़ी हुईं।

वे कभी इन्द्रियों के निर्देश पर नहीं चले, मन की वासना के वश में वे कभी न हो पाये। इन्द्रियों और मन का उन्होंने कठोरता से नियमन किया। वे सदा तपस्या-रत रहते। कई-कई बार महीनों तक निराहार रहकर अपने विकारों को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करते रहते। वे एक स्थान पर न रह कर सदा विहार करते रहते। एक बार वे अनार्य लोगों के लाढ़ देश में जा पहुँचे। अनार्यों ने उनके साथ बड़ा अभद्र व्यवहार किया। उन्होंने अपने शिकारी कुत्तों को उन पर छोड़ा, और भी अनेक शारीरिक कष्ट दिये। किन्तु तपस्वी महावीर अहिंसा की सम्पूर्ण साधना का संकल्प ले चुके थे। उनके मन में उत्पातियों के विरुद्ध जरा भी आक्रोश न आ पाया। क्रोध और दुर्व्यवहार के विरुद्ध उन्होंने क्षमा का कवच धारण कर लिया। उनकी आक्रोशहीन मौन और क्षमाशील वृत्ति का अनार्यों पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्होंने भी अहिंसा की महानता के आगे अपना मस्तक झुका दिया, वे भी अहिंसा के भक्त बन गये।

महावीर बारह वर्ष तक नितान्त मौन रहे। आत्मा का सम्पूर्ण सत्य पाये बिना लोगों को देने लायक वे अपने पास कुछ पा न रहे थे। किन्तु उनके इस मौन में ही सत्य का जो भण्डार भरा पड़ा था, वह भी लोगों की निगाह से छुपा न रह सका। उसे पाकर ही वे निहाल हो उठते और उससे ही लोक-मानस में समाया हुआ असत्य के प्रति जो आग्रह था, मूढ़ता और अविवेक का जो मोह था, वह दूर होने लगा।

उन दिनों दास-प्रथा भारत में प्रचलित थी। इधर उधर से उड़ाई

गई सुन्दर स्त्रियाँ चौराहों पर खड़ी करके बेची जाती थीं। शायद श्रावस्ती इस व्यापार का मुख्य केन्द्र था। सुदूर यवन द्वीपों से सुन्दरी यवनियाँ भरुकच्छ बन्दरगाह पर पोतों द्वारा लाई जातीं और वहाँ से वे श्रावस्ती कौशाम्बी, वत्स, अवन्तिका आदि में भेज दी जातीं और यहाँ वे पशुओं की तरह बेची जातीं। देश के भीतरी भागों से भी इसी प्रकार स्त्रियाँ ला लाकर बेची जातीं। वैशाली के गणाधिप चेटक की पुत्री सुन्दरी चन्दनबाला भी राजोद्यान से उड़ा ली गई और कई व्यक्तियों को बेची गई, किन्तु कोई भी उसके शीलभंग में समर्थ न हो सका। अन्त में वह कौशाम्बी के चतुष्पथ पर नीलाम की गई। उसे वृषभसेन सेठ ने खरीद लिया और अपनी पुत्री की तरह उसका लालन-पालन करने लगा। किन्तु उसके इस स्नेह में सेठानी को कुत्सित प्रेम का आभास हुआ। फलतः सपत्नीत्व की आग में जलकर उसने चन्दना के केश काटकर उसे विरुप बनाने का प्रयत्न किया। उसके हाथों और पैरों में बन्धन डाल दिये। खाने को वह उड़द के बाकले देने लगी। तपस्वी महावीर एक बार आहार के लिये कौशाम्बी पधारे। राजमहल के सुस्वादु भोजनों की अपेक्षा उन्हें दासी चन्दना के हाथों के बाकले भाये। और इस तरह चन्दना के हाथ से बाकले ग्रहण करके उन्होंने जन-जन की आँखों में उँगली डालकर दास-प्रथा की वीभत्सता की ओर ध्यान आकृष्ट किया। फलतः दास-प्रथा धीरे-धीरे भारत से लुप्त होने लगी।

अस्थिग्राम में उन्होंने प्रथम चातुर्मास किया। अस्थिग्राम के नगर-वासी एक यक्ष से अत्यन्त त्रस्त थे, जो अंजनमाली के शरीर में प्रवेश करके जनता को त्रास दिया करता था। महावीर उसके चैत्य में ही जाकर तपस्या लीन हो गये। यक्ष क्रोध से भयंकर हो उठा। वह महावीर को मारने दौड़ा। किन्तु क्षमा के कवच पर क्रोध की बाणवर्षा का क्या

प्रभाव पड़ता। यक्ष क्षमामूर्ति के चरणों में लोट गया।

एक दिन महावीर श्वेताम्बी नगरी के बाहर जा रहे थे। लोगों ने उन्हें रोका—'तपस्वीराज! उधर दृष्टिविष सर्प है। उसकी विष-भरी फुंकार और दृष्टि से ही न जाने कितने प्राण गँवा चुके हैं। उधर मत जाइये।' किन्तु महावीर-अजातशत्रु महावीर को इसकी क्या चिन्ता। वे गये और सर्प के बिल के पास ही जाकर ध्यानारूढ़ हो गये। दृष्टिविष ने देखा। उसके लिए यह अपूर्व दृश्य था। कोई एक अजनवी स्वयं ही मौत को निमन्त्रण देने उसके पास आया था। वह भयंकर क्रोध से फुंकार उठा। ऊपर उड़ने वाले पक्षी तक उसकी विष-भरी फुंकार से नीचे गिर पड़े। किन्तु उस तपस्वीराज पर जैसे इसका कोई प्रभाव ही नहीं हो रहा था। निष्फल क्रोध निरुपाय होकर और भी भयंकर हो उठा। उसने बार-बार महावीर को काटना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु यह कैसा व्यक्ति था, जो न मरता था, न विचलित होता था। दृष्टिविष ने भर आँखें तपस्वी की ओर देखा। देखा और देखता ही रह गया। दृष्टि में एक सम्मोहन था। तपस्वीराज की सर्व-जीव-साम्य-भावना से वह क्रूर-मूक सर्पराज भी अभिभूत हो गया। उसके नेत्रों की दाहकता में भक्ति के कण झलझला उठे। वह आत्म-ग्लानि और पश्चाताप से भर उठा। उसे अपने कृत्य की लज्जा में मुँह छिपाना कठिन हो गया और तभी उसने संकल्प कर लिया—'इस दिव्य पुरुष के प्रति किये गये मेरे अपराधों का कोई अन्त नहीं। मैं अब संसार के सामने किस सुकृत को लेकर अपना सिर उठा सकूँगा। मेरे अपराधों का जो भी दण्ड हो, वह भी थोड़ा होगा। अतः मैं आज से अपना कृष्ण मुख दुनिया को न दिखाऊँगा।' और तभी से वह प्रायश्चित की अग्नि में अपने आपको जलाने लगा अपना फन बिल के अन्दर किये और

शेष शरीर बिल के बाहर किये। धीरे-धीरे आतंक कम होने लगा। लोग उस मार्ग पर होकर आने-जाने लगे। कुछ मनचले अब दृष्टि-विष को मरा हुआ जानकर ढेले मारते और वह सर्प अपने असीम पापों का तुच्छ सा दण्ड समझ कर शान्त भाव से सह जाता। अब स्थिति यह हो गई कि उसकी देह त्रुटियल होकर क्षत-विक्षत हो गई। जगह-जगह से रक्त बहने लगा। अब चींटियाँ आकर उसे काटने लगीं। किन्तु एक समय का वह दृष्टिविष सर्प अब पीड़ा उठा कर भी इसलिए करवट नहीं बदलता कि कहीं ये छोटी-मोटी चींटियाँ दबकर मर न जायँ। तपस्वी महावीर की अहिंसक साधना का यह दिव्य चमत्कार था!

बारह वर्ष तक महावीर ने दुर्धर तपश्चरण किया। किसी ने उनके कानों में कीलें ठोक दीं और कोई अर्घ्य लेकर उनके समक्ष आया, किसी ने उन पर पत्थर बरसाये और किसी ने उनके मार्ग में पुष्प बिखेरे। किन्तु वे दोनों के प्रति ही समदृष्टि थे। न राग था और न द्वेष। उनके तपस्या से दीप्त बलिष्ठ और सुन्दर शरीर पर मुग्ध होकर अनेकों ललनायें उनसे काम-याचना करतीं, अपना प्रणय निवेदन करतीं और कई प्रगल्भा तो निर्लज्ज बनकर अपनी देह तक उनके शरीर से घिसतीं। किन्तु उनके मन में वासना जाग्रत न होती। कामदेव को जीत जो लिया था उन्होंने। इस प्रकार मोह ने लगातार बारह वर्ष तक अपने विविध अनुचरों को भेजकर पद-पद पर परीक्षा ली। किन्तु अन्त में जृम्भक ग्राम के निकट, ऋजुकूला नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दशमी को अन्तिम रूप में और सदा के लिए मोह पराजित हो गया। राग और द्वेष पर, मोह और माया पर, मोहनीय कर्म पर विजय पाकर, शेष घातिया कर्मों को नष्ट कर महावीर को कैवल्य की प्राप्ति हो गई।

वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन गये। वे जीवन्मुक्त परमात्मा बन गये। इस आत्म-विजय द्वारा ही वस्तुतः उनको 'महावीर' संज्ञा प्राप्त हुई।

अब उन्होंने अपना मौन-भंग करके जगत् को कल्याण मार्ग बताना प्रारम्भ किया। उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। उनका यह प्रवर्तन ही तीर्थ-प्रवर्तन था, जिसके कारण वे तीर्थङ्कर कहलाये। अब वे मोक्ष-मार्ग के उपदेश के सच्चे अधिकारी बन सके। उन्होंने काशी, कोशल, कुसंध्य, अश्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पंचाल, भद्रकार, पाटच्चर, मौभ, मत्स्य, सूरसेन, कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कांबोज, बाल्हीक, यवनश्रुति, सिंधु, गान्धार, सुरभीरु, दशेरुक, वाड्वान, भारद्वाज, काय-तोय, तार्ण, कार्ण, प्रच्छाल आदि प्रदेशों में विहार करके लोक में व्याप्त अज्ञान अन्धकार को दूर किया। उन्होंने भूले हुए जगत् को पुनः एक नई दृष्टि दी कि धर्म का मूल अहिंसा है। हिंसा पर आधारित कोई कृत्य धर्म नहीं हो सकता। वह हिंसा चाहे धर्म के नाम पर की गई हो, पितरों और देवताओं के नाम पर की गई हो अथवा जीभ के स्वाद के लिये की गई हो, वह सभी अधर्म है, पाप है।

जनता वैदिक कर्म-कांड के व्यापक प्रचार के कारण तेईसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों को भूलती जा रही थी। ऐसे ही समय में भगवान् महावीर ने अहिंसा की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिये देशव्यापी विहार किया। उनके प्रभावक और तेजस्वी व्यक्तित्व, सर्वज्ञता और महान् अहिंसा-सिद्धान्त के कारण वैदिक क्रियाकांड में घुसी हुई हिंसा की धज्जियाँ उड़ने लगीं। हिंसा के ऊपर खड़े किये गये अपने धर्म के किले को हिलते देखकर बड़े-बड़े वैदिक विद्वान् भगवान् महावीर के साथ शास्त्रार्थ करने और उन्हें पराजित करने का दम्भ लेकर आये। किन्तु वे भगवान् के वीतराग रूप से ही कुछ ऐसे हतप्रभ हो गये कि

उनका दम्भ पानी-पानी हो गया। सबसे प्रथम विहार प्रदेश का सर्वाधिक विश्रुत वैदिक विद्वान् गौतम अपने पाँच सौ शिष्यों को लेकर आया और आया तो महावीर का शिष्य बनकर उनके साथ ही लग लिया, उनका ही हो रहा। ऐसे-ऐसे दस और विद्वान् दलबद्ध होकर आये और पहाड़ के नीचे आकर ऊँटों का यह दल अपनी महानता का दम्भ भूल गया। वह दल महावीर का शिष्य बन गया। ये ग्यारह प्रकांड विद्वान् ही भगवान् महावीर के गणधर कहलाये।

भ० महावीर के उपदेश वस्तुतः नवीन न थे, प्राचीन तीर्थङ्करों के उपदेशों के ही नवीन संस्करण थे। वे उपदेशमात्र ही न थे, यह एक महान् क्रान्ति थी, जिसने लोक मानस में व्याप्त सारे मूल्यों में महान् परिवर्तन ला दिया। यह जगत् की तत्कालीन मान्यताओं के विरुद्ध नवीन मूल्यों की स्थापना थी। उनके उपदेश प्राणी-मात्र के कल्याण के लिये थे। सभी को उनके धर्म के पालन का अधिकार प्राप्त था, सभी को उनकी उपदेश-सभा (समवशरण) में जाने का अधिकार था। देव और मानव, पशु और पक्षी समान रूप से उस सभा में जाते थे। धार्मिक एकाधिकार के विरुद्ध यह आध्यात्मिक जनतन्त्र था, जिसमें उच्च-नीच की कल्पना और वर्ग-भेद की किसी मान्यता को कोई स्थान न था। इस जीव-साम्य का केवल यही एक बाह्य पहलू न था कि सबको विकास का समान अधिकार है, सबको विकास का समान अवसर है, बल्कि सबमें जीने की समान इच्छा है, सबको प्राण समान प्रिय है, इसलिये किसी को सताने और मारने का भी हमारा अधिकार नहीं है, यह उस जीव-साम्य का आन्तरिक पहलू था और जिसे समझाना ही उस क्रान्ति का एक मात्र उद्देश्य था। इस आध्यात्मिक जनतन्त्र में सारे प्राणी एक स्थान पर आकर बैठते थे, इतना ही नहीं, बल्कि सहज विरोधी

प्राणी भी—साँप और नेवला, सिंह और गाय, भेड़िया और बकरा भी एक साथ बैठते थे और उनमें न मारने की भावना रहती थी और न मरने का भय। सभी निर्भय, निर्वैर हो जाते थे। वास्तव में महावीर अहिंसा के साकार रूप थे। उनके प्रभाव से वैर-त्याग एक साधारण बात थी।

भाषा के सम्बन्ध में लोक में एक विशेष मान्यता बद्धमूल हो रही थी। संस्कृत भाषा धार्मिक वाङ्मय और आभिजात्य वर्ग के लिये अनिवार्य थी। एक भाषा के प्रति इस व्यामोह ने स्त्री और शूद्रों के विरुद्ध एक घृणा की भावना फैला रक्खी थी, बल्कि इससे अन्य भाषाओं का विकास भी अवरुद्ध हो गया था। भ० महावीर के उपदेश लोक-भाषा में होते थे, जिसका नाम अर्ध मागधी था।

उस युग में सारे लोक-मानस को चतुर्मुखी जड़ता ने घेर रक्खा था। लोगों का विश्वास था कि जो उनका है, वही सत्य है, और सब तो मिथ्या है। इस तरह सत्य को अपनी मान्यताओं में जकड़ कर पंगु बना दिया था। सत्य व्यापक है, सापेक्ष है, उनकी मान्यताओं के बाहर भी वह मिल सकता है, ऐसी समझ उनमें जग नहीं पाई थी। इससे सत्य विकसित नहीं हो पा रहा था। सत्य निश्चित ग्रन्थों के अलावा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता, इस मान्यता से सत्य के अन्वेषण और शोध को कोई अवकाश ही नहीं रह गया था। भ० महावीर ने तब लोक को एक नई दृष्टि दी। वह दृष्टि थी सत्य-शोध की। उन्होंने कहा था—सत्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। वस्तु के अनेक पहलू होते हैं। उसके एक पहलू को ही सत्य मान बैठना शेष पहलुओं का जान-बूझकर तिरस्कार करना है। उसके एक पहलू में ही समग्र सत्य के दर्शन पा लेना असंभव है। यदि तुम्हें सत्य पाना है तो सत्य के शोध की तुम्हारी

इच्छा सतत जागरुक रहनी चाहिये। उसका उपाय है कि तुम दूसरे की मान्यता का आदर करना सीखो। उसमें सत्य ढूँढ़ने की ओर तुम्हारी वृत्ति लग जाय।

और भी एक दृष्टि उन्होंने दी। जन-जन के मन में यह धारणा बद्ध-मूल थी कि जगत् का नियमन ईश्वर नाम की एक अलौकिक शक्ति करती है। वही हमारे पुण्य और पाप का फल देती है। वह सर्व शक्ति-मान् है। उसके तोष से दिव्य भोग और रोष से रौरव नरक मिलता है। कर्म करने का ही तुम्हारा अधिकार है, फल तो उसके आधीन है। इस मान्यता ने 'व्यक्ति में अनन्त शक्ति है' इस तथ्य को समझने का कभी अवसर ही नहीं दिया। अतः भगवान् महावीर ने कहा—सारे प्राणियों में अनन्त शक्ति निहित है। उसका उद्घाटन करना उसके ऊपर ही निर्भर है। वह अपने ही कर्मों के पाश में जकड़ा हुआ है। उसे कर्म करने का अधिकार है। यदि उसे अपनी शक्ति का भान हो जाय और अपने चरम विकास का संकल्प दृढ़ हो जाय तो उसमें कर्म के फल को बदलने की भी क्षमता है। इस प्रकार वह जहाँ कर्म करने में स्वतन्त्र है, वहाँ कर्म-फल के भोग में भी वह स्वतन्त्र है। वह दृढ़ संकल्प लेकर यदि चाहे तो अपना चरम विकास कर सकता है और इन कर्मों के पाश को काटकर स्वयं परमात्मा बन सकता है। इस आत्म-विकास के अवरुद्ध मार्ग को भगवान् महावीर ने एक बार फिर खोल दिया।

भ० महावीर ने अपने उपदेशों द्वारा जन-जन को एक नई दृष्टि दी। इससे जन-जन के मानस में अपनी मान्यताओं की सत्यता को परखने का एक नया प्रकाश जगा। इस प्रकाश में उन्होंने देखा कि 'अब तक हम अपने आपको जो समझ रहे थे, वस्तुतः हम वे नहीं हैं। अब तक हम समझ रहे थे कि सत्य हमने पा लिया, किन्तु सत्य

तो अभी हमसे बहुत दूर है। सत्य का हमारा सारा व्यामोह मिथ्या के ऊपर टिका था। हम समझ रहे थे—हिंसा धर्म है, क्योंकि वेदों ने कहा है, ऋषियों ने कहा है, पुरोहितों ने कहा है। हम समझ रहे थे—देवता बलि से प्रसन्न होते हैं क्योंकि वेदों ने कहा है, ऋषियों ने कहा है, पुरोहितों ने कहा है। हम समझ रहे थे—पितर हमारे दिये मांस से ही तृप्त होंगे, अतिथि सेवा का पुण्य मांस खिलाये बिना नहीं मिलने वाला है, क्योंकि यह वेदों, स्मृतियों और पुराणों ने कहा है। अपने इन्हीं विश्वासों के कारण हम अब तक घोर हिंसा करते रहे, हमारे देवता क्रूर हिंसक बने रहे, यज्ञों के हवन-कुंड और देवताओं की वेदिकायें अगणित पशुओं की करुण चीत्कारों और रक्त से भरे रहे। वधिक के वधालय और हमारे इन पवित्र धर्म-स्थानों में क्या अन्तर रहा, हम अब तक जान न पाये। भगवान् महावीर ने आज हमें इस सत्य के दर्शन कराये हैं कि 'हिंसा अगर धर्म है तो अधर्म क्या है! हिंसा पाप है, वह सब परिस्थितियों, सब स्थानों और सब कालों में पाप है।' हम भी अब समझ गये हैं कि हिंसा पाप है। हमारा अब तक का जीवन पापों में बीता और सबसे बड़ी विडम्बना तो यह है कि हमने ये पाप धर्म के नाम पर कमाये। कभी हममें आत्म-विकास की वृत्ति न जागी। कभी हमने आत्म-शक्ति न पहचानी। हमारी सारी मान्यतायें मिथ्या थीं, हमारे सारे आचार, सारे विश्वास, सब कुछ मिथ्या थे।'

यह था लोक-मानस के उस परिस्पन्द का चित्र, जो महावीर के उपदेशों के फलस्वरूप हुआ। पुरानी मान्यतायें टूट-टूटकर गिरने लगीं, नये मूल्य उभरने लगे। न केवल मानवीय मूल्य ही बदले, बल्कि मूल्य स्थिर करने के दृष्टिकोण भी बदल गये। तब सभी अहिंसा की ही भाषा में सोचने लगे, अहिंसा की भाषा में ही बोलने लगे। तब श्रुति

और स्मृतियों के अर्थ बदलने लगे, धार्मिक विश्वास और आचार बदलने लगे। शास्त्रीय मान्यतायें और कल्पनायें बदलने लगीं।

यह भगवान् महावीर का ही लोकोत्तर प्रभाव था कि उन्होंने अहिंसा का जो व्यापक आन्दोलन और प्रचार किया, उसके फलस्वरूप भारत में बाद के सारे धर्मों का विकास अहिंसा के आधार पर ही हुआ। यहाँ अहिंसा की जो प्रतिष्ठा उस समय हुई, उसी के संस्कार अब तक भी भारतीयों में जीवित हैं। और उसी के फलस्वरूप विदेशों में भी अनेक सम्प्रदाय अहिंसा मूलक विश्वासों पर ही पल्लवित हुए। भ० महावीर की अहिंसा का समुचित मूल्यांकन तब तक नहीं हो सकता, जब तक हम उस काल में धार्मिक और व्यक्तिगत जीवन में व्याप्त हिंसा का ठीक आंकलन न करें अथवा इसे इस विरोधी पहलू से न सोचें कि अगर भ० महावीर न होते तो आज देवालयों के रूप क्या होते और भारतीय जनता में मांसाहार की प्रवृत्ति वर्तमान की अपेक्षा कितनी अधिक होती ?

वास्तव में भ० महावीर ने अहिंसा का प्रयोग सार्वत्रिक और सार्व कालिक बताया था किन्तु उस युग में व्यक्तिगत आचार धार्मिक व्यव-हार और वैचारिक क्षेत्र में हिंसा का जो वेग था, उसके कारण अहिंसा को इन्हीं क्षेत्रों में प्रयुक्त होने का अवसर मिला और उन क्षेत्रों में वह पूरी तौर पर, असंदिग्ध रूप में सफल रही।

जैनधर्म भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्ररुपित सिद्धान्तों पर आधारित है। उन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या समय-समय पर विभिन्न तीर्थङ्करों ने की थी। किन्तु वह जिस रूप में हमें आज मिलता है, उससे भ० महावीर का साक्षात् सम्बन्ध है, क्योंकि वे अन्तिम तीर्थङ्कर हैं और शास्ता हैं। अतः यह मानकर चलना होगा कि वर्तमान जैन वाङ्मय का साक्षात्

सम्बन्ध भगवान् महावीर से है। हमने भी प्रस्तुत पुस्तक में अहिंसा संबंधी जैन मान्यताओं पर जो प्रकाश डाला है, वह जैन वाङ्मय के आधार पर ही है। इसलिये इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि इस पुस्तक में अहिंसा के सम्बन्ध में जैन मान्यताओं को लेकर जो कुछ कहा गया है, वह भगवान् महावीर का ही उपदेश है। अस्तु

इस प्रकार आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत ने एक ऐसा दिव्य महापुरुष उत्पन्न किया, जिसके कारण सारे भारत का मस्तक गौरव से ऊँचा उठ सका। उस महापुरुष ने कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में ७२ वर्ष की आयु में निर्वाण-लाभ किया। भारतवासी कृतज्ञता के रूप में उसकी स्मृति में आज तक दीपावली मनाते आ रहे हैं।

———

—3—

अहिंसा की परिभाषा

इस प्राणी-जगत् में मनुष्य, पशु, पक्षी और सम्पूर्ण चराचर प्राणी एक दूसरे पर निर्भर हैं। अपनी सत्ता की सुरक्षा करते हुए भी वे एक दूसरे का पारस्परिक उपकार करते हैं।[1] इस नाते प्राणियों का एक पारस्परिक सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध की नींव पर ही प्राणी-जगत् का अस्तित्व और विकास निर्भर करता है। कल्पना कीजिये, यदि विश्व में मैं अकेला ही होता तो क्या कभी मेरे साथ दूसरों के सम्बन्धों का प्रश्न सामने आता? और यदि यह प्रश्न सामने न आता तो क्या विश्व में हिंसा-अहिंसा की भी कोई समस्या उपस्थित होती? इसका अर्थ यह हुआ कि प्राणियों के पारस्परिक सम्बन्ध में से हिंसा अहिंसा का प्रश्न उपजा है और इसीलिये उसका समाधान भी उस सम्बन्ध में ही खोजना होगा।

अहिंसा की आवश्यकता क्यों

जगत् के सारे प्राणियों की भावनायें समान हैं, इच्छायें समान हैं, अभिलाषायें समान हैं। सभी प्राणी सुख की वांछा करते हैं, दुःख से डरते हैं। सभी प्राणियों को अपने प्राण प्रिय[2] हैं, कोई मरना नहीं चाहता। यदि प्राणी की इस इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य किया जाता

१—तत्वार्थ सूत्र अ० ५ सू० २१

२—सव्वे पाणा पिआ उसो

है तो असंदिग्ध रूप से उसे दुःख का अनुभव होता है। सामान्यतः मृत्यु जगत् में सबसे बड़ी विभीषिका है, और वही सबसे बड़ा दुःख है। इसलिये हर प्राणी मृत्यु के दुःख से बचना चाहता है।

दुःख के इस दृष्टिकोण को लेकर मेरा दूसरे प्राणियों के साथ जो सम्बन्ध होगा, वही हिंसा-अहिंसा की कसौटी होगा।

तब प्रश्न है कि दूसरों के साथ मेरा वह सम्बन्ध किस प्रकार का हो। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सरल है। निश्चय ही मेरे और दूसरे प्राणी के सम्बन्ध के बीच प्राणियों की स्वाभाविक सामान्य इच्छा की मान्यता रहनी ही चाहिये और इस प्रकार वह सम्बन्ध उस इच्छा के द्वारा नियन्त्रित रहना चाहिए। इसे और भी अधिक स्पष्टता के साथ समझें कि मेरे और दूसरे प्राणी के सम्बन्ध का नियामक मेरा दूसरे के प्रति वह व्यवहार होना चाहिये, जिसकी अपेक्षा मैं अपने लिए दूसरों से करता हूँ। मेरी सतत इच्छा रहती है कि मेरे प्राणों का कोई विनाश न करे, कोई मुझे किसी प्रकार की पीड़ा न दे। यही इच्छा दूसरे प्राणी की भी रहती है। अतः मेरा व्यवहार उसके प्रति यही रहे कि मैं उसके प्राणों का विनाश न करूँ, उसे अपने व्यवहार से किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव होने का अवसर न[1] दूँ। यदि प्राणियों की पारस्परिक निर्भरता का नियामक परस्पर का यह व्यवहार हो तो प्राणी जगत् में एक दूसरे के प्रति अभियोग-आक्षेप का अवसर न रहे। तब निश्चय ही सभी प्राणी वास्तविक अर्थों में एक दूसरे के उपकार में अपना सम्पूर्ण योग-दान कर सकें।

जगत् में इस स्थिति की उपादेयता सभी क्षेत्रों में स्वीकृत होने पर

१—यशस्तिलक आश्वास ४ पृ० ६७

भी हम अपने व्यवहार का नियमन प्रायः इस रूप में नहीं करते, जिससे यह उपादेय स्थिति विश्व में आ सके।

अहिंसा का रूप निषेधात्मक नहीं है

हम दूसरे के सुख की स्वाभाविक इच्छा का सम्मान नहीं करते, दूसरे हमारे सुख की सहज कामना को ठुकरा देते हैं। हमारे व्यवहार से दूसरे को पीड़ा होती है और दूसरे का व्यवहार हमारी सतत पीड़ा का कारण बन जाता है। लोक में पीड़ा का यह सतत प्रवाह हमारे व्यवहार के कारण हो रहा है। इस प्रकार हमारा यह व्यवहार विध्यात्मक हो गया है। यह व्यवहार नहीं होना चाहिये, इस प्रकार कर्त्तव्य की प्रेरणा में से जो रूप निपजा है, वह निषेधात्मक बन गया है। फलतः अहिंसा विधेय होने पर भी निषेधात्मक है। अहिंसा के लिये निषेध परक शब्द का व्यवहार करने का एक और भी कारण रहा है। इस मानव सृष्टि के आदि काल से ही मानव प्रमादी रहा है। वह सदा से ही अपने सुख की निरन्तर चेष्टा करता रहा है। उसकी इस चेष्टा से उसके जाने या अनजाने दूसरे प्राणियों को त्रास मिलता रहा है। जब पाँचों इन्द्रियों, मन और विवेक के स्वामी मानव की यह दशा रही है तो उन प्राणियों के सम्बन्ध में तो क्या कहा जाय, जो इन्द्रियों, मन, और विवेक में से किसी एक से या एकाधिक वस्तुओं से वंचित रहे हैं। इसलिये मानव को और मानव के उपलक्षण से दूसरे प्राणियों को उसके इस प्रमाद से सावधान करने के लिये बार-बार यह कहना पड़ा है—तू यह मत कर, तू वह मत कर किन्तु अहिंसा ने निषेध परक शब्द पाकर भी विधायक रूप ही पाया है। और उसका विधायक रूप रहा है—दूसरों के और अपने सुख की इच्छा का सम्मान और यह सुख दूसरों के और अपने प्राणों के नष्ट न करने के द्वारा ही मिल पाता है।

संक्षेप में हमें हिंसा और अहिंसा को समझना हो तो हम कह सकते हैं कि प्रमत्त मन, वाणी और शरीर द्वारा दूसरों के अथवा अपने प्राणों का विनाश कर देना हिंसा है[1] और उसके विपरीत अर्थात् विनाश न करना अहिंसा है।

अहिंसा की परिभाषा

मन, वाणी और शरीर इनके प्रमाद से प्रयोजन है कि जब क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के द्वारा अथवा इनमें से किसी के द्वारा मन, वाणी और शरीर, जिन्हें तीन योग भी कहा जाता है, अभिभूत हों, ऐसी दशा में स्व-पर प्राणों का विघात कर देना हिंसा कहलाती है।[2]

अथवा स्त्री कथा, रागोत्पादक कथा, भोजन सम्बन्धी कथा, राष्ट्रों विषयक कथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय, निद्रा और प्रणय इन पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में से किसी के द्वारा स्व-पर प्राणों का विनाश कर देना हिंसा[3] है।

हिंसा-अहिंसा को ठीक दिशा में समझने के लिये प्राणों के सम्बन्ध में जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। प्राण दो प्रकार के हैं—द्रव्य और भाव। द्रव्य प्राणों से प्रयोजन है—पाँच इन्द्रियाँ (स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षु इन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय), मनोबल, वचन बल, काय बल, श्वासोच्छ्वास और आयु बल ये दस प्राण। इसी

१—तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सू० १३

२—पुरुषार्थ सिद्धयुप.य ४३

३—तत्वार्थ सूत्र की सुख बोध वृत्ति। पृ० १६१
सूत्र कृतांग आचार्य शीलाङ्क (सू० टी०)

प्रकार भाव प्राणों से तात्पर्य है—आत्मा के शान्ति, सुख, निराकुलता, ज्ञान आदि गुण।

पूर्वोक्त पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में से किसी के द्वारा अपने अथवा दूसरे प्राणी के इन द्रव्य और भाव प्राणों का विघात या वियोग कर देना ही हिंसा है।

द्रव्य प्राणों का विनाश कर देने का अर्थ मार देने या मर जाने के रूप में सभी भली-भाँति जानते हैं। किन्तु प्राणी के इन बाहरी और प्रगट प्राणों के अतिरिक्त आन्तरिक प्राण भी होते हैं, इस पर जैन शासन में विशेष बल दिया गया है। इन आन्तरिक प्राणों-आत्मिक गुणों का विनाश राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा आदि द्वारा होता है। वास्तव में इन विकारों की जागृति और प्रादुर्भाव होने से आत्मा के गुणों का विघात हो जाता है। उदाहरण के रूप में क्रोध से आत्मा की शान्ति नष्ट होती है, मान से मृदुता, माया से ऋजुता और लोभ से शुचिता तिरोहित हो जाती है।

इस पूर्वोक्त विवरण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि निजी और अन्य के द्रव्य और भाव प्राणों के विनाश से हिंसा के चार रूप हो जाते हैं—१ स्वभाव हिंसा, २ स्व द्रव्य हिंसा, ३ पर भाव हिंसा और ४ पर द्रव्य हिंसा।

द्रव्य और भाव हिंसा

किसी परिस्थिति वश, बाध्यता या आवेश में एक व्यक्ति जब आत्मघात के लिये उद्यत होता है, उस समय उसके मन में जो अन्तर्द्वन्द्व होता है, आकुलता का विराट् विद्रूप उसके सामने आ खड़ा होता है, उसके कारण उसके मन की शान्ति और सन्तोष, उसकी आत्मा का सुख और शुचिता नष्ट

हो जाती है। यह उसकी स्वभाव प्राण-हिंसा है।

किसी शस्त्र से, विष से, ऊपर से कूदकर, रेल के आगे लेटकर, गले में फन्दा लगा कर, पेट्रोल आदि छिड़क कर और आग लगा कर अथवा दूसरी किसी विधि से यदि वह अपघात कर लेता है, तो यह उसकी स्व द्रव्य प्राण-हिंसा हुई।

सम्भव है, व्यक्ति अपघात का प्रयत्न करने पर भी वह सफल न हो सके, न मर सके, किन्तु न मरने पर भी उसने आत्मघात तो कर ही लिया, क्योंकि उसकी आत्मा की शान्ति और सुख तो उतने समय के लिये नष्ट हो ही गये। और यदि वह अपघात करने में सफल भी हो जाता है तो आत्मा की—जो वास्तव में अविनश्वर है—बाह्य प्राणों-आयु, श्वासोछ्वास आदि के विनाश से वास्तव में ही कोई उल्लेख योग्य हानि नहीं हुई। जन्म और मृत्यु की परम्परा में उस आत्मा को मृत्यु के पश्चात् नवीन जीवन में ये प्राण तो फिर भी मिल जाने संभव हैं। उसकी वास्तविक हानि तो उसके आन्तरिक गुणों के विनाश में है। इस दृष्टि से इन दोनों ही स्व हिंसाओं में स्वभाव-हिंसा अधिक उल्लेख योग्य है और वास्तव में स्वभाव-हिंसा के कारण ही स्व द्रव्य प्राणों का विघात हिंसा की कोटि में गिना जा सका है।

स्व भाव और द्रव्य प्राणों की हिंसा की तरह व्यक्ति दूसरे प्राणों के भाव और द्रव्य प्राणों की हिंसा भी करता है। जब वह अपनी प्रवृत्ति या किसी कार्य के द्वारा दूसरे प्राणी के मन में क्षोभ, मोह, लोभ आदि उत्पन्न करके उसकी मानसिक शान्ति भंग कर देता है, उसे आत्मिक सुख से वंचित कर देता है, तब वह व्यक्ति उस प्राणी के भाव-प्राणों की हिंसा करता है। और जब वह उस प्राणी के बाह्य प्राणों का विनाश करता है, तब वह उसके द्रव्य प्राणों की हिंसा करता है।

विश्व में आज ऐसे कितने व्यक्ति होंगे, जो भगवान् महावीर द्वारा बताये जीवन के इस सत्य से परिचित हों। वास्तव में यह एक विडम्बना ही है कि व्यक्ति दूसरे को मार कर आत्म-सन्तोष की छलना करता है किन्तु उसे यह आभास तक नहीं होता कि वह जब क्रोधाविष्ट होकर, अभिमान वश, धोखा देकर या स्वार्थ से प्रेरित होकर दूसरे को मारने को उद्यत होता है तो दूसरा व्यक्ति मरे या न मरे, मारने वाले ने तो आत्म-हिंसा कर[1] ही ली, क्योंकि वह अपने गुणों से उतने समय तक वंचित रहा।

इसी दृष्टिकोण से भगवान् महावीर ने हिंसा और अहिंसा की व्यापक व्याख्या करते हुए उद्घोषणा की कि राग, द्वेष आदि का आत्मा में प्रादुर्भाव हो जाना ही हिंसा है और इन विकृतियों का उत्पन्न न होना अहिंसा[2] है।

वास्तव में हिंसा और अहिंसा की कसौटी ये विकृतियाँ हैं।

अहिंसा की इस आभ्यन्तरोन्मुखी व्याख्या के कारण एक समस्या अवश्य उपस्थित हो जाती है—क्या इस प्रकार की अहिंसा विश्व के सम्पूर्ण व्यक्तियों के लिये संभव है? क्या इन विकृतियों से अपने आपको सुरक्षित रखना सबके लिये संभव है? निश्चय ही सबके लिये यह संभव नहीं है कि मन में किसी प्रकार का क्रोध, अभिमान, छलना, स्वार्थ-मोह आदि उत्पन्न न होने दें, वचन और शरीर से इन विकारों को झाँकने न दें। और फिर इन त्रियोगों से न

अहिंसा पालन के दो प्रकार

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४६-४७

२—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४४

स्वयं हिंसा करें, न दूसरों को हिंसा की प्रेरणा दें और न हिंसा के कार्यों में अपनी कोई सहमति प्रगट करें। व्यावहारिक जगत् में न सबकी परिस्थितियाँ इसके अनुकूल हैं और न सबमें इस प्रकार की इच्छा या शक्ति ही है। अतः आध्यात्मिक जीवन को दो विभागों में बाँट दिया। एक वे व्यक्ति, जो सम्पूर्ण सांसारिक वासनाओं पर विजय पाकर, मोह के सम्पूर्ण जालों से निकल कर उच्च साधनामय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। दूसरे वे व्यक्ति, जिन्हें जगत् के विभिन्न क्षेत्रों में व्यावहारिक और सक्रिय सहयोग देना पड़ता है और मर्यादाओं को लेकर जो आध्यात्मिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। पहले प्रकार के व्यक्ति गृहत्यागी होते हैं, जो निर्ग्रन्थ मुनि कहलाते हैं। दूसरे व्यक्ति श्रावक कहलाते हैं। मुनि हिंसा का सर्वथा त्याग कर देते हैं। वे मन, वचन, काय से और कृत कारित अनुमोदन रूप किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते।[1] किन्तु श्रावकों को अनेकों सांसारिक दायित्व ओढ़ने पड़ते हैं। अतः वे त्रस-जीवों की हिंसा का त्याग कर देते हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, जो स्थावर जीव कहलाते हैं, इनकी हिंसा का त्याग अशक्य होने पर भी इनकी भी वृथा हिंसा का त्याग कर देते हैं।[2]

यहाँ त्रसजीवों से आशय जगत् के उन सभी जीवों से हैं, जिनमें से किन्हीं के केवल स्पर्शनेन्द्रिय और जिह्वा ये दो ही इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे लट, गिंडोये आदि; किन्हीं के केवल स्पर्शन, जिह्वा और नाक ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे चींटी, चींटा, जूँ आदि; किन्हीं के इन तीन इन्द्रियों के अतिरिक्त आँखें और होती हैं, जैसे भौंरा, बिच्छू-

---

१—आचाराङ्ग निर्युक्ति पृ० १६४ (उत्त०)

२—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ७५-७६-७७

ततैया आदि; और किन्हीं के स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं, जैसे पशु-पक्षी, मनुष्य, देव, नारकी आदि।

संक्षेपतः अहिंसा को सशर्त और परिस्थितिवश एक निश्चित मर्यादा में पालने वाले गृहस्थी होते हैं, जबकि गृहत्यागी मुनियों के लिये अहिंसा का पालन बिना शर्त और मर्यादा के सर्वाङ्ग रूप से उनके आवश्यक कर्त्तव्यों में बताया गया है।

वैसे देखा जाय तो अहिंसा का इस प्रकार का सर्वाङ्ग पालन अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, शक्ति की दृष्टि से नहीं, किन्तु इस दृष्टि से कि सारे लोक में, जल में, थल में, आकाश में सर्वत्र ही तो जीव व्याप्त हैं। मनुष्य सारे आचार-विचार और आहार-विहार का नियमन करके भी जीव-हिंसा से क्या बचा रह सकता है ?[1] उसके शरीर के अंग संचालन और यहाँ तक कि उसकी श्वास और शरीर की वायु तक से सूक्ष्म जीवों का विघात अनिवार्य है। इस प्रकार की शंका का मन में उदय होना संभव है। किन्तु जब हम एक जैनमुनि के आचार-विचार का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं और उसके आहार-विहार का एक तटस्थ प्रेक्षक के रूप में गहराई से अध्ययन करते हैं तो हम पाते हैं कि जैन-मुनि महान् संयमी होते हैं। वे यथाशक्य जीव-हिंसा से बचने का प्रयत्न करते हैं, सम्पूर्ण चेतन जगत् के प्रति उनका आत्मौपम्य-दर्शन अत्यन्त तेजस्वी होता है। इसलिये संयमी जीवन के नाते हिंसा संभव नहीं है।[2] वास्तव में तो 'अहिंसा का सर्वाङ्ग पालन संभव है या नहीं' इस प्रकार का विकल्प तभी संभव है, जब एक संयमी जीवन का माप

१—राजवार्तिकालंकार अ० ७ पृ० २७६

२— ,, ,, ,,

हम अपनी संकीर्ण दृष्टि और सीमित शक्ति के पैमाने से करने लगते हैं, क्योंकि एक संयमी का जीवन जगत् के सामान्य जीवन से विलक्षण होता है।[१] अस्तु

इसी प्रकार सशर्त और मर्यादित अहिंसा का पालन करने वाले गृहस्थी जनों के समक्ष भी अहिंसा की दृष्टि से कई समस्यायें आती हैं—(१) एक गृहस्थ को अपने पारिवारिक जीवन में अग्नि जलानी पड़ती है, बुहारी लगानी पड़ती है, घर के अन्य काम करने पड़ते हैं। इन सबमें हिंसा होती है। (२) वह जीवन-निर्वाह की जिस भी प्रणाली को अपनाता है, वह जो भी उद्योग-व्यवसाय करता है। उसमें ही कम या अधिक हिंसा अवश्य होती है। (३) कई बार उसके समक्ष समस्या आ खड़ी होती है, जब कोई दुष्ट प्रकृति (गुण्डा) मा बहन की लज्जा के अपहरण का प्रयत्न करता है; कभी कोई चोर-डाकू हमारा धन लूटने का दुस्साहस कर बैठता है; कभी कोई शत्रु हमारी मातृभूमि पर आक्रमण करके उसे गुलाम बनाने को प्रवृत्त होता है। इन सब परिस्थितियों में उस व्यक्ति के क्या कर्त्तव्य हैं, जो कि अहिंसा का सर्वाङ्ग सम्पूर्ण पालन करने के लिये नियमबद्ध नहीं है, बल्कि जो अहिंसा का पालन एक मर्यादित क्षेत्र में ही कर रहा है। (४) और ऐसी परिस्थिति में हमारे क्या कर्त्तव्य हैं, जब हम संकल्पपूर्वक हिंसा करने को उद्यत होते हैं या हिंसा कर डालते हैं। ये चारों ही समस्यायें विचारणीय हैं।

गृहस्थ की अहिंसा-मर्यादा

जैन शासन में इन चारों ही समस्याओं पर विस्तार से विचार

२—श्रीमद् भगवद्गीता अ० २ श्लोक ६६

किया गया है और गृहस्थियों की समस्याओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इनका व्यावहारिक समाधान किया गया है। घर गृहस्थी के कार्यों में, उद्योग व्यवसाय में और अनीतिमूलक और विरोधी व्यवहार करने वाले के प्रति हिंसा की संभावना को टालना गृहस्थ के व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से अशक्य है। इन स्थितियों में भी उसका कर्त्तव्य अवश्य है कि यथा संभव वह हिंसा की मात्रा कम करने का प्रयत्न करे। वास्तव में अपरिहार्य परिस्थिति में भी जो सावधान और जागृत रहता है, जो यत्नवान् होते हुए भी हिंसा की अनिवार्यता में भी उत्पन्न संवेदनशील भावनाओं के साथ विवेक का साथ नहीं छोड़ता, वास्तव में वह उस अपरिहार्य हिंसा के प्रति कभी समझौता नहीं करता, बल्कि वह सर्वाङ्ग अहिंसा के पालन की अपनी अयोग्यता और सामर्थ्यहीनता के लिये निरन्तर अपनी भर्त्सना करता रहता है। वह अपने व्यवहार और विचार में पूर्ण अहिंसा का विकास होता हुआ देखना चाहता है और निरन्तर उसके लिये सचेष्ट रहता है।

किन्तु जहाँ तक संकल्पपूर्वक हिंसा करने का प्रश्न है, वह कभी इसे स्वीकार नहीं करता। वह जीवन-यापन और जीवन-निर्वाह आदि के जो कार्य करता है, उनमें भी वह जान-बूझकर या संकल्प पूर्वक कोई हिंसा नहीं करता; वह जीवन के हर काम निष्काम और निरीह भाव से करता है; सांसारिक जीवन में उससे जो हिंसा बन पड़ती है, उसमें उसकी कोई इच्छा तो नहीं है किन्तु वह विवशता का परिणाम है। और इस प्रकार वह मन से, वचन से, शरीर से न संकल्पपूर्वक किसी को मारता है; न दूसरे व्यक्ति को किसी की हत्या करने के लिये कहता है और न किसी हत्या का, हिंसा का अनुमोदन ही

करता है ।[1]

इस प्रकार भगवान् महावीर के धर्म का अनुयायी अपने व्यावहारिक जीवन में सही अर्थों में एक प्रकार से निष्काम कर्मयोगी होता है । वह आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसा का त्याग तो नहीं कर पाता है, किन्तु संकल्पपूर्वक किसी की हिंसा करने, जान-बूझकर किसी को पीड़ा देने का सर्वथा त्याग कर देता है और इस प्रकार उसके जीवन में होने वाली सभी अपरिहार्य हिंसा को वह सर्वथा प्रभावहीन कर देता है ।

यहाँ हमने जिस हिंसा शब्द का बार-बार प्रयोग किया है, वह सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं किया गया, किन्तु वह तो असंख्य अकृत्यों का उपलक्षण मात्र है । वास्तव में उसमें एक व्यापक उद्देश्य निहित है । इसीलिये यहाँ यह निर्देश करना अत्यन्त आवश्यक है कि हिंसा शब्द के क्या पर्याय हैं अथवा वह किन अर्थों में प्रयुक्त किया जा रहा है । जैन वाङ्मय में उसके निम्नलिखित ३० नामों और अर्थों का उल्लेख मिलता[2] है—(१) प्राणिघात (२) शरीर से जीव का उन्मूलन (३) अविश्वास (४) आत्मघात (५) अकृत्य (६) घात (७) वध-बन्धन आदि द्वारा किसी को मारना (८) भार लादना (९) उत्पात-उपद्रव (१०) किसी प्राणी के अंगों-इन्द्रियों का भंग करना (११) खेती आदि के काम में आरम्भ समारम्भ (१२) किसी की आयु, बल, सामर्थ्य आदि के कम करने का प्रयत्न (१३) मृत्यु (१४) असंयम

हिंसा शब्द व्यापक अर्थों में

१—सागरधर्मामृत अ० ४ श्लो० ८-९

रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० ३ श्लोक ५३

२—प्रश्न व्याकरण प्र० आ० सूत्र २

(१५) सेना द्वारा आक्रमण (१६) प्राणों का व्युपरमण (१७) परभव संक्रामण कारक (१८) दुर्गति प्रपात (१९) पाप-कोप (२०) पापल (२१) च्छविच्छेदकर-शरीर का विच्छेद करने वाला (२२) जीवितान्तकर (२३) भयकारक या भयंकर (२४) ऋण अर्थात् दुःख या पाप कारक (२५) वज्र अर्थात् वज्र की तरह कठोर (२६) परितापकर (२७) विनाश (२८) नियतना (२९) लोपन (३०) गुण-विराधना।

उपर्युक्त प्रकार की हिंसा के करने वाले व्यक्तियों को भी जैन वाङ्मय[1] में विभिन्न संज्ञायें दी गई हैं, जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

(१) पापी (२) चण्ड (३) रुद्र (४) क्षुद्र (५) साहसिक (६) अनार्य (७) निघृ'ण अर्थात् जिसके हृदय में से पापों की प्रति समस्त लज्जा और घृणा नष्ट हो गई है। (८) नृसंश (९) महाभय (१०) प्रतिभय (हर प्राणी के लिये भय कारक) (११) अतिभय (इससे-मृत्यु से बड़ा भय दूसरा नहीं है) (१२) भायनग (चित्त में उद्वेग पैदा करने वाला) (१३) त्रासक (१४) अनार्य काम करने वाला (१५) उद्वेगकर (१६) निरपेक्ष (जिसको दूसरों की प्राण-रक्षा की कोई अपेक्षा नहीं है) (१७) निर्द्धर्म (अधर्मी) (१८) निर्पिपास (दूसरे प्राणी के प्रति न स्नेह है) (१९) निःकरुण (निर्दय) (२०) नरकावास निधनगमन (२०) मोह भय प्रवर्तक (२२) मरण वैमनस्य (मरण द्वारा प्राणियों का मन दीन करने वाला)।

अहिंसा का विराट् रूप

हम यहाँ जब अहिंसा शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमारा आशय उसके व्यापक अर्थों से होता है। अहिंसा का तो वास्तव में एक विराट् रूप है, जिसमें संसार के सम्पूर्ण सत्य, अखिल

1—प्रश्न व्याकरण सूत्र अ० आ० सूत्र 1

सुकृत्य और सारे पुण्य विधान अन्तर्निहित हैं। जैन[1] वाङ्मय में अहिंसा के इस विराट् रूप के कारण ही ६० नामों का उल्लेख मिलता है। ये नाम अहिंसा के केवल नामान्तर नहीं हैं, अपितु वह जिन व्यापक अर्थों में ली जाती है, उनका निदर्शन है! ये नाम इस प्रकार हैं—

(१) निर्वाण (२) निर्वृति (३) समाधि (४) शान्ति (५) कीर्ति (६) कान्ति (७) रति (८) विरति (व्रत) (९) श्रुतांग (१०) तृप्ति (११) दया (१२) विमुक्ति (१३) क्षान्ति (१४) सम्यक्त्वाराधन (१५) महान्त-पूज्य (१६) बोधि (१७) बुद्धि (१८) धृति (१९) समृद्धि (२०) ऋद्धि (२१) वृद्धि (२२) स्थिति (२३) पुष्टि (२४) नन्दी (२५) भद्रा (२६) विशुद्धि (२७) लब्धि (२८) विशुद्ध दृष्टि (२९) कल्याण (३०) मंगल (३१) प्रमोद (३२) विभूति (३३) रक्षा (३४) सिद्धावास (३५) अनाश्रय (३६) केवली-स्थानक (३७) शिव (३८) समिति (३९) शील संयम (४०) शील घर (४१) संवर (४२) गुप्ति (४३) व्यवसाय (४४) सन्तोष (४५) यज्ञ (४६) आयतन (गुणों का) (४७) जवन (अध्ययन) (४८) अप्रमाद (४९) आश्वास (५०) विश्वास (५१) सब को अभय (५२) अनाघात (५३) निर्मलता (५४) पवित्रता (५५) श्रुति (५६) पूजा (५७) विमला (५८) प्रभासका (५९) निर्मला और (६०) तरती (तरणी)

अहिंसा के लिये यहाँ जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे अपने में स्वयं स्पष्ट हैं और उनसे यह प्रतीत होता है कि अहिंसा केवल सीमित अर्थों में 'हिंसा न करना' इतनी ही नहीं है, अपितु उसका क्षेत्र अत्यन्त विशाल और व्यापक है। प्राणी-जीवन की तमाम अच्छाइयाँ और अच्छे काम ये सारे ही अहिंसा में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसे इस

१—प्रश्न व्याकरण सूत्र द्वितीय संवर द्वार प्रथम अध्ययन

प्रकार भी कहा जा सकता है कि संसार में जितने गुण हैं, जितने पुण्या-चार हैं, उन सबके लिये एक अहिंसा शब्द का प्रयोग किया जाता है। और इस प्रकार का प्रयोग संभवतः केवल जैन वाङ्मय में ही उपलब्ध होता है।

जैन शासन में अहिंसा का स्थान

वास्तव में जैन शासन में अहिंसा को उसके उपयुक्त सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। उसने धर्म की परिभाषा अहिंसा की भूमिका पर की है और पाप की परिभाषा हिंसा की भूमिका के आधार पर।[1] वास्तव में विचार किया जाय तो हिंसा से बड़ा संसार में कोई पाप नहीं है और अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। जैसे संसार में परमाणु से छोटा और आकाश से बड़ा कोई पदार्थ नहीं है, इसी प्रकार संसार में धर्म का लक्षण अहिंसा के अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं हो सकता।[2] हमारी विनम्र सम्मति में संसार के विभिन्न धर्मों की सत्यता की एकमात्र कसौटी यह हो सकती है कि उसमें अहिंसा को क्या स्थान प्रदान किया गया है।[3] इस दृष्टि से यदि जैनधर्म के सम्बन्ध में विचार करें तो यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म ने अहिंसा को न केवल आचार और विचार के क्षेत्र में ही प्रमुखता दी है, अपितु उसके सम्बन्ध में जो सूक्ष्म विश्लेषण किया है, उससे समस्त जैन दर्शन ही अहिंसा-दर्शन बन गया है।

जैनधर्म के चिन्तन के क्षेत्र में जो अहिंसा 'प्राण-व्यपरोपण की निवृत्ति' से प्रारम्भ हुई, वह जीवन के समस्त क्षेत्रों में उठने वाली

१—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लोक ३१
२— " सर्ग ८ श्लोक ४१
३—म० गान्धी

समस्याओं का युक्ति संगत समाधान देती हुई समस्त चेतन जगत् के साथ समता का सम्बन्ध स्थापित करके, जीव मात्र के प्रति मैत्री भाव कायम करके विकास के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हो गई ।

व्यावहारिक जगत् में कोई एक प्रयोग सारे व्यक्तियों के लिये उपादेय बन सकता है, इसमें हमें भारी सन्देह है । हम सन्देह कह कर उस प्रयोग के व्यावहारिक पक्ष के साथ अन्याय करते हैं । अतः यह कहना उपयुक्त होगा कि व्यावहारिक दृष्टि से सभी प्राणियों की, सभी व्यक्तियों की अपनी-अपनी मर्यादायें हैं, शक्ति और योग्यता भी सबकी भिन्न-भिन्न है । इसलिये उनकी भावना, रुचि भी जुदा-जुदा है । अतः उनके रोग की औषधि भी भिन्न-भिन्न ही होगी । जैनधर्म ने सबकी मर्यादाओं और शक्तियों का समीकरण करके विभिन्न परिस्थितियों और योग्यताओं वाले व्यक्तियों के लिये अहिंसा की विभिन्न कोटियाँ निर्धारित की हैं और इस तरह अहिंसा को केवल आदर्श न रख कर उसे व्यावहारिक रूप प्रदान कर दिया है । अहिंसा की सर्वोच्च कोटि पर पहुँचना अहिंसा की प्राथमिक भूमिका पर चलने वाले व्यक्ति के लिये कठिन नहीं; असंभव तो बिलकुल नहीं । उसके लिये जिस साधना की अपेक्षा है, उस साधना के लिये आत्म-विश्वास के साथ केवल संकल्प भर करने की आवश्यकता है । वास्तव में आत्मा जिस रहस्य से आवृत दिखाई देती है, आत्मविश्वास के चरण बढ़ते ही रहस्य के परत खुलते दिखाई देने लगते हैं । तब रहस्य रहस्य नहीं रह पाता, तब आत्मा अपने समस्त सत्यों के साथ प्रदीप्त, प्रकाशित हो उठती है और उस प्रकाश में ही सम्पूर्ण चेतन-लोक के साथ उसकी समता स्थापित हो जाती है ।[1] यही अहिंसा का सर्वोच्च

१—नीतिवाक्यामृत ४

विकास और 'आत्मौपम्य-दर्शन है ।[1]

जैनधर्म ने 'आत्मौपम्य दर्शन की इस कोटि तक पहुँचने के लिये आचरण की कई सीढ़ियाँ बताई हैं और सारे आचरणों का एकमात्र आधार अहिंसा रक्खी है ।[2]

अहिंसा के इस दर्शन के कारण ही जैनधर्म जगत् को व्यवस्थित कर्म फिलौसफी दे सका; स्याद्वाद जैसे महान् सिद्धान्त का जन्म हो सका; अत्यन्त व्यवस्थित जीव-विज्ञान का उदय हो सका; और सबसे अधिक वह जगत्-चेतन और अचेतन जगत् के अखिल रहस्यों को भेदकर, विश्लेषण की अपनी विशिष्ट प्रणाली द्वारा सत्य को सामने रख सका । कुल मिला कर जैनधर्म जो है, वह अहिंसा का ही एक रूप है, एक विशिष्ट नाम है । और यह कि यदि जैनधर्म में से अहिंसा को निकाल दिया जाय तो संभवतः जैनधर्म नाम का कोई धर्म, दर्शन और सिद्धान्त जगत् में नहीं रह जायगा, यह जितना सत्य के निकट है, उतना ही यह कहना भी सत्य के अत्यन्त निकट होगा कि यदि जैन धर्म में से अहिंसा को निकाल दिया जाय तो विश्व में अहिंसा के व्यवस्थित रूप के दर्शन दुर्लभ हो जायँगे । और तब एक विराट् अभाव जगत् के समक्ष आ खड़ा होगा, जिसकी पूर्ति का कोई उपाय उसके समक्ष न होगा ।

बस यही जैनधर्म में अहिंसा का स्थान परखने की एकमात्र कसौटी है ।

१—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लोक ४२
२— " " ८ " ४२

—४—

हिंसा और अहिंसा : एक अध्ययन

जब हम हिंसा और अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ अधिक गहराई से विचार करते हैं तो अनेकों प्रश्न, अनेकों उलझनें हमारे समक्ष आ खड़ी होती हैं। कई बार तो ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं, जब हमें अहिंसक कार्यों में हिंसा का संदेह हो उठता है और कई हिंसक कार्यों में अहिंसा का भ्रम हो जाता है। इन उलझनों का युक्ति-संगत समाधान पाना अहिंसा-दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है और जैन धर्म ने हिंसा-अहिंसा का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण करके हमें ये समाधान दिये हैं।

वास्तव में हिंसा का क्या कारण है, यह विचार कर लेना सबसे प्रथम आवश्यक है। इस विचार की आवश्यकता इसलिये अनुभव होती है, क्योंकि कई बार एक सी क्रिया होने पर भी उसके परिणाम भिन्न-भिन्न प्रकार से देखे जाते हैं। उदाहरणतः—एक डाक्टर एक रोगी का आपरेशन करता है। डाक्टर चाहता है और प्रयत्न भी करता है कि आपरेशन सफल हो जाय। किन्तु उसके प्रयत्नों के बावजूद भी रोगी मर जाता है।

हिंसा का कारण

एक मोटर ड्राइवर अपनी मोटर ले जा रहा है। अकस्मात् ही एक बच्चा सड़क पार करने के लिए तेजी से दौड़ता है। ड्राइवर उस

बालक को बचाने का प्रयत्न करता है। किन्तु बच्चा मोटर की चपेट में आ जाता है और मर जाता है।

एक तीसरा व्यक्ति अकेले में किसी मुसाफिर को जाते हुए देखता है। वह उसका माल लूटने के लिए उस पर टूट पड़ता है। मुसाफिर रक्षा के लिए प्रतीकार करता है तो वह डाकू उसे छुरा भोंक देता है और मुसाफिर इससे मर जाता है।

ये तीनों ही व्यक्ति गिरफ्तार होकर मजिस्ट्रेट के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं। यद्यपि मामला स्पष्ट है। तीनों ही केसों में 'मृत्यु' हुई है और उसकी सजा फाँसी है, किन्तु फिर भी मजिस्ट्रेट इन तीनों केसों में एक सी क्रिया होने पर भी तीनों को एक सा दण्ड नहीं देता। वह कानूनी दृष्टिकोण से उन तीनों की मंशा, भावना पर विचार करता है और उसके अनुसार ही फैसला सुनाता है। चूँकि डाक्टर की भावना रोगी को मारने की नहीं थी, किन्तु बचाने की थी। अतः वह डाक्टर को निर्दोष मानकर रिहा कर देता है। ड्राइवर की मंशा भी बालक को मारने की नहीं थी, बल्कि बचाने की थी, फिर भी कुछ असावधानी हो गई, जिससे बालक दब कर मर गया। अतः मजिस्ट्रेट उसे इस असावधानी के जुर्म में छः माह की सजा सुनाता है। और डाकू—उसकी मंशा अच्छी नहीं थी। उसने जान बूझकर मुसाफिर को मार डाला। अतः मजिस्ट्रेट उसे फाँसी की सजा सुनाता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि फल क्रिया के आधीन नहीं, भावों के आधीन है। यदि भावनाओं में क्रोध, अभिमान, कपट, स्वार्थ, राग-द्वेष आदि हैं तो ऊपरी तौर पर भले ही दया का आडम्बर किया जाय, विश्वास में लेने के लिये मित्रतापूर्ण व्यवहार किया जाय, किन्तु आन्तरिक दुर्भावनाओं के कारण उसकी सारी क्रियायें हिंसा ही कहला-

येंगी। और यदि हृदय में प्रेम है, रक्षा की भावना है, तो ऊपर का कठोर व्यवहार भी अहिंसा कहलायेगा। जैसे माता अपने बालक को ताड़ना देती है, किन्तु उसके अन्तर में बालक के प्रति जो स्नेह उछल रहा है, हित-कामना व्याप्त है, उसके कारण वह ताड़ना भी हिंसापूर्ण कृत्य नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जिन कार्यों में हृदय में कषाय (क्रोधादि) हो तो वहाँ हिंसा माननी चाहिये और हृदय में कषाय न हो, रागद्वेष न हो तो वे कार्य अहिंसा के अन्तर्गत मानने चाहिये।[1]

यह आवश्यक नहीं कि किसी प्राणी का घात होने पर ही हिंसा कही जाय। एक संयमी व्यक्ति प्रतिक्षण सावधान रहता है कि उसके कारण किसी जीव का घात न हो जाय, किन्तु फिर भी उसकी अजानकारी में कुछ सूक्ष्म जीवों का घात हो जाता है। किन्तु केवल जीव-घात के कारण ही यह हिंसा नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर एक व्यक्ति क्रोध मोह आदि में भर कर किसी प्राणी को मारने का प्रयत्न करता है, किन्तु वह प्राणी बच जाता है। फिर भी उस व्यक्ति का यह कार्य आध्यात्मिक जीवन में हिंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तव में किसी प्राणी का घात हो या न[2] हो, आत्म-परिणाम (आत्म भावना) ही हिंसा-अहिंसा के निर्णायक तथ्य हैं।

यदि और भी गहराई से विचार किया जाय तो जिस प्राणी के मन में कषाय-का उदय हुआ तो भले ही दूसरे प्राणी का वह घात कर

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४६

२—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४६।

सका या नहीं, दूसरे का अनिष्ट कर सका या नहीं, किन्तु उसने आत्म-घात अवश्य कर लिया ।[1] आत्म-घात का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि अपने जीवन का, प्राणों का अन्त कर लिया गया। लोक-व्यवहार में स्वाभाविक ढंग से, दूसरे के प्रयत्नों से होने वाले जीवन के अन्त को मृत्यु कहा जाता है और अपने प्रयत्नों से होने वाले अपने जीवन के अन्त को आत्म-घात कहा जाता है। किन्तु वास्तव में आत्म-घात इसके अतिरिक्त और कुछ है। आस्तिक-परम्परा में जन्म और मृत्यु आत्मा के नये शरीर की प्राप्ति और उस शरीर के त्याग के नामान्तर मात्र हैं। प्राप्त शरीर अवश्य त्यागना है, भले ही वह अपने प्रयत्नों से त्यागा जाय या स्वाभाविक विधि से, यह विशेष महत्व की बात नहीं है। किन्तु महत्व की बात यह है कि जन्म-मृत्यु की अनवरत शृङ्खला में सदा प्रवाहित रहने वाला एक आत्म-तत्व है, उसके गुणों का कितना ह्रास हुआ और कितना विकास हुआ। जब राग, द्वेष, कषाय आदि के द्वारा उसके सहज गुणों का ह्रास होता है तो वह उसका आत्म-घात कहलाता है।

पर-घात बनाम आत्म-घात

और इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति दूसरे प्राणी के प्रति दया दिखाता है तो क्या वास्तव में ही वह केवल जीव-दया[2] है? नहीं,

---

१ - पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४७।
ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लोक ६। आचाराङ्ग प्र० श्रु० प्र० अ० उ २
अमितगति श्रावकाचार अ० ६ श्लोक २५

२—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २-४५

वह जीव-दया के अतिरिक्त आत्म-दया भी है। जब वह दूसरे प्राणी के प्रति दया दिखाता है या उसका हित-साधन करता है तो भले ही दूसरा प्राणी उसके प्रयत्नों से न बच सका हो, भले ही दूसरे प्राणी का हित-साधन न हो सका हो, किन्तु उस व्यक्ति ने आत्म-दया अवश्य कर ली; आत्म-हित-संपादन अवश्य कर लिया, क्योंकि उतने समय के लिये वह इन कषायों से मुक्त हो सका और इस तरह अपने सहज-गुणों (शान्ति, सन्तोष-निराकुलता आदि) का विकास कर सका।

जीव-दया बनाम आत्म-दया

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि वास्तव में हिंसा और अहिंसा का निर्णय उसके कार्यों से नहीं, बल्कि भावनाओं से किया जा सकता है। जैसे एक किसान है। वह हल जोतता है। कृषि सम्बन्धी अन्य कार्य करता है। इन सब कार्यों में असंख्य प्राणियों का विघात हो जाता है। दूसरी ओर एक मछियारा है। वह जाल लेकर तालाब पर जाता है। सुबह से शाम तक उसके जाल में केवल पाँच मछलियाँ आती हैं। इस दृष्टि से मछियारे की अपेक्षा वह किसान अधिक हिंसा का भागी होना चाहिये। किन्तु नहीं, तथ्य इसके विपरीत है। किसान की भावना उन असंख्य जीवों के वध की नहीं है। वे तो संयोगवश मर गये। इसलिये वह असंख्य प्राणियों की हिंसा के पश्चात् भी अहिंसक कहलायेगा। मछियारा प्रातः से संध्या तक भले ही संख्या की दृष्टि से केवल पाँच मछलियाँ पकड़ सका या एक भी न पकड़ पाया, किन्तु दिन भर प्रत्येक क्षण उसकी भावना हिंसापूर्ण रही। अतः वह न मारते हुए भी हिंसक ही कहा जायगा।

हिंसा-अहिंसा का निर्णायक तत्व-भाव

१०

इसके अतिरिक्त एक और भी तथ्य है। इस जगत् में जल, थल और आकाश में कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ जीव न हो।[1] आकाश में प्रत्येक प्रदेश में जीव ठसाठस भरे हुए हैं। ऐसी दशा में क्या यह संभव है कि हमारे कारण उनमें से अनेकों जीवों का घात न हो।[2] अत्यन्त संयमी पुरुष की शारीरिक क्रियाओं से भी अनेक प्राणियों की मृत्यु संभव है। यदि मृत्यु को ही हिंसा का निर्णायक तथ्य स्वीकार कर लें तो क्या इस प्रकार संसार में कोई अहिंसक कहा जा सकेगा? यह तर्क संगत भी नहीं लगता। यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि अज्ञानता पाप है, प्रमाद पाप है, इसलिये उस संयमी व्यक्ति पर अज्ञानता अथवा थोड़े बहुत प्रमाद का दोष लग सकता है, यह तो संभव है। किन्तु उस पर हिंसा का दोष तो कदापि नहीं मढ़ा जा सकता, जिन जीवों की हिंसा का उसे ज्ञान तक नहीं है, जिनके मारने के सम्बन्ध में उसके मन में कभी भावना तक उदित नहीं हुई। इसलिये अन्त में हमारे पास हिंसा-अहिंसा के निर्णय के लिये एक ही कसौटी शेष रह जाती है—भाव[3]। यदि भावों को हिंसा-अहिंसा का माध्यम स्वीकार न किया जाय तो फिर बन्धन और मुक्ति, संसार और निर्वाण की व्यवस्था ही कठिन हो जायगी।

जब हिंसा-अहिंसा का माध्यम भाव स्वीकार कर लिया तो इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता कि भावों के माप पर ही हिंसा और अहिंसा

१—यशस्तिलक आश्वास ७। सागार धर्मामृत अ० २ श्लोक ८२
२—सागार धर्मामृत ४-२३
३—यशस्तिलक आश्वास ७

का फल निष्पन्न होगा। इसी आधार पर एक व्यक्ति के भाव जब हिंसा रूप परिणत हो जाते हैं, तब वह व्यक्ति भले ही हिंसा का कोई कार्य न करे, किन्तु फिर भी उसे हिंसा का फल भोगना ही होगा। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति की किसी शारीरिक क्रिया के कारण किसी जीव का विघात भी हो गया हो, यदि उस व्यक्ति के अन्तर में कषाय का उदय नहीं आया तो निश्चित रूप से वह विघात (हिंसा) का फल नहीं भोगेगा।[1]

हिंसा का फल

वास्तव में भावों को हिंसा-अहिंसा का निर्णायक तथ्य मान लेने के उपरान्त ऐसी परिस्थिति हो जाती है कि वह उनके फल के दृष्टि-बिन्दु से अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होती है। किन्तु उस परिस्थिति का समाधान हमें तत्काल प्राप्त हो जाता है, जब हम भावनाओं को फल का निर्णायक मानकर उस पर विचार करते हैं। वास्तव में प्राप्त फल से हम पूर्व भावनाओं का अनुमान लगा सकते हैं और वर्तमान भावनाओं से आगामी फल की कल्पना कर सकते हैं।

और तब हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होता कि कभी-कभी क्रिया के परिमाण की दृष्टि से अल्प हिंसा करने पर भी उसका फल बहुत अधिक मिलता है, क्योंकि हिंसा करते समय उस प्राणी की भावनायें कषायों (क्रोधादि) से अत्यन्त कलुषित थीं। दूसरी ओर कभी-कभी कोई कारणवश परिमाण की दृष्टि से हिंसा बहुत कर डालता है किन्तु क्रोधादि का वेग भावनाओं में अत्यन्त अल्प रहने के कारण उसे उस महाहिंसा का फल भी अत्यल्प

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ५१

मिलता है।[1]

कभी-कभी दो व्यक्ति मिलकर हिंसा सम्बन्धी एक कार्य करते हैं। किन्तु दोनों व्यक्तियों के भाव-परिणाम भिन्न-भिन्न होने के कारण उन्हें उस कार्य का फल भी भिन्न-भिन्न ही प्राप्त होता है।[2]

कभी-कभी ऐसी परिस्थिति भी आ जाती है कि हिंसा का कार्य एक व्यक्ति करता है, किन्तु उसका फल अनेक जनों को उठाना पड़ता है।[3] जैसे भारत में अनेक स्थानों पर तीतर, बटेर, मेंढ़ा आदि का युद्ध कराया जाता है, दशहरा आदि पर धार्मिक अनुष्ठान मानकर भैंसा, बकरा आदि मारा जाता है, स्पेन में एक पर्व विशेष पर एक व्यक्ति का बैल से युद्ध कराया जाता है। इन समारोहों को देखने के लिए हजारों और लाखों व्यक्ति जाते हैं। उस समय लड़ने वाले या मारने वाले प्राणी के मन में ही हिंसा की रौद्रता नहीं रहती, किन्तु असंख्य दर्शकों के मन में उस क्रूर कर्म के समर्थन में कहे जाने वाले वचनों में तथा उनकी शारीरिक अनुमोदना में भी हिंसाजन्य क्रूरता के दर्शन होते हैं। अतः उस हिंसा का फल हिंसा करने वाला केवल वही एक व्यक्ति नहीं उठाता, बल्कि उस हिंसा की अनुमोदना करने वाले वे असंख्य व्यक्ति भी भोगते हैं।

इसी प्रकार कभी हिंसा तो अनेक व्यक्ति करते हैं और फल एक को भोगना पड़ता है।[4] जैसे एक राजा अपने स्वार्थ, अहंकार या दूसरे

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ५२
२— ,, ५३
३— ,, ५५
४—ज्ञानार्णव ८-५५

कारण से किसी देश पर आक्रमण कर देता है। उसकी सेना में लड़ने वाले निरीह सैनिक अनिच्छा पूर्वक उसके आदेश पर अनेक गाँवों को भी जलाते हैं, अनेक मनुष्यों को मारते भी हैं; अतः इस कार्य में हिंसा का फल उस राजा को ही लगेगा। सैनिक तो वास्तव में अपनी कषाय के ही उत्तरदायी होंगे।

कभी-कभी हिंसा के समान कार्य में भी एक को हिंसा का फल मिलता है और दूसरे को अहिंसा का। जैसे—एक व्यक्ति को मारने के लिए कोई व्यक्ति तलवार लेकर दौड़ा। दूसरी ओर से आते हुये मनुष्य ने इस परिस्थिति को देखा तो वह उस व्यक्ति को बचाने के लिए दौड़ा। आक्रमणकारी और वह रक्षक व्यक्ति दोनों आमने सामने आ गये। आक्रमणकारी ने रक्षक को बाधा मान कर अत्यन्त क्रूरतापूर्वक उस पर प्रहार कर दिया। दूसरी ओर उस दयालु रक्षक ने उस व्यक्ति की रक्षा के लिये अपनी तलवार से आक्रमण का निरोध किया। किन्तु इस संग्राम में दोनों ही मर गये। वास्तव में दोनों ने एक दूसरे की हिंसा की थी। किन्तु फिर भी आक्रमणकारी को हिंसा का फल मिलेगा और रक्षक को अहिंसा का।[1]

इस जगत् में ऐसी भी परिस्थिति संभव है, जिसमें हिंसा होने पर भी अहिंसा का फल मिले और अहिंसा होने पर भी हिंसा का फल भोगना पड़े।[2] जैसे डाक्टर करुणाबुद्धि से आपरेशन करता है। उसके कारण रोगी को कष्ट होता है या उसकी मृत्यु हो जाती है। फिर भी डाक्टर को उसकी करुणा भावना का फल मिलेगा। दूसरी ओर कोई

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ५६
२— ,, ५७

व्यक्ति अपनी हानि से क्षुब्ध होकर किसी बकरे को मारता है। उधर से कोई धूर्त निकल आता है। वह उस क्रुद्ध व्यक्ति को किसी प्रकार शान्त कर देता है और अपनी करुणा से प्रभावित करके उससे वह बकरा ले लेता है। बकरे को ले जाकर वह उसे मार देता है। तो वास्तव में उसकी वह अहिंसा नहीं थी, अहिंसा के छद्मवेष में हिंसा थी और उसे उस हिंसा का ही फल भोगना होगा।

इस चेतन-जगत् में संवेदनशील मानस को लेकर भी मनुष्य अनेक प्रयोजनों के लिए हिंसा किया करता है। वह बुद्धि और विवेक का स्वामी है। जगत् के अन्य प्राणियों से उसमें कुछ विशेषतायें हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण वह सृष्टि के सम्पूर्ण जीवधारियों का मूर्धन्य बन गया है। उसे प्रकृति ने जो शक्ति दी है, उस शक्ति का उसने एक ओर आत्म-कल्याण, आत्म-विकास में उपयोग किया है तो दूसरी ओर उसने अपने दम्भ और स्वार्थ के पोषण के लिये दुरुपयोग भी किया है। संभवतः सदुपयोग की अपेक्षा दुरुपयोग ही अधिक किया है। इसलिये आज विश्व में इस मनुष्य नामधारी जन्तु को विश्व के न केवल सारे प्राणी ही सन्देह और भय की आकुल दृष्टि से देखते हैं, अपितु मनुष्य मनुष्य को भी अत्यन्त भय और संदेह की आशंकित नजरों से घूरता है। उसकी अतृप्त आकांक्षाओं और अदम्य लालसाओं ने धरती और आकाश, जल और पर्वत सब कहीं मार्ग बना लिया है। उसने जलचर, थलचर, चतुष्पद, छाती से चलने वाले, भुजाओं से चलने वाले, वन-चारी, नभ-चर सभी जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों पर विजय प्राप्त कर ली है। इनको मारना आज उसका विनोद बन गया है। उसका दम्भ विजय की सार्वकालिक घोषणा करते रहने को अत्यधिक उत्सुक रहता

हिंसा का प्रयोजन

है। इसीलिये वह इन पशु-पक्षियों की लाशों को अपनी देह के ऊपर वस्त्र और आच्छादन, यहाँ तक कि आवश्यकता की हर वस्तु पर लपेटने में गौरव का अनुभव करता है। विजय ने प्रतिशोध को और भी अधिक प्रदीप्त कर दिया है। इसलिये वह उन पशु-पक्षियों को भून कर और कच्चा, मसाले मिला कर और नीरस जैसे भी बने खाने में तृप्ति का अनुभव करता है। उसकी प्रतिशोध की यह भावना इस जीवन में ही शान्त नहीं हो पाती, मरने के बाद भी उसकी क्षुधा इन निरीह प्राणियों के कलेवरों से शान्त हो पाती है। उसकी तरह उसके देवता भी भूखे भेड़िये बने घूमते हैं। और उनकी सर्वग्राही जीभ निरपराध और निर्बल पशु-पक्षियों के रक्त और मांस के लिये लपलपाती रहती है। उसकी धर्म-भावना असहाय प्राणियों की बलि द्वारा सार्थक हो पाती है। कैसी विडम्बना है यह!

जैन धर्म के मनस्वी तत्व-चिन्तकों ने मानव के मानस का सूक्ष्म अध्ययन करके उसकी विविध प्रवृत्तियों की मीमांसा की है और उसके उन सब उद्देश्यों और प्रयोजनों का एक अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिनके लिये मानव हिंसा करता है। संक्षेप में उसके ये प्रयोजन निम्न भाँति हैं[1]—

चर्म, वसा, मांस, मेद, रुधिर, यकृत, फुप्फस, मस्तक, हृदय, आँतें फोफस, दन्त, अस्थि, मज्जा, नख, नेत्र, कान, स्नायु, नाक, धमनी, सींग दाढ़, पूँछ, विष, बाल इन वस्तुओं के लिये प्राणियों की हिंसा करते हैं।

मधुमक्खियों आदि को मधु के लिये, जुँए, खटमल, मच्छर, मक्खी, आदि को अपने शरीर सुख के लिये, रेशम के कीड़े, रेशम की चिड़ियाँ,

---

1—प्रश्न व्याकरण सूत्र ६ से १४

आदि को वस्त्रों के लिये, सीप-शंख, मूँगा आदि के जीवों को अलंकरण के लिए मारते हैं।

वे कृषि, पुष्करिणी, बावड़ी, कुए, सरोवर, तड़ाग, चिति, चैत्य, खाई, आराम, विहार, स्तूप, गढ़, द्वार, गोपुर, किवाड़, अटारी, चारिका सेतु, प्रासाद, चतुः शाला, भवन, झोंपड़ी, गुफा, दुकान, शिखरबन्द देवालय, मण्डप, प्याऊ, देवायतन, तापसाश्रम, भूमि-गृह, इनके निर्माण के लिये हिंसा करते हैं। मिट्टी, सुवर्ण, धातु, नमक आदि के लिये पृथ्वी कायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

स्नान, पान, भोजन, वस्त्र धापन, शौच, आचमन आदि के लिए जलकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

पचन, पाचन, जलाना, प्रकाश, शक्ति, आदि के लिए अग्निकायिक जीवों की हिंसा करते हैं।

सूर्प्यक, व्यजन, तालवृन्त, पङ्ख, पत्र, हथेली, वस्त्र, धातु आदि से पवनकायिक जीवों का घात करते हैं।

आगार, परिचार, मोदकादि भक्ष्य, चावल आदि भोजन, शयनासन, कुर्सी, पलंग आदि फलक, मूसल, ओखली, वीणादि तत, नगाड़े ढोलक, मृदंक आदि वितत, आतोद्य (अन्य बाजे), वहन (जहाज आदि), तांगा-मोटर वाहन, मण्डप, विविध प्रकार के भवन, तोरण, विटङ्क, देवकुल, जालीदार कमरे, जीने, निर्यूह, चन्द्रशाला, वेदिका, नि:श्रेणी, द्रोणी, चंगेरी, शङ्कु, छोलदारी, पात्र, प्याऊ, तापसाश्रम, सुगन्धित चूर्ण, माला, विलेपन, वस्त्र, यूप, हल, रथ (वाहन) युद्ध की गाड़ियाँ, शिविका, सैकड़ों व्यक्तियों को ले जाने वाली गाड़ी, जहाज, छोटी सवारी गाड़ियाँ, अट्टालक, चरिका, द्वार, परिघा, रहेंट, शूली, भाले, लाठी, बन्दूक आदि शतघ्नी, तलवार आदि शस्त्र, खपरैल, पलंग,

आदि घर के उपकरण, इत्यादि कामों के लिए वृक्षों-तरुओं की हिंसा करते हैं।

ये मनुष्य इन जीवों को क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक के वश होकर और धर्म, अर्थ, काम की इच्छा से स्वाधीन, पराधीन, प्रयोजन और निष्प्रयोजन त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं।

कोई प्राणी दुःख नहीं चाहता,[1] कोई प्राणी मृत्यु नहीं चाहता, सभी को दुःख से भय लगता है, मृत्यु से भय लगता है। जो बात स्वयं को अप्रिय है, वह दूसरों को भी अप्रिय है। जो व्यवहार स्वयं दूसरों से नहीं चाहता, वह व्यवहार दूसरे प्राणी भी नहीं चाहते। अतः जिस कार्य से प्राणी के मन में दुःख और क्लेश का अनुभव हो, वह कार्य हिंसा है। अतः वह कार्य नहीं करना चाहिये।[2] लेकिन आश्चर्य तो इस बात का है कि जो स्वयं तो एक तिनका चुभाने से पीड़ा का अनुभव करता है, वह व्यक्ति दूसरों के शरीर में किस प्रकार छुरी भोंक देता है,[3] वह किस प्रकार दूसरों पर गोली चला देता है, किस प्रकार वह दूसरों पर शस्त्र प्रहार कर देता है।

हिंसा क्यों त्याज्य है?

वास्तव में जीने की इच्छा प्रत्येक प्राणी का प्रकृति प्रदत्त अधिकार है। प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी की सुख सुविधा की व्यवस्था की है। उस सुख सुविधा का अपहरण करके, जीवन का विनाश करके हम न केवल

१—यशस्तिलक आश्वास ७ पृ० ६७। प्रश्न व्याकरण सूत्र प्र० आ० सू० ५

२—सागार धर्मामृत ४-१३

३—ज्ञानार्णव ८-४८

प्रकृति के साथ बलात्कार करते हैं, अपितु उन प्राणियों के प्रति अन्याय और शोषण भी करते हैं। और स्वयं शोषण करके दूसरों के द्वारा हमारा शोषण होने की दशा में हम उस अन्याय का विरोध करने का अपना अधिकार खो बैठते हैं। वास्तव में शोषण, अन्याय और बलात्कार दूसरे की असहायता और दुर्बलता का दुरुपयोग है, चाहे यह व्यक्ति के द्वारा व्यक्ति का हो, चाहे यह मनुष्य द्वारा किसी प्राणी का हो। और यह सब हिंसा है।

इसी तरह मृत्यु जिस प्रकार सबको अप्रिय है, उसी प्रकार मृत्यु का भय भी सबको अप्रिय है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मृत्यु से मृत्यु का भय अधिक त्रासकारी है। फाँसी में जितनी पीड़ा होती है, उससे अधिक फाँसी की विभीषिका में होती है। क्योंकि फाँसी का दुःख एक सीमित अवधि में ही समाप्त हो जाता है, किन्तु फाँसी की संभावना में व्यक्ति के प्राणों को जो एक विभीषिका का वातावरण दबोचे रहता है, उसके कारण उसके प्राण रुँधे रुँधे से रहते हैं। वह चौबीसों घंटे, प्रतिक्षण फाँसी की प्रतीक्षा की घड़ियों में अवर्णनीय वेदना का अनुभव करता रहता है। भय का यह वातावरण एक सबल निर्बल को आतंकित करने की दृष्टि से बनाता है। जिससे निर्बल को अधिक पीड़ा अनुभव होती रहे। निर्बल की इस पीड़ा के अनुभव में सबल को आनन्द आता है।

इस प्रकार हिंसा मृत्यु, पीड़ा, शोषण, अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, आतंक का नाम है। हिंसा एक ऐसा विधान है, जिसमें केवल 'अहं' है, चाहे वह 'अहं' अहंकार हो, स्वार्थ हो, क्रोध हो या उसका कोई रूप हो। उस अहं के लिये अपनी वासना, अपनी इच्छा की पूर्ति की चेष्टा होती है। दूसरों की इच्छा, अधिकार का कोई सम्मान नहीं

होता। हम दूसरों की इच्छा का सम्मान नहीं करते दूसरे हमारी इच्छा का सम्मान नहीं करते। इससे वैर उत्पन्न होता है। वैर से क्रोध, क्रोध से प्रतिशोध होता है। इस प्रकार 'एक बार की हिंसा से वैर का एक चक्र'[1] चल जाता है। हम दूसरों को मारने, दुःख देने की चिन्ता में रहते हैं, दूसरे हमें मारने, हमें दुःख देने की चिन्ता में रहते हैं। इस प्रकार संसार में हर प्राणी के मन में दूसरे से भय, दूसरे से घृणा और दूसरे के प्रति अविश्वास रहता है। और यही संसार के दुःख का एकमात्र कारण है।

वैर की इस परम्परा का अन्त इस जीवन में ही नहीं हो जाता, वह दूसरे जीवनों में भी चलती रहती है। इस प्रकार एक बार की हिंसा अपने पीछे वैर की एक लम्बी परम्परा छोड़ जाती है। उससे दुःखों की जो परम्परा चलती है, उसमें अनेक जीवनों की सुख शान्ति डूब जाती है।

इस दृष्टि से कल्पना कीजिये कि इस प्रकार एक प्राणी, एक व्यक्ति कितने प्राणियों को कष्ट देता है, कितने प्राणियों की हिंसा करता है। उन सभी प्राणियों के वैर का उसे भागी बनना पड़ता है। उस वैर का फिर वह स्वयं प्रतिशोध लेता है। इस तरह एक प्राणी असंख्य प्राणियों के वैर के चक्र में उलझ जाता है और इससे उसे अनेक जन्मों तक भीषण यातनाओं में पड़कर छटपटाना पड़ता है। इस तरह एक प्राणी अपने कृत्यों द्वारा न जाने कितने प्राणियों को वैर करने के लिए उत्तेजित करता रहता है और इस तरह अपने साथ उन्हें यन्त्रणाओं के चक्र में अपने साथ सम्मिलित कर लेता है।

वस्तुतः यह हिंसा ही है, जिसके कारण प्राणी को इस जीवन में

१—सूत्र कृताङ्ग अ० ८ गा० ७

और अन्य जीवनों में शोक,[1] भय, दुःख और समस्त प्रकार के दुर्भाग्यों का असह्य भार उठाने को बाध्य होना पड़ता है। उसे संसार के अत्यंत अवांछनीय जीवनों में (नरक, तिर्यञ्च आदि) में जाकर महद्भय, अविश्रान्त वेदना का अनुभव[2] और फिर पाप कर्मों के चक्र में पिसना पड़ता है।[3]

वास्तव में हिंसा सर्वभूत-द्रोह[4] है। प्राणियों के साथ द्रोह करके किसी शुभ कार्य की आशा नहीं की जा सकती।

इन सब कारणों से हिंसा त्याज्य है। क्योंकि हिंसा स्वयं में एक क्रूर कर्म है। उसके करते समय दुःख, उसके परिणाम में दुःख। हिंसा तो वस्तुतः दुःख का ही दूसरा नाम है।

अहिंसा का आधार सर्व-सत्व समभाव है

कल्पना कीजिए, संसार के सारे क्रूर कर्मा व्यक्ति एक स्थान पर बैठे हैं। एक व्यक्ति दहकते हुए कोयलों से भरे हुये एक लोहे के पात्र को संडासी से पकड़ कर लाता है और हर क्रूर कर्मा और हिंसक व्यक्ति से कहता है—आप बिना किसी चीज की सहायता के कोयलों से भरा यह पात्र अपने हाथ पर रख लीजिये। किन्तु वे व्यक्ति उस जलते हुये पात्र को उठाने के लिए तैयार नहीं होते। क्योंकि उन्हें हाथ जल जाने का भय है। तब वह

१—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लो० ४८
तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सू० ६-१०
२—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लोक १३-१६
३—प्रश्न व्याकरण सूत्र आस्रवद्वार सूत्र ४
सूत्र कृताङ्ग अ० ७ गाथा १-२-३
४—नीतिवाक्यामृत ,, ४

व्यक्ति उन सबसे पूछता है—हाथ जल जाने से क्या हो जायगा? वे कहते हैं—दुःख होगा। तब वह व्यक्ति उनसे कहता है—जैसे आप दुःख से डरते हैं, वैसे ही सब प्राणी दुःख से डरते हैं। जैसे आपको दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है।[1]

यह एक उदाहरण है। हर व्यक्ति यह जानता है कि दूसरे प्राणी को भी मेरी तरह दुःख और सुख का अनुभव होता है। किन्तु जब वह दूसरे प्राणी की हिंसा करता है, तब वह दूसरे प्राणी के दुःख का अनुभव नहीं करता। ज्ञान और अनुभव ये दो पृथक् चीज हैं। दूसरे प्राणी के दुःख में व्यक्ति स्वयं भी दुःख का अनुभव करे तो वह फिर क्या कभी दूसरे को दुःख देने के लिये समुद्यत हो सकेगा? दूसरे के दुःख में दुखी होने वाला व्यक्ति दूसरे को दुःख देकर अपना दुःख बढ़ाने का क्यों प्रयत्न करेगा।

इसका अर्थ यह हुआ कि हिंसा और अहिंसा जहाँ से चलती हैं, वह केन्द्र-बिन्दु एक है। किन्तु दोनों की परस्पर विरोधी दिशा होने के कारण उनमें अन्तर बढ़ता जाता है। दूसरे प्राणी को दुःख और सुख का अनुभव होता है, यह ज्ञान सबको है। किन्तु जो दूसरे के दुःख की स्वयं अनुभूति नहीं करते, वे हिंसा करते हैं और जो दूसरे के दुःख की स्वयं भी वैसी ही अनुभूति करते हैं, जैसी दूसरा कर रहा है, वे हिंसा नहीं करते और अहिंसा का पालन करते हैं। इस तरह हिंसा और अहिंसा मूलतः हमारी संवेदनशील भावना पर, वृत्ति पर आधारित हैं। प्राणी में यह संवेदनशील वृत्ति अत्यन्त कोमल है। यदि यह उसके कृत्यों से, भावनाओं से कुंठित हो जाय तो उसमें उस कोमल भावना

१—सूत्र कृताङ्ग द्वितीय श्रुतस्कन्ध अ० ४

के स्थान की रिक्तता को कठोरता भर देती है। इसीलिये प्रायः देखा जाता है कि कठोर भावना वाले हिंसक होते हैं और कोमल-सरल भावना वाले अहिंसक होते हैं। इसे यदि उलट कर भी कहें तो यह एक तथ्य ही होगा कि हिंसक के हमेशा कठोर भावना और कठोर वृत्ति होती है और अहिंसक के सदा कोमल भावना और सरल वृत्ति होती है।

इसके अतिरिक्त एक इससे बड़ा तथ्य यह है कि हिंसक सर्वसत्व-द्रोही होता है। उसके लिये काटने की दृष्टि से हिन्दुस्तान या जापान के बकरे में कोई अन्तर नहीं होता और न उसे मुर्गे को पंख पकड़ कर ले जाने में या बन्दरों को कटघरे में बन्द करके उन्हें भूखा मारने में ही कोई व्यथा का अनुभव होता है। इसी प्रकार अहिंसक सर्व-सत्व समभावी होता है। वह जब किसी प्राणी को दुखी देखता है तो उसका हृदय उसके दुःख को स्वयं अनुभव करके द्रवित होने लगता है। पीड़ित के जलते हुए दिल का वह मरहम बनजाने को उत्सुक हो उठता है। वह दुखी प्राणी चाहे मनुष्य हो, चाहे गिलहरी हो और चाहे बन्दर।

वास्तव में अहिंसा प्राणी की संवेदनशील भावना और वृत्ति का एक रूप है, जो सर्वजीव-समभाव से निर्मित हुई है। धर्म का सारा भवन इसी सर्व-जीव समभाव की कोमल भावना पर आधारित है। इसी-लिये अहिंसक की सदा एक ही भावना, एक ही विचार और एक ही ध्यान रहता[1] है—इस चराचर जगत् में सम्पूर्ण चेतन प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है। किसी के प्रति भी मेरा कोई विरोध और वैर-

---

१—(खामेमि सव्वे जीवा············वैरं मज्झंण केणइ)

भाव नहीं है। दुखियों के लिये मेरा हृदय करुणा से पूरित है और जो मुझसे किसी कारण वैर भी करते हैं, उनके लिये भी मेरे दिल में प्यार और माध्यस्थ भाव[1] हैं।

अहिंसक इस भावना के कारण इस सारे चराचर जगत् को आत्म सदृश देखता[2] है। वह स्वयं सबके साथ मैत्री का व्यवहार करता ही है, किन्तु जो किसी दूसरे के द्वारा भी आतंकित हैं, उन्हें भी वह अपने अन्तर की कोमल किन्तु सुदृढ़ भावनाओं की पूँजी के द्वारा अभय-दान देता है। वह एक क्षण के लिये भी नहीं भूलता कि किसी को अभय देना उसके लिये प्राणों का दान है। संसार में प्राणों के भय से बड़ा कोई दुःख नहीं[3] है। इसलिये अभय-दान उस भयभीत प्राणी के लिये ऐसा वरदान है, जो सारी पृथ्वी और संसार का सारा सोना दान में पाने की अपेक्षा उसके लिये कहीं अधिक मूल्यवान[4] है। अहिंसक निरपराध व्यक्ति को ही अभयदान नहीं देता, किन्तु जिसने उसके साथ दुर्व्यवहार किया है, उसका अपराध किया है, उसे भी वह अभय-दान देने के लिये उतना ही उत्सुक रहता[5] है।

इस प्रकार अहिंसा एक ऐसा विधान है, जिसमें संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति समता है, सबको सुरक्षा का पूरा आश्वासन है, किसी के अधिकारों का अपहरण नहीं, किसी के प्रति अन्याय, अत्याचार

१—भावना द्वात्रिंशतिका १। अमितगति श्रावकाचार १३-६६

२—ज्ञानार्णव ८ ५२।

३—आचाराङ्ग ६-१७५ उ० १

४—सूत्रकृताङ्ग ६-२३

५—सागार धर्मामृत २-८१

और बलात्कार नहीं। वस्तुतः अहिंसा के इस विधान में शोषण, द्वेष, ईर्ष्या को कोई स्थान नहीं और आध्यात्मिक जगत् की यह देन व्यावहारिक जगत् में वस्तुतः न केवल विभिन्न प्रणालियों वाले देशों, बल्कि विभिन्न स्वभाव वाले विभिन्न प्राणियों के सह अस्तित्व का स्वेच्छया अंगीकृत आश्वासन है।

काश! अहिंसा विश्व में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती और सभी प्राणी उसे स्वेच्छापूर्वक अङ्गीकार कर लेते तो क्या विश्व में वैर कहीं भी रह पाता? अहिंसा तो वैर-त्याग का ही नाम है अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा होने पर तो वैर स्वयं ही समाप्त हो जाता है।[1]

मनोविज्ञान यह स्वीकार करता है कि मन के हर विचार की तरंगें उठती हैं, जो समस्त आकाश में उसी प्रकार फैल जाती हैं, जिस प्रकार हमारे मुख से निकला हुआ शब्द सारे आकाश (ईथर) में फैल जाता है। एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा सारे आकाश में फैलाये गये शब्द तो विद्युत् के संयत्रों द्वारा या वाँसों की एक निश्चित प्रक्रिया द्वारा सुने जा सकते हैं। किन्तु अभी तक मन से उठने वाली विचारों की तरंगों को पकड़ने की कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया विकसित नहीं हो पाई। लेकिन वैज्ञानिकों ने इस आशा का त्याग नहीं किया है कि एक दिन वे इन तरंगों को भी पकड़कर मनुष्यों के विचारों की जानकारी पाने का साधन खोज निकालेंगे और विज्ञान की इस खोज की भी प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से की जा सकती है कि सारे आकाश में शब्दों की जो तहें जम गई हैं, उनमें से वैज्ञानिक संसार के किसी भी व्यक्ति के कभी भी कहे गये शब्दों को भी पकड़कर सुना सकेंगे। और इस तरह संसार के विभिन्न महापुरुषों ने क्या उपदेश दिये, एक दिन उन महापुरुषों के मुख से निकले

१—योग सूत्र (अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः।

हुए वे शब्द ज्यों के त्यों सुने जा सकेंगे। अस्तु!

हमारा कहने का आशय इतना ही है कि मन के विचार और भावनाओं की तरंगे फैलती हैं। वे जाकर दूसरे के मन की भावनाओं से भी टकराती हैं। वे तरंगें जितनी आगे बढ़ती जाती हैं, उतना ही उनका वेग, बल घटता जाता है, किन्तु निकलने पर तो उनमें काफी वेग रहता है। वे दूसरे के विचारों की तरंगों से जब टकराती हैं, तब उनमें जो अधिक बलवान् होती हैं, वे दूसरी तरंगों पर अपना प्रभाव डालती है। मन की इन तरंगों का बलाबल विचारों के बलाबल पर निर्भर हैं। यदि मन में हिंसा की भावना प्रबल है और सामने वाले प्राणी के मन में अहिंसा की भावना निर्बल है तो उसके ऊपर हिंसा की भावनाओं का एक अव्यक्त प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार यदि व्यक्ति के मन में अहिंसा की भावना बद्धमूल होकर अपने उत्कर्ष पर स्थित है, सम्पूर्ण चराचर जगत् में वह आत्मौपम्य-दर्शन की सिद्धि पा चुका है, हिंसा का कोई अंश शेष नहीं रह गया है तो निःसन्देह दूसरे के मन की क्रूरतम भावनाओं को अपने प्रभाव से वह आच्छादित कर लेगा और क्रूर से क्रूर प्राणी भी अपनी क्रूरता उस समय छोड़कर साधु और भद्र प्रकृति का बन जायगा। अहिंसा की शीतल फुआरों से उसके मन में वैर की दहकती हुई आग शीतल हो जायगी और तब उसके सामने चाहे उसका वैरी ही क्यों न बैठा हो, उसके संग भी वह मैत्री का व्यवहार करने लगेगा।

मनोविज्ञान का यह तथ्य है, जिसकी मान्यता आज असंदिग्ध रूप से स्वीकार कर ली गई है। इसीलिये जैन तीर्थङ्करों की उपदेश-सभा (समवशरण) में सहज जाति-विरोधी प्राणी जैसे सिंह और गाय, साँप और नेवला, साँप और मोर तक बैठे हुए दिखाई देते हैं; जिस वन में

अहिंसा की महान् सिद्धि पाये हुए जैन मुनि तपस्यारत होते हैं, उस वन में प्राणियों के मन का सारा कालुष्य धुल-पुँछकर साफ हो जाता है और तब शेर और हिरण, बाज और चिड़िया एक ही स्थान पर पानी पीते हुए और एक ही पेड़ की छाँह में विश्राम करते हुए मिलते हैं।

यदि किसी अहिंसक व्यक्ति के समक्ष भी हिंसक अपनी क्रूरता नहीं छोड़ पाता तो उससे अहिंसा के आध्यात्मिक चमत्कार को दोष नहीं दिया जा सकता, वह तो अहिंसक की अहिंसा-साधना की कोई त्रुटि ही कहलायगी।

हिंसा तो वास्तव में एक अग्नि है। सभी को अनुभव है कि जब क्रोध आता है, तब देह का हर अंग उसकी आग में जलने लगता है। वह आग और कुछ नहीं, मन की उत्तेजना की रगड़ से उत्पन्न हुई बिजली है, जिसके कारण उत्तेजित अवस्था में आँखें लाल हो जाती हैं, हाथ-पैर-नथुने और होठ फड़कने लगते हैं, मन में एक अजीब व्याकुलता का अनुभव होने लगता है; मन की सारी शान्ति, सारा चैन तिरोहित हो जाता है और तब वह सारे संसार के प्रति विद्रोही हो उठता है।

दूसरी ओर अहिंसा शीतल जल है। सब जानते हैं, जब व्यक्ति के मन में शान्ति होती है, किसी के प्रति क्रोध की भावना जागृत नहीं होती, तब वह कितनी शीतलता का अनुभव करता है। तब मन में एक स्वाभाविक चैन का अनुभव करता है, उसे सुख और सन्तोष का अनुभव होता है। तब वह स्वयं ही उस सुख का अनुभव नहीं करता, अपितु वह सुख की इस हिलोर, शान्ति के इस निर्झर में औरों को भी आप्लावित कर लेता है। और इस तरह मन के इस चैन में औरों को भी भागीदार बना लेता है।

हिंसा और अहिंसा के इस प्रारूप पर और भी अधिक गहरे उतर कर विचार करें तो हमें यह मानना होगा, कि शान्ति मन के भीतर से उपजती है, क्रोध बाहर से आता है। शान्ति स्वयं में है, उसे लाने और पाने के लिये किसी बाहर की चीज की अपेक्षा नहीं होती। क्रोध उपजाने के लिये कुछ बाहरी कारण अपेक्षित होते हैं, जैसे दूसरे का व्यवहार, किसी पत्थर से ठोकर लगना आदि। शान्ति स्वयं में है। यदि उसे भंग करने के लिये कोई बाह्य साधन न आवें तो वह सदा काल रखी भी जा सक्ती है। इसलिये वह निजी चीज है। क्रोध चूँकि वाह्य निमित्तक है, इसलिये वह सदा काल के लिये नहीं रक्खा जा सकता है। अर्थात् कोई व्यक्ति हमेशा क्रोध करते नहीं रह सक्ता है। इसलिये ही वह निजी चीज नहीं है। चूँकि शान्ति निजी वस्तु है, इसलिये अहिंसा आत्मिक सम्पत्ति है, आत्मिक गुण है। क्रोध चूँकि निजी चीज नहीं है, इसलिये हिंसा आत्मिक गुण नहीं है, वह दोष है, औपाधिक है, जिसे पाला-पोसा नहीं जा सकता, बल्कि जिसे झाड़-पोंछ कर फेंका ही जा सकता है।

अहिंसा आत्मिक है और हिंसा आत्मिक नहीं है, इस जगत् का यह एक आध्यात्मिक सत्य है। किन्तु इससे भी बड़ा सत्य यह है कि अहिंसा ही आत्मा का आधार है। अहिंसा का महत्व कोई स्वीकार करे या न करे, यह अलग बात है। किन्तु अहिंसा को आत्मा में से निकाला नहीं जा सकता। वह तो एक ऐसा वृक्ष है, जिसकी शाख पर आत्मा बैठी हुई है। इसलिए यह बुद्धिमानी ही होगी कि हम जिस शाख पर बैठे हैं, उसे न काटें। यदि काटेंगे तो नीचे अवश्य गिरेंगे।[1]

१—अमितगति श्रावकाचार ६-१६

अहिंसा आत्मा का आधार है, यह एक तथ्य है। किन्तु इससे भी बड़ा एक तथ्य यह है कि अहिंसा स्वयं आत्मा है और आत्मा ही अहिंसा है।[1]

अहिंसा ही आत्मा है, इस सत्य का उद्‌घाटन केवल जैन धर्म ने ही किया है, यह स्वीकार करना ही होगा। इसीलिये अहिंसा की प्रतिष्ठा, अहिंसा की मान्यता जितनी जैन धर्म में है, उतनी अन्यत्र नहीं मिलती। इस सत्य के उद्‌घाटन के लिये संसार सदा जैन धर्म का ऋणी रहेगा।

अहिंसा को आत्मा का आधार या स्वयं आत्मा स्वीकार कर लेने के बाद यह सिद्ध करना शेष नहीं रह जाता कि हिंसा आत्मा पर भार है, जिसके कारण आत्मा अधोगति में जाता है। और न यह ही सिद्ध करना शेष रह जाता है कि हिंसा करने वाला प्राणी दूसरे की हिंसा नहीं करता, अपितु वह अपनी आत्मा की, स्वयं की ही हिंसा करता है। ऐसी दशा में वह अपना कोई हित नहीं करता, बल्कि अहित ही करता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि अहिंसा ही आत्मा का हित करती है।[2] और यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा का हित करने वाले जितने तत्व हैं, जितने साधन हैं, जिन्हें दूसरे शब्दों में धर्म के विभिन्न अंग कह सकते हैं, उन सबका मूल भी अहिंसा ही है।[3] अहिंसा के बिना भी कोई धर्म हो सकता है, यह तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। और यदि हिंसा भी धर्म हो सकता है तो फिर अधर्म भी संसार में कुछ हो सकता है, यह भी कल्पना नहीं की जा सकती।

१—स्वयम्भू स्तोत्र ११९

२—ज्ञानार्णव ८-३२

३— ,, ८-४२

ये ही दृष्टिकोण हैं, जिनके कारण अहिंसा को उपादेय और हिंसा को सर्वथा त्याज्य स्वीकार किया गया है।

अहिंसा के लिये हिंसा का त्याग एक आवश्यक शर्त है

हिंसा-अहिंसा की गहराई में जाने पर कभी कभी एक प्रश्न सामने आ जाता है— जिस प्राणी के मन, वचन, काय पाप-कर्म में लिप्त नहीं हैं, जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता है तथा जो मन से हीन है, वाक्य-विवेक से रहित है, जो अव्यक्त विज्ञान वाला है, वह हिंसा का कर्ता नहीं माना जा सकता। जिन प्राणियों का विज्ञान अव्यक्त है, जो पापकर्म के साधनों से हीन हैं, उनके द्वारा कोई पाप होना संभव नहीं है। यदि मन, वचन, काय के व्यापार के बिना भी पाप-कर्म संभव मान लिये जायँ तो उसमें क्या तर्क हो सकता है? इसी प्रकार यह भी एक प्रश्न है कि जो प्राणी मन, वाणी और शरीर के सम्पूर्ण साधन होते हुए भी हिंसा नहीं कर रहा, चुपचाप एक स्थान पर बैठा है, न किसी के प्रति उसके मन में दुर्भाव है, न वचन द्वारा ही वह किसी को पीड़ा दे रहा है और न अपने शरीर से ही कष्ट देता है। ऐसी अवस्था में वह अहिंसक कहलायेगा या नहीं?

इस प्रश्न में जो वजन है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस और ऐसे प्रश्नों का समाधान जैन वाङ्मय में विस्तार से दिया गया है। समस्या के किसी भी पहलू को छोड़ा नहीं गया। जैन वाङ्मय[1] में इसका समाधान निम्न प्रकार दिया गया है—

जो (षट्काय के) जीवों की हिंसा से विरक्त नहीं अर्थात् जो

१—सूत्र कृताङ्ग द्वि० श्रु० अध्या० ४ (पृ० २६७)

हिंसा-त्याग के लिये प्रतिज्ञाबद्ध नहीं हैं, किन्तु अवसर, साधन और शक्ति आदि कारणों के अभाव से उनकी हिंसा नहीं करते, वे अहिंसक नहीं कहे जा सकते। वे चाहे व्यक्त विज्ञान वाले प्राणी हों या अव्यक्त विज्ञान वाले।

उदाहरणार्थ—कोई पुरुष किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध होकर उसके वध के सम्बन्ध में सोचता रहता है। मगर जब तक अवसर नहीं मिलता, तब तक वह अन्य कार्य में लगा हुआ उदासीन सा रहता है। उस समय यद्यपि वह घात नहीं कर रहा, तथापि उसके मन में घात का भाव और संस्कार बना रहता है। अतः वह घातक या हिंसक ही माना जायगा।

वास्तविकता तो यह है कि जिनका मन राग-द्वेष से पूर्ण और अज्ञान से आच्छादित है, वे सभी प्राणियों के प्रति दुष्ट भाव रखते हैं। इससे बचने का एक मात्र उपाय विरति ही है। इसी से भाव शुद्ध बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। वह जिनमें नहीं है, भावतः वे सभी प्राणियों के वैरी हैं, उन्हें जिनके घात का अवसर नहीं मिलता, उनके भी वे अघातक नहीं।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है—

संसार में ऐसे प्राणी अनन्त हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं, देश और काल की जिन्हें कोई बाधा नहीं, हम जैसे अल्पज्ञों ने न उन्हें कभी देखा और न सुना ही है। वे न किसी के वैरी हैं, न मित्र हैं। फिर उनके प्रति हिंसामय भाव होना किस प्रकार संभव है।

इसका भी उत्तर हम जैन वाङ्मय[1] से ही देना उपयुक्त समझते

१—सूत्रकृताङ्ग द्वि० श्रु० अ० ४ (पृ० २६८)

हैं। वह इस भाँति है—

जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं है, उसकी चित्त वृत्ति उसके प्रति सदा हिंसात्मक ही बनी रहती है। अतएव वह हिंसक ही है। अहिंसक नहीं है।

उदाहरणार्थ—एक ग्राम घातक पुरुष जब ग्राम के घात में प्रवृत्त होता है, उस समय जो प्राणी उस ग्राम को छोड़कर अन्यत्र चले गये हैं, उनका घात उसके द्वारा नहीं हो पाता है, तथापि वह घातक पुरुष उन प्राणियों का अघातक नहीं है क्योंकि उसकी इच्छा उनका भी घात करने की थी। मगर वहाँ उपस्थित न होने के कारण वे मारे नहीं गये। इसी प्रकार जो प्राणी देश-काल की बाधा से दूर के प्राणियों के घात का त्यागी नहीं, वह उनका हिंसक ही है। इसीलिये हिंसा के पाप से बचने के लिये हिंसा का त्याग आवश्यक है।[1]

हिंसा त्याग के लिये हिंसा के साधनों का त्याग आवश्यक है

अहिंसा यदि आवश्यक कर्त्तव्य मान लिया गया है तो उसकी रक्षा अहिंसक उपायों और साधनों द्वारा ही हो सकेगी; हिंसक उपायों और साधनों द्वारा कदापि न हो सकेगी; इसलिये अहिंसक साधना के लिये हिंसक उपकरणों, हिंसायतनों का त्याग करना ही होगा।[2] हिंसा के उपकरण वे हैं, जिनसे कभी हिंसा को उत्तेजन मिल सकता है या हिंसा की संभावना हो सकती है। हिंसायतन वे हैं, जिनसे अन्तरङ्ग में कषाय (क्रोधादि) का उद्रेक और प्रादुर्भाव संभव है। हिंसा के उपकरण हैं—हिंसा के साधन शस्त्रास्त्र। इनका रखना, इनका व्यापार करना,

1—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४८

2—पुरुषार्थ सिद्ध युपाय ४६

इनका उत्पादन करना ये सभी हिंसा को उत्तेजना देने वाले हैं। कल्पना कीजिये, एक व्यक्ति बन्दूकों, राइफलों, स्टेन और मेन गनों अथवा बमों की एक फैक्टरी चलाता है। वह बना-बनाकर बेचेगा। यदि मार्केट में उसके हथियारों की माँग अधिक न हुई तो वह व्यावसायिक दृष्टि-कोण से देश के राष्ट्रनायकों से मिलकर षड्यन्त्र द्वारा देश में या विदेशों में ऐसा वातावरण निर्मित करेगा, जिससे जनता में युद्ध का आतङ्क जम जाय, जनता और सरकारें शस्त्रास्त्रों की माँग करने लगें। उस बढ़ी हुई माँग से ही उसके हथियारों की खपत बढ़ सकती है, उसके कारखाने का विकास हो सकता है और इस तरह आय बढ़ाई जा सकती है।

आधुनिक युग में युद्धों और विश्वयुद्धों के मूल में शस्त्रास्त्रों के कारखानेदारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हाथ रहा है। उन्होंने प्रारम्भ में युद्ध जैसा वातावरण निर्मित करने के लिये अपने देश के कुछ कर्णधारों को आर्थिक प्रलोभन देकर अपने षड्यन्त्र में सम्मिलित किया तब उन कर्णधारों ने शासन और जनता को अपने प्रभाव द्वारा यह मानने को बाध्य किया कि दूसरा देश उस पर आक्रमण करने की नीयत से अपनी सैनिक तैयारियाँ कर रहा है। फलतः इससे उन्होंने अपने देश में उस देश और उसकी जनता के प्रति मिथ्या धारणा, घृणा और द्वेष की भावनाओं का प्रसार किया और साथ-साथ उस देश के साथ अपने सम्बन्धों को अधिक तनावपूर्ण कर दिया, जिससे उस देश में भी युद्ध की तैयारियों ने वास्तविक रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह दो देशों की जनता में युद्ध का भय, या कहना चाहिये खब्त या भूत व्याप्त हो गया। भय और आतङ्क के इस वातावरण में उनका व्यापार चल पड़ा।

मौत के ये सौदागार अपने देश में ही अपने शस्त्रास्त्रों की खपत करके शान्त नहीं हुए, उन्होंने अपने देश के शत्रु राष्ट्र को भी तस्कर ढंग से शस्त्र भेजने प्रारम्भ कर दिये अथवा ऐसे राष्ट्र को शस्त्र भेजने लगे जो दोनों राष्ट्रों का मित्र हो। और तब वे ही हथियार उस मित्र राष्ट्र के द्वारा उस शत्रु-राष्ट्र तक पहुँचने लगे।

वास्तव में हिंसा के उपकरणों का व्यापार करने वाले व्यक्ति अपनी व्यापारिक महत्वाकांक्षा के कारण किसी एक राष्ट्र की राष्ट्रीयता के बन्धन में पड़कर संकीर्ण मनोवृत्ति के नहीं रहते। वे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति होते हैं। सारे राष्ट्रों के शस्त्रास्त्र निर्माता उनके जातीय बन्धु होते हैं, जिनके साथ मिलकर शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा और खपत संसार में बढ़ाने का सदा वातावरण बनाये रखते हैं। इसके लिये उन्हें प्रभावशाली राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की सेवायें इस या उस रूप में मिल जाती हैं, जो इस प्रकार आतङ्कपूर्ण वातावरण बनाये रखने या नवीन-नवीन शस्त्रास्त्रों के अनुसंधान में लगे रह कर उनकी सहायता करते रहते हैं। वे इतने उदार हो जाते हैं कि उन्हें इससे प्रयोजन नहीं कि उनके शस्त्रास्त्र मित्र-राष्ट्रों को मिल रहे हैं या शत्रु-राष्ट्रों को। कैसी विडम्बना है यह!

और फिर एक बार कारखाने का विस्तार होने पर, शस्त्रास्त्रों का अत्यधिक उत्पादन और खपत होने पर उनके व्यापारिक स्वार्थ के यह विरुद्ध पड़ता है कि एक बार जो युद्ध जैसी स्थिति निर्मित हुई, जो आतङ्कपूर्ण वातावरण तैयार हुआ था, उसे समेट लें।

हमारा दृढ़ विश्वास है, कि आज संसार के संपूर्ण राष्ट्रों के पास शस्त्रास्त्रों का जो विशाल भण्डार जमा हो गया है, यदि उसे नष्ट कर दिया जाय और शस्त्रास्त्रों के कारखानों को एकदम बन्दकर दिया जाय

तो युद्ध की चर्चा, युद्ध का वातावरण संसार में दो दिन में समाप्त हो जाय। वास्तव में तो इस वातावरण के निर्माता शस्त्रास्त्रों के कारखाने ही हैं।

अहिंसक साधना के लिए हिंसा के इन वृहत्काय उपकरणों के त्याग की ही आवश्यकता नहीं है, वरन् अपने पास हिंसा के दूसरे या छोटे उपकरण—चाहे वह बन्दूक हो या राइफिल, भाला हो या तलवार उन्हें भी रखने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि इनके कारण भी मन में हिंसा को अनावश्यक प्रोत्साहन मिलता है।

अहिंसक साधना के लिये हिंसा के उपकरणों की तरह हिंसायतनों के त्याग की भी आवश्यकता है। जैसे स्लाटर हाउस (कसाईखाने) खोलना, मुर्गी पालना या मत्स्योद्योग, चमड़े के मिल, जूतों की दूकान, मांस और शराब का व्यापार, बन्दरों का निर्यात-व्यापार, रेशम का कारखाना या व्यवसाय, जीव-जन्तुओं के द्वारा औषधि निर्माण, अथवा शेर आदि हिंस्र जीवों और ऐसे कुत्तों का पालना, जिन्हें मांस देना पड़े आदि आदि। ये सब तो वस्तुतः प्रतीक हैं। किन्तु जिन भी कामों का सम्बन्ध साक्षात् हिंसा से है, उन कार्यों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। इन हिंसायतनों के कारण वास्तव में मन में हिंसा सदा वास किये रहती है, चाहे वह जाग्रत रहे या सुषुप्त अवस्था में रहे। क्योंकि बाह्य कारणों का मन पर प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। मन का छिपा हुआ चोर जब तक मन से निकल नहीं जाता, तब तक निश्चिन्त जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः चिन्ता ही तो आकुलता है और आकुलता ही हिंसा है। वह हिंसा की जनेता भी है और पुत्री भी। जबकि निराकुलता अहिंसा है; अहिंसा की जनेता भी और पुत्री भी।

कभी-कभी हिंसा-अहिंसा के विवेक में एक प्रश्न आगे आ जाता

हिंसा हिंस्य जीवों की संख्या पर निर्भर नहीं है

है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग अशक्य होने के कारण एक गृहस्थ के लिये इनका आवश्यक व्यवहार क्षम्य माना गया है। किन्तु इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि केवल एक दिन के और एक बार के भोजन का समारम्भ, आरम्भ करने में अनाज के अनेकों दानों, सब्जी, अग्नि, वायु और जल के असंख्य जीवों का घात हुआ। यदि असंख्य जीवों का घात न करके केवल एक बकरा, हाथी, या हिरण को मार कर खा लिया जाय तो उससे केवल एक जीव का ही घात होगा।[1] इस प्रकार अन्न का आहार करने की अपेक्षा मांस का आहार करने में हिंसा कम हुई? क्या यह उचित नहीं?

निश्चय ही इस प्रश्न के जिस पहलू पर बल दिया गया है, उससे इनकार तो नहीं किया जा सकता। किन्तु इसका एक पहलू और भी है, जिसकी इस प्रश्न में उपेक्षा की गई है और वस्तुतः इस समस्या का समाधान उसी पहलू में से मिलेगा और वही समस्या का वास्तविक तथ्य होगा।

भ० महावीर के समय अनेक प्रकार के तापस-सम्प्रदाय थे जो अहिंसा को उत्तम आचार मानते थे और अहिंसा का पालन भी करते थे; मगर अहिंसा विषयक उनकी धारणायें विभिन्न प्रकार की थी।

उन तापस-सम्प्रदायों में एक 'हस्तितापस' नामक सम्प्रदाय भी प्रचलित था। जान पड़ता है, उसका यह नाम उसकी मान्यता और प्रवृत्ति के कारण ही पड़ गया था। यह सम्प्रदाय मारे जाने वाले

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८२

जीवों की संख्या पर हिंसा की गुरुता या लघुता अंगीकार करता था। जीव अधिक संख्या में मारे जाएँ तो अधिक हिंसा और कम मारे जाँय तो कम हिंसा होगी, ऐसी हस्ति-तापस-सम्प्रदाय की मान्यता थी।

जैन वाङ्मय में इस सम्प्रदाय की मान्यता का उल्लेख और साथ ही उसका प्रतिविधान भी मिलता है। उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर उससे मिल जाता है। अतः हम यहाँ उसका पृथक् उत्तर न देकर जैनवाङ्मय का अवतरण ही यहाँ उद्धृत किये दे रहे हैं, जो इस प्रकार है—

जैन मुनि आर्द्रकुमार भगवान् महावीर की वन्दना के लिए जा रहे थे, तब मार्ग में हस्तितापसों से उनकी भेंट हो गई। वे कहने लगे 'बुद्धिमान मनुष्यों को सदा अल्पत्व और बहुत्व का विचार करना चाहिए। कन्द, मूल, फल आदि खाकर निर्वाह करने वाले तापस बहुत से स्थावर जीवों तथा उनके आश्रित रहे हुए अनेक जंगम प्राणियों का विनाश करते हैं। गूलर आदि फलों में बहुसंख्यक जंगम जीव रहते हैं, अतः गूलर आदि खाने वाले उन जीवों की हिंसा के भागी होते हैं। जो भिक्षा से अपनी आजीविका चलाते हैं, वे भी भिक्षा के लिए इधर-उधर जाते-आते कीड़ी आदि अनेक प्राणियों का मर्दन करते हैं।'

'हम इस बड़ी हिंसा से बचने के लिए महान् हाथी को मार कर उसके मांस से वर्ष भर अपना निर्वाह करते हैं और शेष जीवों की रक्षा करते हैं। हमारे धर्म के आचरण से अनेक प्राणियों की रक्षा और एक प्राणी का विनाश होता है। यही धर्म सबसे श्रेष्ठ है।'

मुनि आर्द्र कुमार ने हस्तितापसों के कथन का प्रतिवाद करते हुए जो कुछ कहा, उससे जैनों की अहिंसाविषयक मान्यता पुष्टि होती है। उन्होंने उत्तर दिया था—'वर्ष में एक प्राणी को मारने वाला पुरुष भी हिंसा के दोष से रहित नहीं हो सकता; फिर हाथी जैसे पंचेन्द्रिय

महाकाय प्राणी का घात करने वाले कैसे निर्दोष हो सकते हैं?

'साधु पुरुष सूर्य-किरणों द्वारा प्रकाशित मार्ग में चार हाथ आगे की भूमि देख कर चलते हैं। वे ईर्यासमिति का पालन करते हैं और बयालीस दोषों से बच कर आहार ग्रहण करते हैं। लाभ और अलाभ में समभाव रखते हैं। उनके द्वारा कीड़ी आदि का घात नहीं होता।'

'जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर भी प्रतिवर्ष एक-एक प्राणी का घात करते हैं और दूसरों को ऐसा करने का उपदेश देते हैं, वे स्व-पर का अहित करने वाले अज्ञानी हैं। वर्ष में एक प्राणी का घात करने से एक ही प्राणी का घात नहीं होता, किन्तु उस प्राणी के मांस आदि में रहने वाले अनेक प्राणियों का तथा उसके मांस को पकाने में अनेक जंगम और स्थावर प्राणियों का घात होता है। ऐसा करने वाले अहिंसा के उपासक नहीं हैं।'[1]

इस संवाद से मुख्यतया तीन बातें फलित होती हैं—

१—श्रमण व्रतधारी एक भी प्राणी की हिंसा नहीं कर सकता।

२—हिंसा की गुरुता-लघुता हिंस्य प्राणियों की संख्या पर निर्भर नहीं है।

३—यतनापूर्वक प्रवृत्ति करने वाला अप्रमत्त पुरुष हिंसा का भागी नहीं होता।

वस्तुतः हिंसा का विष प्रमाद में रहता है, प्राण-घात में नहीं। जिसका चित्त राग और द्वेष से अभिभूत है, वह प्राण-घात न करने पर भी हिंसा का भागी होता है। इसके विपरीत समभाव में स्थित अप्रमत्त पुरुष के निमित्त से यदि किसी जीव का घात हो जाता है तो भी वह हिंसक नहीं कहा जा सकता। इसी कारण जैन आगमों में यतनाचार

१—सूयगडांग द्वि श्रु० अ० ६ गा० ४२-४३

को बहुत महत्व प्रदान किया गया है।[1]

प्रश्न किया गया है कि जब समग्र लोक जीवों से व्याप्त है तो साधु हिंसा के पाप से किस प्रकार बच सकता है? हिंसा से बचने के लिये साधु किस प्रकार चले? कैसे ठहरे? कैसे बैठे? कैसे शयन करे? कैसे भाषण और भोजन करे? आखिर सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया करने में भी जीववध अनिवार्य है। फिर अहिंसा की व्यावहारिक साधना का क्या मार्ग है?

जैन शास्त्रों का इस संबंध में एक ही मुख्य उत्तर है और वह यह कि यतना का आश्रय लेने से ही अर्थात् मन में किसी भी प्राणी के प्रति लेश मात्र भी कालुष्य न आने देकर सावधानी एवं सतर्कता के साथ प्रवृत्ति करने से ही मनुष्य हिंसा के पाप से बच सकता है।[2]

व्यावहारिक जीवन और निश्चय मार्ग—जैनवाङ्मय में आत्म-तत्व को समझने और पाने के दो मार्ग बतायें हैं—व्यवहार और निश्चय। व्यवहार साधन मार्ग है और निश्चय साध्य। अर्थात् आत्मा स्वयं अपने ही कर्मों के कारण जिन दुःख और क्लेशों का अनुभव कर रहा है, उनसे मुक्ति का जो मार्ग है, जो साधन हैं, जो हमारा बाह्य आचार और व्यवहार हैं, वह व्यवहार है। और आत्मा की इन दुःख-क्लेशों से रहित जो उसकी वास्तविक दशा है, वह निश्चय दशा है अर्थात् वह हमारा साध्य है।

अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्त धारणायें

1—मरदु वा जियदु वा०

2—दसवेयालिय, अ० :

इस जगत् में उपादेय यह है कि जो हमारा लक्ष्य है, उसे हम सदा अपने समक्ष रक्खें, जिससे हम कभी लक्ष्य भ्रष्ट न हो जायँ और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये व्यावहारिक मार्ग से सदा आगे बढ़ते रहें। जब तक उस लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो गई, तब तक उस लक्ष्य को हम अपना वर्तमान जीवन नहीं मान सकते। न हम व्यावहारिक धरातल की उपेक्षा ही कर सकते हैं। हम अपने लक्ष्य के प्रति सतत बढ़ते चले जायँ, हमारी साधना की सार्थकता इसीमें है। वस्तुतः हमारी यह साधना ही तो व्यवहार है और यह साधना जिसके लिए है, वह हमारा लक्ष्य निश्चय है।

जो समस्त सांसारिक दायित्वों से ऊपर उठ गये हैं, जिनका एक मात्र लक्ष्य आध्यात्मिक साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करना है, वे उस व्यावहारिक मार्ग को न अपनावें तो यह बात एक सीमा तक समझ में आ सकती है। यद्यपि वे जिस साधना में लगे हैं, वह भी व्यवहार-मार्ग ही है। फिर भी उनकी अपनी कुछ मर्यादायें हैं और उन मर्यादाओं को वे नहीं छोड़ सकते।

किन्तु जिन्होंने अभी सांसारिक दायित्व ओढ़ रक्खे हैं, जिनकी साधना गृहस्थ जीवन के परिशुद्ध निर्वाह तक सीमित है, वे तो व्यवहार मार्ग की कदापि उपेक्षा नहीं कर सकते। उन्हें तो व्रत, नियम, सामायिक की तरह दान, दया, दाक्षिण्य और अन्य पुण्य-कार्य करने ही होंगे। ये भी उसकी चरम साधना के मार्ग के मुकाम हैं। इन मुकामों पर से बढ़ते हुए ही वह अपने चरम लक्ष्य को पा सकेगा, अन्यथा वह और उसका जीवन एकदम अव्यावहारिक बन जायगा।

उसके व्यावहारिक जीवन की सफलता इसमें होगी कि वह दुखी प्राणियों की पीड़ा में कितना सम्वेदन शील और करुणापरायण रहता

है तथा उनकी उस पीड़ा को दूर करने का क्या सक्रिय उपाय करता है। यदि वह भूख से व्याकुल किसी मनुष्य को, गाय को या किसी प्राणी को देखेगा तो अवश्य उसके दिल में दया का स्रोत उमड़ पड़ेगा और वह अपना आवश्यक कर्तव्य मानकर उसकी विकलता को शुद्ध भोजन देकर दूर करेगा। वह तब मीमांसा करने नहीं बैठ जायगा कि उस भोजन में हिंसा की कितनी मात्रा है। भोजन में हिंसा की अनिवार्यता मानकर भी वह भूखे को भोजन खिलाना अपना आवश्यक कर्तव्य मानेगा। जैसे कि वह अपने लिये भोजन को आवश्यक मानता है।

इसी प्रकार यदि वह देखेगा कि एक बिल्ली चूहे पर झपट रही है, एक बाज कबूतर मार रहा है, तो वह उन्हें बचाने का अवश्य प्रयत्न करेगा। वह यह सोचकर अपने कर्तव्य से मुख नहीं मोड़ेगा कि बचाकर हमने उनके भोजन में बाधा डाली। जिस प्रकार हम किसी महिला पर किसी दुराचारी पुरुष द्वारा बलात्कार करते हुए देखकर उसे बचाने दौड़ पड़ते हैं। हम उस समय यह कभी नहीं विचार करते कि ऐसा करके हम उस दुराचारी के 'आनन्द' में विघ्न डाल रहे हैं।

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा हमारे आत्म-परिणामों पर निर्भर हैं। भूखे को भोजन खिलाने या किसी मरणासन्न को बचाने में हमारे भावों में करुणा है। इसलिये वह हिंसा नहीं, अहिंसा है। किन्तु ऐसे कार्यों में भी हिंसा की कल्पना करने वाले संभवतः निश्चय को उसके स्थान से खींचकर उसे व्यवहार बनाने का प्रयत्न करते हैं। इससे तो सारा आचार-मार्ग ही वे अवरुद्ध कर देते हैं।[1]

एक प्रश्न—यहीं एक प्रश्न उठ खड़ा होता है[2]—हिंसा-अहिंसा

१—पुरुषार्थ सिद्धि युपाय ४०

२—योग शास्त्र। जीवस्य हिंसा न भवे...,

यह सब मिथ्या कल्पना है। हिंसा-अहिंसा की यह कल्पना हमारे मन के दृष्टिकोण से उपजी है, वस्तुतः किसी आत्मा का कभी विनाश नहीं होता, क्योंकि आत्मा अविनाशी है—कूटस्थ नित्य है।

प्रश्न का एक दृष्टिकोण यह भी है कि बिल्ली यदि चूहे को मारती है तो चूहे की आत्मा की यह दशा होने वाली ही थी। हम उसे बचा कर उसकी उस अवश्यंभावी दशा को रोक नहीं सकते। और यदि हमारे प्रयत्न से उस चूहे की आत्मा उस दशा में कुछ दिन और रह जाती है तो यह भी अवश्यंभावी था, नियत था। इस तरह हम अपने उस प्रयत्न को अहिंसा का नाम या बिल्ली के उस कृत्य को हिंसा का नाम क्यों कर दे सकते हैं। जिसका होना नियत है, वह अवश्य होगा, यदि चूहे की मृत्यु होने वाली है तो वह होगी, चाहे बिल्ली द्वारा हो या और किसी तरह। यदि चूहे को बचना है तो वह अवश्य बचेगा, चाहे उसे बचाने में हमारा हाथ हो या दूसरे का।

इसी तरह यह भी प्रश्न उठता है—यदि आत्मा क्षणिक है, तब भी हिंसा अहिंसा का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि आत्मा का तो प्रतिक्षण विनाश हो रहा है। चूहे और बिल्ली की जो आत्मा इस क्षण में है, उसका अगले क्षण में अपने आप विनाश हो गया। तब बिल्ली चूहे को मारती है, यह कल्पना ही क्यों? और जब यह कल्पना नहीं उठती, तब 'मैं चूहे को बचाता हूँ', यह तो सोचना ही व्यर्थ है। बचाया उसको जा सकता है, जो रहने वाला हो। जो रहने वाला नहीं, जिसका अगले ही क्षण में विनाश होने वाला है, उसका बचाना कैसा?

ये तीनों ही प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। इन तीनों प्रश्नों के मूल में जो विचार हैं, उनके आधार पर ही तीन स्वतन्त्र दर्शनों का विकास हुआ है। इसलिये इन विचारों की सरलता से उपेक्षा नहीं की जा सकती।

किन्तु फिर भी संक्षेप में 'आत्मा क्या है' यह समझ लेने पर इन प्रश्नों का समाधान मिल जाता है। खान में पड़ा हुआ सोना अशुद्ध होता है। खान से निकलने पर स्वर्णकार उस सोने से हार बना देता है। आवश्यकता पड़ने पर उस हार को तोड़कर बाजूबन्द बना देता है। हार और बाजूबन्द ये सोने की दो दशायें हैं, जो बदली जा सकती हैं या बदलती रहती हैं, किन्तु फिर भी उनमें जो मूल वस्तु सोना था, वह सोना ही रहता है। अर्थात् सोना एक मूल तत्व है, जो अपनी हर दशा में भी सोना ही रहता है। जब हार को तोड़कर बाजूबन्द बनाया तो उसकी एक दशा का विनाश हुआ, दूसरी दशा की उत्पत्ति हुई। संसार की हर वस्तु, हर तत्व का यही रूप है। आत्मा एक अविनाशी तत्व है, ध्रुव है किन्तु उसकी दशायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। पहली दशा का व्यय और नई दशा का उत्पाद। इस तरह आत्मा में सदा ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार हम यह मान सकते हैं कि जो आत्मा को ऐकान्तिक नित्य मानते हैं अथवा ऐकान्तिक अनित्य मानते हैं, उनकी इस ऐकान्तिक मान्यता का खंडन एक दूसरे की जोरदार तर्कों द्वारा स्वतः हो जाता है। वस्तुतः ऐकान्तिक मान्यता वस्तु के एक रूप की मान्यता है, जबकि वस्तु में दूसरा रूप भी विद्यमान रहता है। इसलिये आत्मा को, संसार के सभी पदार्थों और तत्वों को नित्य और अनित्य मानना तथ्य की मान्यता है।

आत्मा[१] की नित्य-अनित्य रूप अनैकान्तिक मान्यता स्वीकार कर लेने पर उक्त दो प्रश्नों का उत्तर स्वयं मिल जाता है। बिल्ली चूहे को मारती है। चूहे की आत्मा अपनी सभी दशाओं में रहने वाला एक

१—योग शास्त्र (नित्यानित्ये ततो जीवे)······

प्रवाही तत्व है। किन्तु उसकी दशायें सदा परिवर्तनशील हैं, बदलती रहती हैं। जब कोई किसी को मारता है तो वह उसकी आत्मा को नहीं मारता। वस्तुतः वह आत्मा की एक दशा का विनाश करता है। उसमें हिंसा की कल्पना आत्मा की एक दशा के विनाश के कारण नहीं की गई, अपितु उस आत्मा को जो दुःख हुआ, और मारने वाले की आत्मा में कषाय (क्रोधादि) का प्रादुर्भाव हुआ, इसलिये की गई है।

इसी तरह नियतिवाद या नियतवाद जिनकी मान्यता है, वे भी हिंसा-अहिंसा को कल्पना कहकर उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। वस्तु की हर तथाकथित 'नियत' दशा किसी न किसी निमित्त से ही होती है। संसार के हर कार्य का कारण होता है। हर कार्य का कारण मानने पर यह स्वीकार करना ही होगा कि बिल्ली चूहे पर झपटी। तब बिल्ली के अन्तर में जो कषाय का भाव जाग्रत हुआ, वह हिंसा थी और मैंने उसे बचाने का प्रयत्न किया, उस स्थिति में मेरे अन्तर में जो दया की भावना या कषाय का अभाव हुआ था, वह अहिंसा कहलाई।

धर्म के नाम पर हिंसा की मान्यता

वास्तव में हिंसा-अहिंसा की मान्यता पर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, यदि हिंसा-अहिंसा की सम्पूर्ण व्यवस्था मुख्यतः 'आत्म-परिणाम (भावना) पर निर्भर है' यह समझ लिया और स्वीकार कर लिया जाय। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि 'भावनाओं में दया है' यह कह कर प्राणियों का विनाश करते रहें और 'हमें कोई हिंसा नहीं लगी' यह कहकर आत्म-सन्तोष कर लें। यह आत्म-सन्तोष तो नहीं ही होगा। इसे भले ही आत्म-वञ्चना कहा जा सकता है। क्योंकि जहाँ हिंसा की परिभाषा की गई है, वहाँ 'द्रव्य और

भाव प्राणों का विनाश' यही परिभाषा की गई है। यह विनाश चाहे अपने प्राणों का हो या दूसरे के प्राणों का। और जब कोई व्यक्ति किसी के प्राणों का संकल्पपूर्वक विनाश करता है, तब उसकी भावनायें परि-शुद्ध कैसे रह सकती हैं, उनमें दया या उपकार का अंश तक नहीं रह सकता।

किन्तु फिर भी कुछ लोग यह मानते हैं कि यज्ञ मानव-जीवन का सर्वाधिक आवश्यक कर्त्तव्य है। उसमें पशुओं का होम देने अथवा देवताओं के लिये बलि देने से देवता प्रसन्न होते हैं। साथ ही होम किये गये या बलि दिये गये पशुओं पर भी देवता प्रसन्न हो जाते हैं और वे उन्हें सद्गति में पहुँचा देते हैं।

वास्तव में ऐसी ही मान्यताओं के कारण धर्म के नाम पर अन-गिनत पशुओं-पक्षियों और कहीं-कहीं मनुष्यों तक का बलिदान होता रहा है और आज भी हो रहा है। कुछ लोग पितरों की प्रसन्नता के लिये श्राद्ध करते हैं, जिनमें अनेकों निरपराध पशुओं की हिंसा कर डालते हैं। कुछ ऐसे भी देवताओं की मान्यता चल रही है, जिनका एकमात्र भक्ष्य पशुओं का रक्त और मांस है, जो पशुओं का बलिदान पाये बिना सन्तुष्ट ही नहीं होते। कुछ लोगों की मान्यता है कि अतिथि देव रूप होता है। अतः उसकी प्रसन्नता के लिये भी उसे मांस खिलाना चाहिये। इससे देवता अवश्य प्रसन्न होते हैं। कुछ लोग विघ्न-शान्ति के लिये भी हिंसा करते हैं। उनकी मान्यता है कि दुर्भाग्य या कष्ट किसी देवता की अप्रसन्नता के परिणाम हैं। अतः उनकी प्रसन्नता के लिये बलि दी जानी चाहिये। कुछ व्यक्ति कुलाचार के नाम पर मांगलिक अवसरों पर हिंसा करते हैं। कुछ धर्मानुयायी अपने परम पवित्र पर्व पर मांस भक्षण करना और उसके लिये स्वयं बकरा, गाय आदि का वध

करना धर्म का अनिवार्य अंग और शवाब मानते हैं। उनकी एक मान्यता यह भी रही है कि अपने धर्म को न मानने वाले व्यक्तियों का कत्ल करना न केवल जायज ही है, बल्कि उससे जन्नत की सीट रिजर्व हो जाती है।

इस प्रकार धर्म के नाम पर हिंसा के विविध रूप मिलते हैं और इस तरह संसार में प्रतिवर्ष कई करोड़ पशु और असभ्य समझी जाने वाली किन्हीं जातियों में अनेक मनुष्यों का वध किया जाता है। इस वध के रूप भी विविध प्रकार के हैं। मनुष्य की क्रूर वृत्ति वध के जितने रूपों की कल्पना कर सकती है, वे सभी रूप धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन वध और बलिदानों में पाये जाते हैं, जिन्हें देख सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कहीं जीवित मनुष्यों और पशुओं को अग्नि में जला दिया जाता है। उस समय धार्मिक जन बड़ा उल्लास प्रगट करते हैं। गाजे-बाजे और धूमधाम के साथ हत्या-समारोह होता है। उस वध्य पशु या मनुष्य को सुवासित पुष्प-मालाओं से अलङ्कृत करके सुन्दर ढंग से सजा कर जलती हुई अग्नि में पटक दिया जाता है और इस तरह उस अनिच्छुक प्राणी को उठती हुई ज्वालाओं और निकलते हुए धुएँ के सहारे स्वर्ग पहुँचाने के अयाचित अनुग्रह का पुण्य संचय किया जाता है। कहीं छुरी के एक झटके से, कहीं छुरी पशु की गर्दन पर धीरे-धीरे चलाकर उसे काट दिया जाता है। कहीं किसी पशु के गुदा मार्ग से तीक्ष्ण भाला चुभोकर और उसके मुख के मार्ग से उसे निकाल कर उस पशु को जलती हुई आग में जलाया जाता है। इस प्रकार बलिदान के अनेकों वीभत्स तरीके काम में लाये जाते हैं और सब धर्म के नाम पर! वास्तव में निरपराध और निरीह पशु-पक्षियों और मनुष्यों की सीमातीत यन्त्रणाओं पर आधारित धर्म का यह घटा-

टोप कितना आश्चर्यजनक है !

धर्म के नाम पर होने वाली क्रूर हत्याओं और रोमांचकारी बलि-दानों का यह चित्रण किसी आदिम युग या बर्बर युग की कल्पना नहीं है, अपितु शताब्दियों से होने वाला यह वीभत्स संहार आज भी चालू है। मनुष्य में आज तक मांस भक्षण की प्रवृत्ति को धर्म के नाम पर होने वाली इस बलिदान प्रथा ने अत्यधिक प्रोत्साहन दिया है। धर्म और देवताओं के नाम पर जो बलिदान प्रथा विकसित हुई, उसके मूल में किन व्यक्तियों का हाथ रहा है, यह प्रथा किन व्यक्तियों द्वारा प्रारंभ हुई और किन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुई, यदि इसका ऐतिहासिक अनुसन्धान किया जाय तो हमें विश्वास है, उससे एक नया प्रकाश मिलेगा और व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं को धर्म का रूप देकर किस प्रकार धर्म की विडम्बना कर सकता है, यह भी पता चल सकेगा।

यह कल्पना नहीं की जा सकती कि अहिंसा को धर्म मान कर कोई धर्म के लिये हिंसा करे, और उसके बाद उस हिंसा को हिंसा न माने। वास्तव में ही हिंसा भी धर्म है तो पाप क्या है। 'जगन्माता' और 'जगद्धात्री कहलाने वाले देवता यदि अपनी सृष्टि के और अपने ही पुत्रों के रक्त और मांस से सन्तुष्ट हों तो उनकी प्रसन्नता के लिए रक्त माँस देने के अतिरिक्त और किसी सदाचार, नैतिक मर्यादा आदि के पालन की आवश्यकता न पड़ेगी ! धर्म का इससे बड़ा उपहास और क्या हो सकेगा ? धर्म तो वस्तुतः नैतिक मूल्यों और उन कोमल वृत्तियों का नाम है, जिनके द्वारा संसार के सम्पूर्ण प्राणी अपने जीवन की आशा का आश्वासन पा सकें, न कि उन मान्यताओं का नाम है, जिनके द्वारा प्राणी अपने जीवन के प्रति सदा सन्देह शील और आतंकग्रस्त बना रहे।

वास्तव में अहिंसा जीवन है और हिंसा विनाश है। जीवनों का जहाँ विनाश किया जाता है, वहाँ अहिंसा की हिंसा की जाती है, और इसका अर्थ यह हुआ कि वहाँ वस्तुतः धर्म का विनाश किया जाता है। यदि धर्म मनुष्य के हृदय की क्रूरता को दूर न कर सका, हृदय में अन्य प्राणियों के प्रति मैत्री भाव जागृत न कर सका तो वस्तुतः वह धर्म अपनी सार्थकता खो देता है। धर्म चिरंतन सत्य है; वह सदा एक और एक रूप रहा है; देश और काल की सीमाओं से वह अबाधित है; सब कालों में और सब परिस्थितियों में वह एक रूप रहता है; वह किसी बाध्यता का परिणाम नहीं, अपितु आत्मा का निजी स्वभाव है।

हमारा कुछ ऐसा विचार है कि धर्म के लिये, देवताओं और अतिथियों के लिये बलिदान की प्रथा का निकास उस समय हुआ, जब कुछ आदिम जातियाँ जंगली जीवन व्यतीत कर रही थीं, नागरिक जीवन अपना नहीं पाई थीं। उस समय तक उन्हें खेती और व्यापार तथा अन्य नागरिक शिल्पों का ज्ञान नहीं था। ऐसी स्थिति में जंगल में रह कर जंगली कन्द मूल फल या जंगल में विचरण करने वाले पशु-पक्षियों का माँस ही उनके जीवन पालन का एक मात्र आधार था। ऐसी संस्कृति में रहने वाले उन लोगों ने ऐसे ही देवताओं की कल्पना की, जो उनसे भी अधिक क्रूर, मांस भक्षी और रक्त लोलुपी हों। जब वे लोग नागरिक सम्पर्क में आकर कुछ अधिक सुसंस्कृत बने; अन्नो-त्पादन आदि का भी उन्हें ज्ञान हो गया, तब भी वे संस्कारवश अपने मान्य देवताओं को तो न छोड़ सके और न उस समय तक किये जाने वाले धार्मिक कृत्यों की उपेक्षा या अनादर कर सके। किन्तु उन्होंने उन सब कृत्यों पर धार्मिक छाप बैठाने के लिये यह अवश्य कहना प्रारंभ

कर दिया कि संसार में पशुओं की सृष्टि बलिदान के लिये ही हुई है ; धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा हिंसा नहीं है। वस्तुतः उस समय लोक-मानस में हिंसा के प्रति गहरी घृणा व्याप्त थी। इसीलिये उन्हें धर्म के लिये की जाने वाली हिंसा को जन-जन की घृणा से बचाने के लिये उसे धर्म स्वीकार करना पड़ा। इससे उन्हें कई लाभ हुये— अपने अविकसित जंगली जीवन की मान्यताओं को सुसंस्कृत सिद्ध करने का अवसर मिल गया ; असंस्कृत जीवन में किये जाने वाले माँसाहार और हिंसा का भी औचित्य सिद्ध करने और मांसाहार तथा हिंसा के विरुद्ध लोक-जीवन में व्याप्त व्यापक घृणा से बचने का एक अस्त्र मिल गया ; और इससे भी अधिक उन्हें मांस-भक्षण करते रहने के लिये साधन मिल गया।

हमारा तो विश्वास है, धर्म अगर आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि का नाम है तो उसके मार्ग भी शुद्ध ही होंगे। आत्मा की वह शुद्धि शुद्ध साधनों, शुद्ध आचार-विचारों द्वारा ही की जा सकेगी, हिंसा और क्रूरता जैसे अशुद्ध साधनों द्वारा नहीं। अशुद्ध साधनों से शुद्ध प्राप्य नहीं पाया जा सकेगा। इसलिये यदि हम यह विश्वास करें तो अनुचित न होगा कि विघ्न-शान्ति के लिये की गई हिंसा से विघ्न ही उत्पन्न होंगे [1] और कुलाचार बुद्धि से की गई हिंसा से कुल का विनाश होगा।[2] इसी प्रकार पितरों के तर्पण, देवताओं की प्रसन्नता और आत्म-कल्याण के लिये जो हिंसा की जायगी,[3] वह दुर्गति का कारण

१—योग शास्त्र
२— ,,
३— ,,

बन जायगी। वास्तव में देवताओं को धनुष-बाण, ढाल चक्र, त्रिशूल आदि उनके हाथ में देकर देवताओं की विडम्बना ही की गई है।[1] हिंसक और भयानक रूप बना कर इन देवताओं का सौम्य रूप नष्ट कर दिया गया है।

सारांश यह है कि धर्म, देवता और अतिथियों या पितरों के लिये की जाने वाली हिंसा वस्तुतः हिंसा है और वह त्याज्य है।[2]

कई अहिंसक व्यक्ति भी कभी-कभी हिंसा का समर्थन कर बैठते हैं। ऐसे व्यक्तियों का कहना है—गाय का एक बछड़ा या कोई प्राणी अत्यन्त पीड़ा के कारण छटपटा रहा है। उसका

दुखी जीवों का वध

अन्तकाल बिलकुल निकट आ गया है। उसके बचाने के सभी प्रयत्न असफल हो चुके हैं, उसकी मृत्यु निश्चित है। उसका दुःख देखा तक नहीं जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में उसको मार देना ही श्रेयस्कर है। इससे वह दुःखों से अत्यन्त शीघ्र मुक्त हो जायगा, अर्थात् मारकर किसी के दुःख-भोग के काल को कम करना भी एक प्रकार से अहिंसा ही कहलाती है।[3]

करुणा के छद्मवेष में, दया का आवरण डाल कर यह जो अहिंसा आई है, वस्तुतः वह है हिंसा ही। यदि इसमें गहरे उतर कर देखें तो एक बात स्पष्ट दिखाई देगी कि उस दुखी प्राणी को मारने की प्रेरणा उसके असह्य दुःख में से नहीं मिली, बल्कि हृदय की उस दुर्बलता से

१—योगशास्त्र द्वि० प्र० श्लोक १६-४२

२—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ७६, ८०, ८१

३—योग शास्त्र

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८५

मिली है, जिसके कारण वह उस प्राणी का दुःख नहीं देख सका। इस दुर्बलता को करुणा, दया या अहिंसा का नाम कैसे दिया जा सकता है?

इसके अतिरिक्त एक बात और है। उस प्राणी को उस दुःख से मुक्ति दिलाने का यह दम्भ एक नास्तिक के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। जो व्यक्ति पुनर्जन्म में विश्वास करता है, वह यह कैसे दावा कर सकता है कि उसने उस प्राणी को दुःखों से छुड़ा दिया, जब कि उसके दूसरे जन्म के दुःखों की संभावना नष्ट नहीं हो गई। 'हमने अपनी आँखों देखते तो उस प्राणी को दुःखों से छुड़ा ही दिया, आगे उसे दुःख मिलेंगे या सुख, यह बात वह प्राणी जाने और उसका भाग्य, शायद यह कहना तो उस खरगोश की तरह होगा, जो संकट आने पर कानों से अपनी आँखें बन्द कर लेता है और यह सोच कर निश्चिन्त हो जाना चाहता है कि मैं दुनिया को नहीं देख पा रहा तो दुनिया भी मुझे नहीं देख सकती। हमारे इस आत्म-सन्तोष से उस प्राणी को दुःखों से मुक्ति पाने में संभवतः कोई सहायता मिलने वाली नहीं है।

फिर करुणा की यही प्रक्रिया यदि पीड़ाओं से छटपटाते हुए सभी प्राणियों पर बरती जाने लगे तो उससे संसार में कितना हत्याकाँड होने लगेगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। ऐसी दशा में वे प्राणी भी मारे जा सकेंगे, जिनकी मृत्यु हमें निश्चित प्रतीत हो रही थी, किन्तु मौत की अन्तिम पैंग से भी हाथ पैर मार कर जो बच सकते थे। संसार में मौत से जूझ कर बचने वालों की संख्या भी नगण्य नहीं कही जा सकती। दूसरी बात यह है कि दया की इस प्रक्रिया की अजमाइश मूक पशु-पक्षियों पर करके हम अहिंसा का दम्भ भले ही करलें, किन्तु

जन्म में सुख ही मिलेगा, तो अवश्य आत्म-घात कर लेते। किन्तु अब तक किसी ने इस दुराशा से आत्म-घात किया हो, यह सुनने में नहीं आया। इसका अर्थ यही है कि अन्य प्राणियों की तरह उन्हें भी अपने प्राण प्रिय हैं, वे भी मृत्यु और दुःख से डरते हैं। किन्तु उन्हें सुख पहुँचाने का लोभ संवरण न कर सकने वाले उनकी इच्छा के बिना ही उन्हें मार कर भावी जन्म के सुख की आशा में वर्तमान में तो घोर पीड़ा देते हैं। और उनके सिद्धान्त के अनुसार पीड़ा में छटपटा कर मरने वाले तो भावी जीवन में भी पीड़ा में छटपटाते रहेंगे, न कि सुख का अनुभव करेंगे। इस तरह 'चौवे जी छब्वेजी बनने गये थे किन्तु दूबे' ही रह जायेंगे।

दूसरी बात यह है कि सुख की यह मान्यता मूलतः गलत सिद्धान्त पर आधारित है। 'इस जीवन में जो सुखी हैं, वे दूसरे जीवन में भी सुखी रहेंगे और जो इस जीवन में दुःखी हैं, वे भावी जीवन में भी दुखी बनेंगे' इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि इस जीवन में जो दुखी है, वह सदा दुखी रहेगा और जो सुखी है, वह सदा सुखी रहेगा। इस तरह सुख और दुःख उठाने वाले प्राणियों का एक निश्चित वर्ग है। वे कितना ही पाप करें या पुण्य करें, उसका उनके सुख-दुःख पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। इस तरह तो पुण्य-पाप की व्यवस्था, सुकृत्य और दुष्कृत्यों की मान्यता ही गलत हो जायगी। और यह व्यवस्था गलत मान लेने पर कोई सुखी सुकृत्य करने की आवश्यकता न समझेगा और दुखी प्राणी को भी तब सुकृत्य करने की प्रेरणा न मिल सकेगी।

संसार में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं रही, जिनकी मान्यता रही है कि काशी-कर्वट या अमुक स्थान पर जाकर आत्म-घात करने,

अमुक नदी या तीर्थ में डूब मरने, अमुक स्थान से कूदकर मर जाने से या किसी देवता के आगे आत्म बलिदान करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। स्वर्ग की अदम्य आकांक्षा से न जाने कितने व्यक्तियों ने इन स्थानों पर जाकर आत्म-घात कर लिया। स्वर्ग की इसी लालसा ने भारत में सती प्रथा को जन्म दिया। पति की मृत्यु होने के बाद पतिपरायणा सती-साध्वी स्त्रियाँ हृदय में पति की स्मृति जगाये जलती हुई चिता पर जीवित जल मरती थीं। इसमें उनकी स्वयं स्फूर्त प्रेरणा रही हो या तत्कालीन समाज की परम्परा, किन्तु यह प्रथा एक लम्बे काल तक जीवित रही। ऐसा लगता है कि संभवतः तत्कालीन समाज-व्यवस्था में सती-दाह एक आवश्यक पुण्य-कार्य था। अतः उसका एक रूप यह भी सामने आया कि जो स्त्री पति के मरने के बाद स्वेच्छा से चिता में प्रवेश नहीं करती थी, उसे समाज जलती चिता में उसके पति के साथ ही जीवित जला देती थी। मुस्लिम काल में हजारों राजपूत स्त्रियों का एक साथ हँसते-गाते चिता में जलकर जौहर-व्रत लेना भी सती-प्रथा का एक रूप था। किन्तु हमारी मान्यता है, जौहर व्रत मुस्लिम आततायियों से अपनी लाज और धर्म बचाने के आदर्श का परिणाम था और उन तेजस्वी क्षत्राणियों के सन्मुख इस आदर्श को निभाने अर्थात् अपनी लाज और अपना धर्म बचाने का इसके सिवाय तत्कालीन परिस्थितियों में और कोई उपाय भी नहीं था।

स्वर्ग की आशा में आत्मघात

इस प्रकार धार्मिक जगत् में आत्म-घात द्वारा स्वर्ग पाने के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। लेकिन ऐसे रूप प्रायः मध्य-युग में अधिक विकसित हो गये थे। मध्य-युग ऐसा युग नहीं कहा जा सकता, जिस पर किसी भी दृष्टि से हम गर्व कर सकें। आत्म-घात के इन धार्मिक

रूपों की निस्सारता के लिये एक यही तथ्य पर्याप्त होगा।

जब भारत में अंग्रेजी राज्य आया, तब उसने सर्वप्रथम धर्म के नाम पर होने वाले इन आत्म-घातों को जुर्म करार दे दिया और उसके लिये दण्ड भी निर्धारित कर दिया। राज्य पर उसके हर व्यक्ति की जीवन-सुरक्षा का दायित्व है। वह हत्या और आत्म-घात दोनों को एक ही कोटि में रखकर विचार करता है, चाहे ये किसी धार्मिक अन्ध-विश्वास के परिणाम ही क्यों न हों। आत्म-घात के इस कानूनी विरोध के लिये विदेशी शासन को दोष नहीं दिया जा सकता। हमारा विश्वास है, यदि ये प्रथायें आज जीवित होतीं तो स्वतन्त्र भारत की सरकार भी इन्हें दण्डनीय अपराध घोषित कर देती।

धार्मिक दृष्टिकोण इस विषय में स्पष्ट है। आत्म-घात विवेकहीनता का परिणाम है। यह विवेकहीनता ही है कि व्यक्ति बिना शुभ कृत्य किये केवल तीर्थों और पवित्र स्थानों के माहात्म्य के बल पर स्वर्ग पाने का विश्वास कर लेता है। स्वर्ग के इन्हीं 'शौर्टकट्स' ने व्यक्तियों को नैतिकता, उच्च विचार, आत्म दमन, इन्द्रिय निग्रह आदि की प्रेरणा न देकर व्यक्ति में यह धारणा उत्पन्न कर दी कि पाप और दुराचारों में जीवन बिता कर भी केवल अमुक स्थान पर जाकर मरने से अथवा अमुक नदी में नहा लेने से पाप की सारी कीचड़ धुल-पुँछ जायगी और स्वर्ग मिल जायगा। वास्तव में मन, वाणी और कर्म की पवित्रता ही स्वर्ग की गारण्टी हो सकती है। सारे तीर्थ या धर्म स्थान तो साधन हैं। उन साधनों का अपनी पवित्रता के लिये उपयोग करने या न करने का दायित्व व्यक्ति का है। जो व्यक्ति इन साधनों को साध्यमान बैठता है और इनसे स्वर्ग और मुक्ति पाने का विश्वास करता है, वह अज्ञान और अंधविश्वास के अंधकार में फिर रहा है। इस अंधकार से मुक्ति

पाये विना स्वर्ग और मुक्ति पाने की आशा करना दुराशा मात्र होगा। स्वर्ग अपने कर्मों से-शुभ कर्मों से ही मिलेगा। स्वयं किये गये कर्मों का फल ही शुभ या अशुभ रूप मिलता है। यदि कोई दूसरा ही स्वर्ग देने लगे तो प्राणी के अपने शुभाशुभ कर्मों का कोई महत्व ही नहीं रह जायगा।[1]

हमारे जीवन में अनेकों ऐसी समस्यायें उठ खड़ी होती हैं, जिनका समाधान पाने में बड़ी कठिनाई अनुभव होती है। जो व्यक्ति सारे जीवन-व्यवहार को हिंसा-अहिंसा की कसौटी पर कस कर ही आगे बढ़ना चाहते हैं, वस्तुतः वे ही इन समस्याओं पर समाधान के पहलू से विचार करने को उत्सुक रहते हैं। ये समस्यायें संक्षेप में इस भाँति हैं—

हिंस्र और हानिकर जीवों का वध

हिंस्र पशु-जैसे शेर, चीता, भेड़िया, आदि और हिंस्र जन्तु-जैसे सांप, बिच्छू, गुहेरा आदि मनुष्यों के जीवन के लिये अत्यन्त भयोत्पादक और विनाशक हैं। इनके बने रहने से मानव को लाभ तो कुछ नहीं, बल्कि इनसे उसके जीवन के लिये खतरा बराबर बना रहता है। ये पशु या जन्तु भी मनुष्यों पर आक्रमण के लिये सदा तैयार बने रहते हैं। इसलिये मानव-जीवन की सुरक्षा की दृष्टि से इनका बध उचित है या नहीं? इनके मारने से अनेक जीवों को सुरक्षा भी मिल जाती है।

कुछ ऐसे भी पशु पक्षी और जीव-जन्तु हैं, जिनका मानव-जीवन के लिये कोई उपयोग तो है ही नहीं बल्कि जो मानव सृष्टि को सदा हानि ही पहुँचाते रहते हैं। जैसे नील गाय, सूअर और चूहे मानव के

1—भावना द्वात्रिंशतिका ३०-३१

उपयोग में आने वाली खेती और अन्न को भीषण क्षति पहुँचाते हैं। संसार में करोड़ों टन अन्न प्रतिवर्ष इनके द्वारा नष्ट हो जाता है, जिसकी मानव-जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यकता है। और चूहे तो अन्न-नाश के अलावा हमारे घर की प्रत्येक आवश्यक वस्तु-कपड़े पुस्तकों आदि को कुतर-कुतर कर भीषण क्षति पहुँचाते हैं। इनके कारण प्लेग फैलने का सदा खतरा बना रहता है। टिड्डियाँ तो एक प्रकार से मनुष्य की शत्रु ही हैं। ये लाखों की संख्या में आकर खड़ी फसलों और पेड़-पौधों को ही सफाचट कर जाती हैं, जिसके कारण भीषण अकाल की स्थिति पैदा हो जाती हैं। बन्दर भी मनुष्य के लिये अत्यन्त हानिकारक प्राणियों में से है। वह न केवल कपड़ों फलों पौधों आदि को ही हानि पहुँचाता है, बल्कि मनुष्य को काटकर कभी-कभी तो उसके प्राणों तक के लिये संकट उपस्थित कर देता है। मक्खी, मच्छर, पिस्सू, खटमल, जुंए, चींटी-चींटे-दीमक आदि कीड़े हमारे स्वास्थ्य, जीवन और जीवनोपयोगी वस्तुओं के लिए अत्यन्त हानिकर हैं। इनके मारने में क्या हानि है?

मानव की दृष्टि से इन प्रश्नों के औचित्य से इनकार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टिबिन्दु में 'मानव-जीवन के लिये उपयोगिता' यह सिद्धान्त काम कर रहा है। इसी सिद्धान्त ने अपना रूप बढ़ाकर मत्स्य और मुर्गियों के पालन को उद्योग का रूप देकर मछलियाँ और अण्डे खाने के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित किया है, जिससे अन्न-समस्या का हल हो सके। इसी सिद्धान्त ने मेंढकों, कुत्तों, चूहों और बन्दरों को वैज्ञानिक अनुसन्धानों और प्रयोगों के लिये हजारों की संख्या में मारने का मार्ग प्रशस्त किया है। इसी सिद्धान्त ने केंचुओं, बीर बहूटियों, सांप-बिच्छुओं आदि से दवायें निर्मित करने की भूमिका प्रस्तुत की

है। और कहना न होगा, इसी सिद्धान्त ने राष्ट्रों को एक दृष्टि दी—अमुक हमारे राष्ट्र के मानवों के लिये अहितकर है, इसलिये उनका विनाश कर देना ही हमारे राष्ट्र के लिये हितकर है। और इस दृष्टि ने ही विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के शस्त्रास्त्रों के अनुसन्धान और निर्माण कराये। और आज जब कि इन प्रेरणाओं के फलस्वरूप उद्जन बमों और अन्तर्देशीय प्रक्षेपणास्त्रों का निर्माण वा अनुसन्धान हो चुका है तो मानव पर अपने अस्तित्व के प्रति भी सन्देह और भय छा गया है। अभी कौन कह सकता है कि यह सिद्धान्त अभी क्या करवट बदलेगा और तब मानव-सृष्टि का क्या भविष्य होगा। अस्तु

प्रश्न है कि मानव के लिये हानिकर जीवों को मारा जाय या नहीं? इस प्रश्न की पृष्ठभूमि दृष्टि को केवल मानव-सृष्टि तक ही संकुचित करने के कारण निर्मित हुई है। सृष्टि केवल मानवों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि क्रूर, सौम्य, हिंसक, अहिंसक सभी जीवों के सह अस्तित्व का नाम सृष्टि है। मनुष्य ने अपनी बुद्धि और वाणी की विशेषता से सृष्टि के सम्पूर्ण पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं में जो प्राधान्य पा लिया है, उसके कारण वह सृष्टि के नियामक अधिकार का गर्व करने लगा है। वह दम्भ में यह समझ बैठा है कि सृष्टि में किसे रहने दिया जाय और किसे न रहने दिया जाय, यह सब केवल उसके ही ऊपर निर्भर है। इस तरह वह सारी जीव-सृष्टि को अपनी सुख-सुविधा का एक साधन बनाकर रखना चाहता है।

प्रकृति सृष्टि में सन्तुलन बनाये रखती है। मानव को हानि पहुँचाने वाले कीड़े अधिक न बढ़ जांय, इसके लिये प्रकृति ने छिपकलियाँ बनाई हैं। दीमक न बढ़ने पावें, इसके लिये तीतर उत्पन्न किये हैं। सांपों के लिये नेवला और मोर उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार शेरों का

आतङ्क बढ़ न जाय, इसके लिये अष्टापद बनाये थे। किन्तु मनुष्य ने अष्टापद का संसार से नाम शेष कर दिया। उसका परिणाम सिंहों का प्रकोप हुआ। वास्तव में प्रकृति के सन्तुलन को बिगाड़ने का मनुष्य ने जब भी प्रयत्न किया है, तभी प्रकृति ने मनुष्य से दूसरे किसी रूप में भयंकर बदला लिया है।

भारत में सदा से आध्यात्मिक दृष्टिकोण रहा है। आध्यात्मिक चमत्कारों में उसका सदा विश्वास रहा है। टिड्डियों आदि का प्रकोप न जाने कब से होता रहा है। किन्तु भारतवासियों ने, जब तक उनकी आध्यात्मिक आस्था दीप्त रही, कभी टिड्डियों को मारा नहीं, किन्तु मन्त्र-बल से उन्हें आने से रोक दिया। इसी प्रकार के अहिंसक उपाय सदा ही बरते जाते रहे। इससे न तो उन्हें असंख्य प्राणियों के खून से हाथ ही रँगने पड़े और न उन्हें हानि ही उठानी पड़ी। अन्य जीवों के लिये भी इसी प्रकार के अहिंसक प्रयोग किये जा सकते हैं और जीवों की सामूहिक हिंसा से बचा जा सकता है।

हमारा विश्वास है, अहिंसा में जिनकी आस्था गहरी है, वे अहिंसा के बारे में केवल मनुष्यों के लाभालाभ को सामने रख कर ही नहीं सोचेंगे। वे तो 'सर्व जीव सम भाव' और 'सब जीवों में मैत्री' के महान् आदर्श को स्वीकार करके ही आगे बढ़ेंगे। यदि अहिंसा को मानव तक ही सीमित करके मानव के लाभ के लिये जीवों की सामूहिक हत्या को भी अहिंसा का नाम दिया जाने लगे तो एक समय आ सकता है, जब मानव के हित में किसी भी क्रूर और हिंसक मनुष्य की हत्या को भी अहिंसा का नाम दिया जा सकेगा। अहिंसा तो वास्तव में माता के समान है, जो उपद्रवी और शिष्ट दोनों ही प्रकार के अपने बालकों पर समान प्यार करती है और जिसकी गोद में आकर दोनों ही बालक

अभय का आश्वासन पाते हैं।

और फिर यदि हानि पहुँचाना और हिंस्र स्वभाव ही हिंसा के लिये पर्याप्त कारण मान लिया जाय तो संभवतः मनुष्य से अधिक क्रूर, हिंसक और हानिकर दूसरा कोई प्राणी न मिलेगा। शेर और साँप, भेड़िया और बिच्छू मनुष्य के शत्रु नहीं हैं, जितना कि मनुष्य स्वयं इनका शत्रु है। इन्हें भूख लगी हो या छेड़ दिये जायँ, तभी ये जानवर मनुष्य पर आक्रमण करते हैं। यह कहीं नहीं सुना कि शेर या साँप दिन रात मनुष्य पर आक्रमण करते रहते हों। ये बेचारे तो भोजन का संग्रह तक नहीं करते, जिसके लिये उन्हें अनावश्यक रूप से किसी को मारने की आवश्यकता पड़े। अपने शिकार से पेट भर जाय तो उसे छोड़ कर चले जाते हैं। किन्तु मनुष्य ही इतना भयंकर प्राणी है, जिसकी सूरत से भी ये सभी प्राणी भय मानते हैं और छिपते फिरते हैं। यह केवल शौक, मनोरंजन, भोजन, परिधान, दवा, सजावट, साज सज्जा और न जाने किस-किस उद्देश्य के लिये हिंस्र और अहिंस्र पशुओं में भेद किये बिना सबको मारता फिरता है। इसकी भूख पाव-आध सेर आटे की है। किन्तु फिर भी इसका पेट इतना बड़ा है कि उसमें संसार के सम्पूर्ण प्राणी और संसार के समस्त देश तक चले जायँ, फिर भी अघाता नहीं। यह स्वयं अपने लिये ही नहीं, अपनी भावी असंख्य पीढ़ियों तक के लिये संग्रह करने को उत्सुक रहता है। वास्तव में क्रूरता में मनुष्य ने कल्पित शैतान को भी मात दे दी है। शेर कभी अपनी जाति के पशु को मार कर नहीं खाता, किन्तु मनुष्य मनुष्य को ही खा रहा है। अपनी इस क्रूरता के भँवर में अब वह स्वयं फँस गया है। मनुष्य की इस भयानक क्रूरता का अन्त क्या होगा, यह भावी ही जाने!

जहाँ तक इन प्राणियों की हिंसा का प्रश्न है, कुछ देर के लिये यह हिंसा मनुष्य के लिये उपयोगी भले ही मान ली जाय, किन्तु उस हिंसा को अहिंसा कहना अहिंसा की सबसे बड़ी विडम्बना है। हिंसा को हिंसा मान कर किया जाय तो इसमें उतनी बुराई नहीं, जितनी हिंसा को अहिंसा कह कर उसके करने में है। जहाँ संकल्प पूर्वक जीवों का घात किया जाता है, वहाँ हिंसा ही होगी, इसमें दो मत नहीं हो सकते।

हिंसा स्वयं में पाप तो है ही, किन्तु वह अपने पीछे पाप की एक परम्परा भी छोड़ जाती है। उसके कारण हृदय में क्रूरता की भावना घर कर लेती है। उस क्रूरता के द्वारा पुनः हिंसा की प्रेरणा मिलती है। और इस प्रकार क्रूरता और हिंसा की यह परम्परा चलती रहती है। हमारा तो विश्वास है, आज संसार में युद्ध का जो आतंक व्याप्त है, सर्वनाशी शस्त्रास्त्रों की जो प्रतियोगिता खुल कर चल रही है, वह सब क्रूरता के परिणाम हैं और यह क्रूरता विश्व के जीवों के साथ की जाने वाली हिंसा से ही उत्पन्न हुई है। इस तरह मानव के लिये हानि-कारक या उपयोगी प्राणियों की हिंसा वास्तव में युद्धों की एक प्रकार से जननी है।

—५—

अहिंसा और व्रत-विधान

सारा व्रत-विधान अहिंसा का साधक और पोषक है

हिंसा आत्म-गुणों के विघात का नाम है और अहिंसा आत्म-गुणों के उद्दीपन का नाम है। जिन कार्यों और विचारों से, मन, वाणी और कर्म की जिन प्रवृत्तियों से आत्म-परिणामों की हिंसा होती है, वे सारी प्रवृत्तियाँ हिंसा के अन्तर्गत मानी गई हैं। वे प्रवृत्तियाँ चाहे कुछ भी नाम रूप वाली हों। इसी प्रकार मन-वाणी और कर्म की जिन प्रवृत्तियों से आत्म-गुणों की सुरक्षा होती है, वे प्रवृत्तियाँ चाहे कोई भी नाम और रूप लेकर हों, उन सबका अन्तर्भाव अहिंसा में होता है। जैन शास्त्रों में हिंसा और अहिंसा इन्हीं व्यापक अर्थों में सर्वत्र प्रयुक्त हुई है। इसीलिये सम्पूर्ण पाप-चाहे वह हिंसा हो या असत्य, चोरी हो या दुराचार, संग्रह हो या स्वार्थ, ये सभी हिंसा के ही विविध रूप हैं और इन पापों से मुक्ति का सम्पूर्ण विनम्र प्रयत्न अहिंसा कहलाता है। जैन शास्त्रों में तो यहाँ तक निरूपण है कि असत्य, चोरी, दुराचार और संग्रह आदि का विधान केवल पापों का विविध रूप विस्तार से समझाने के लिये ही किया गया है। वस्तुतः तो आत्म-गुणों के विघातक होने से ये सारे पाप हिंसा ही हैं।[1] इसी प्रकार सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४२

इनका महत्व इसीलिये है, क्योंकि इनके कारण अहिंसा तेजस्वी बनती है।[1]

पानी नीचे की ओर बहता है, हर चीज नीचे की ओर गिरती है। पतन में एक सहज आकर्षण होता है। पाप में भी एक आकर्षण है। व्यक्ति उस आकर्षण से खिंचा चला जाता है और पाप की ओर उन्मुख होता है। पहली बार पाप का अवसर आने पर व्यक्ति के अन्तरङ्ग में उस पाप के प्रति घृणा की भावना होती है।

पापों का आकर्षण और उसका प्रतिरोध

दुबारा उस अवसर के आने पर पाप के प्रति कुछ संकोच होता है। तीसरी बार वह संकोच कम हो जाता है। चौथी बार उस पाप के लिये साहस बढ़ जाता है। और फिर तो वह सहज बन जाता है। पाप का सहज आकर्षण फिर तो उसे पाप के लिये निरन्तर प्रेरित करता रहता है और तब वह उसमें कोई बुराई नहीं समझता।

किन्तु जो व्यक्ति पाप का अवसर मिलने पर उसके आकर्षण के झोंके को सहन कर जाता है, उससे विचलित नहीं होता, और जिसके मन में विकार तक नहीं आता, वह धीर और वीर पुरुष कहलाता है।[2] पाप के आकर्षण के इस झोंके के सामने अडिग भाव से खड़े होने का उपाय बेंत की तरह उसके सामने झुकना नहीं है, बल्कि उसका उपाय पर्वत की भाँति खड़े होकर उसका प्रतिरोध करना है।

वायु के प्रबल झोंके के कारण तिनकों की तरह बह जाना दुर्बलता है; उस झोंके को बेंत की तरह झुककर अपने ऊपर होकर

१—ज्ञानार्णव ६-२

२—विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।

निकाल देना अवसरवादिता है ; उस झोंके के समक्ष पेड़ की तरह खड़े होकर उसके आघातों को सहना, अपनी शक्ति भर जूझना दृढ़ता है, भले ही वायु के वेग की शक्ति अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण धराशायी ही क्यों न होना पड़े ; और एक पर्वत की भाँति खड़े होकर वायु के उस प्रबल झोंके को सह जाना, विचलित न होना, उस वायु को रोक देना और उसकी दिशा मोड़ देना अडिगता है।

मनुष्यों के चार प्रकार

संसार में मनुष्य भी इसी प्रकार चार प्रकार के हैं। एक वे, जो पापों के सामने सदा ही उड़ते रहते हैं। पाप जिनका सहज रूप बन गया है। उन्हें पापों से कोई संकोच, कोई घृणा नहीं रह गई बल्कि पापों में रस लेते हैं। दूसरे वे हैं, जो पाप को तो बुरा नहीं मानते, किन्तु लोकलाज या दूसरे कारणों से करते नहीं। तीसरे व्यक्ति वे हैं, जिन्हें पापों से भय भी है, घृणा भी है, वे अपनी हार्दिक प्रेरणा से उनसे बचना भी चाहते हैं, किन्तु कभी-कभी परिस्थितियों के कारण, अन्य विवशताओं से वे पाप को अवांछनीय समझते हुए फिर भी वह करना पड़ता है। और करने के बाद उन्हें अपने उस कृत्य पर पश्चाताप भी होता है और ग्लानि भी। चौथे व्यक्ति वे हैं, जो पाप को हर काल और हर परिस्थिति में अवांछनीय मानकर उसका सदा प्रतिरोध करते हैं, आत्मा की अनन्त शक्ति में जिनका विश्वास अडिग है, इसलिये विवशता नाम की कोई भी चीज उनके सामने तुच्छ है, जो न केवल पाप को अपनी निरोध शक्ति से प्रभावहीन बना डालते हैं, बल्कि पाप को मोड़ देकर पापी पर भी पाप की व्यर्थता सिद्ध कर देते और उसे धार्मिक बना लेते हैं।

पहले व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है ; दूसरे पाक्षिक गृहस्थ; तीसरे नैष्ठिक

श्रावक और चौथे मुनि ।

मिथ्यादृष्टि व्यक्ति की आन्तरिक दृष्टि जब तक आत्म-विकास, आत्म-हित को अपना लक्ष्य अंगीकार नहीं कर लेती, तब तक उससे आत्म-शोध की आशा नहीं की जा सकती। दृष्टि ठीक हो तो मार्ग स्वयं दीख पड़ता है। न दीखे तो दिखाया जा सकता है। लेकिन मार्ग दिखाने पर मार्ग न दीखे, सुझाने पर भी उस पर न चल पाये तो कहना होगा, उसकी दृष्टि का दोष है और पहले इस दोष को ही दूर करने का प्रयत्न आवश्यक होगा।

पाक्षिक गृहस्थ लोक लाज से कुछ मर्यादा बाँधकर चलता है। पापों के त्याग का संकल्प अभी सतेज नहीं हो पाया है। फिर भी गनीमत है कि वह पापों में रस नहीं लेता, भले ही पाप न छोड़ पाया हो। इस एक बात से उसके सुधार और उद्धार की आशा असंभव नहीं है। आशा के इस सम्बल के सहारे वह गिरकर भी उठने का प्रयत्न कर सकता है।

नैष्ठिक श्रावक के अन्तर में पापों के प्रति व्यामोह नहीं रहा, बल्कि एक वितृष्णा, घृणा भर गई है। उसका बस चले तो उन्हें आज दुत्कार दे। वह अन्तःकरण से चाहता है कि पापों के जाल का उच्छेद कर दे। किन्तु उसने कभी भूल से अपने चारों ओर परिस्थितियों का जो गहन वन खड़ा कर लिया था, उसमें से निकलने का वह स्वयं मार्ग बनाता और बढ़ता चल रहा है। उसने न रुकने का नियम कर लिया है, किन्तु आज भी परिस्थितियों की बाध्यताओं से वह सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया है। परिस्थितियों का नियन्ता बनने की उसकी आकांक्षा प्रबल है, किन्तु अभी उसकी आकांक्षा मूर्त रूप नहीं ले सकी है। और इस तरह उसका पापों का त्याग कुछ निश्चित मर्यादाओं के साथ है।

और मुनि ! उसके समस्त परिस्थितियों की कोई विवशता शेष नहीं रह गई। सम्पूर्ण विवशताओं और बाध्यताओं से ऊपर उठकर वह आज उनका स्वामी बन गया है। मन, वाणी और शरीर की सारी प्रवृत्तियाँ आज उसके आधीन हैं। वे उसकी इच्छा के अनुसार चलने के लिए बाध्य हैं। उसके मार्ग में बाधाओं के पहाड़ आते हैं और वह अपने अडिग आत्म-विश्वास के सहारे अपना मार्ग बनाता जाता है। उसके नियम किसी मर्यादा में नहीं बँधे; मर्यादा अर्थात् विवशता। ऐहिक और दैहिक सभी आकांक्षाओं से उठकर बना है उसका आसन, वहीं बैठकर वह उन आकांक्षाओं और वासनाओं का नियमन करता है। सम्पूर्ण पापों का सर्वथा उच्छेद करने का उसका संकल्प महान् है।

श्रावक और मुनि इन दोनों की पाप त्याग की इस प्रक्रिया के कारण समस्त आचार-विधान दो रूपों में विभक्त हो गया है। एक रूप

आचार के दो भेद-अणुव्रत और महाव्रत

उसका वह है, जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पापों का और संक्षेप में कहा जाय तो सम्पूर्ण हिंसा का सर्वथा-मन, वचन और शरीर सभी प्रकार से त्याग किया जाता है। पापों के सर्वथा त्याग का यह संकल्प मुनियों के होता है।[1] दूसरा रूप वह है, जिसमें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता; सांसारिक दायित्वों की कुछ विवशतायें हैं, जिनके कारण सर्वथा त्याग किया नहीं जा सकता। अतः मर्यादित (एकदेश) त्याग किया जाता है। पापों का यह एक-देश त्याग श्रावकों के होता है। पापों के सर्वथा त्याग का मुनियों का

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ४०-४१

संकल्प महाव्रत कहलाता है[1] और एकदेश त्याग का श्रावकों का संकल्प अणुव्रत कहलाता है।[2]

इस स्थल पर हम अणुव्रतों के सम्बन्ध में ही विशेष रूप से विचार करेंगे।

व्रत का अर्थ है-भोग्य विषयों में संकल्प पूर्वक नियम करना अर्थात् हिंसादि पापों से निवृत्त होना और दया आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होना।[3] नियम अर्थात्, विषयाभिलाषाओं का स्वेच्छया नियमन।

व्रत आत्म-विजय की साधना है

किसी की इच्छाओं का नियमन जब दूसरे व्यक्ति, या परिस्थितियों द्वारा होता है, तब वह व्रत नहीं, दण्ड कहलाता है। किन्तु जब इच्छाओं का नियमन स्वयं स्वेच्छा से होता है, तब वह व्रत, संयम कहलाता है। कैदी अपराध करता है, जेलर उसे दण्ड देता है और भोजन बन्द कर देता है। कैदी की इच्छा भोजन की है, किन्तु मिल नहीं रहा है। इससे न मिलना दण्ड कहलायेगा, व्रत नहीं। भिखारी को भीख नहीं मिली, भूखा रहना पड़ा। उसकी वासना भोजन की है। इसलिये भूखे रहना व्रत नहीं, बाध्यता हुई। एक व्यक्ति के पास भोजन की सामग्री है। भोजन बनवाने की सुविधा भी है। आलस्य और अनिच्छा, रोग और बाध्यता भी नहीं, किन्तु फिर भी वासना के विजय के आदर्श से प्रेरित होकर, आत्म-शुद्धि के लिए अन्तर के अन्तःस्फुरण से भोजन नहीं करता। यह

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ४-७२

२—सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक ५

३—सागार धर्मामृत २-८०

व्रत कहलायेगा।

भोग-विलास और भौतिक सुखों की लालसा जन-मानस में सहज बन गई है। किन्तु कितने हैं, जिन्हें मन की तृष्णा के अनुरूप भोग की सामग्री प्राप्त है। भोग की सामग्री जिन्हें जितनी प्राप्त है, उससे अधिक के लिये उनकी लालसा प्रदीप्त रहती है ; जिन्हें भोग की सामग्री बिलकुल प्राप्त नहीं है, उनके मन में भी भोग की लालसा दिन-रात जला करती है। वस्तुतः लालसा दोनों की समान है, केवल परिमाण का अन्तर हो सकता है। भोग न मिलने का नाम त्याग या व्रत नहीं है। अपितु लालसा के परित्याग का नाम व्रत है।

इस प्रकार व्रत स्वेच्छया इच्छाओं के, पापों के प्रतिरोध का दूसरा नाम है। पाप ढालूदार रपटीली भूमि है और व्रत ऊबड़ खाबड़ पर्वत की चढ़ाई। पाप हमारे संस्कार बन गए हैं, उन्हें करने में हमें कुछ भी अटपटा नहीं लगता, कोई भी कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। पाप की भूमि पर रपटना जैसे हमारी प्रकृति बन गई है। गिरने में चोट भी लगती है, किन्तु वह सहना भी जैसे हमारे स्वभाव का एक अंग बन गया है। किन्तु व्रत! वह तो चढ़ाई है। अभ्यास नहीं, इसलिये कठिनाई मालूम पड़ती है, बड़ा अटपटा भी लगता है। पाप की उतराई का अभ्यास रहा है, इसलिए व्रत की चढ़ाई हमारे लिये श्रम-साध्य बन गई है। आत्मिक उन्नति की ओर चरण बढ़ाते हुए भी कई बार पापों के संस्कार उभर-उभर आते हैं और तब कठोरता पूर्वक उनका नियमन करके आगे बढ़ना होता है। इस तरह व्रत एक साधना मार्ग है।

आत्मा के कालुष्य की ओर चरण बढ़ाने में हमें कोई श्रम नहीं करना पड़ता। कभी क्रोध करने में, स्वार्थ और लालच के लिये सोचना

नहीं पड़ा। श्रम नहीं करना पड़ा। ये वृत्तियाँ तो जैसे हमारे अन्तर में समाई हुई थीं। जरा सा कोई कारण मिला तो प्रगट हो गई। किन्तु जब हमारा कोई अक्षम्य अपराध कर रहा हो, उस समय क्रोध को पी जाने में, जब हमें अपने व्यापार में अनुचित मुनाफा कमाने का अवसर मिला हो, उस समय उचित ही मुनाफा लेने में, और जब हमारा काम रिश्वत देकर हो रहा हो या जब हमें रिश्वत लेने का अवसर मिला हो, उस समय रिश्वत देने या लेने की इच्छा का दमन करने में वास्तव में बड़ी कठिनाई सी अनुभव होती है और जैसे बड़ा जोर लगाना पड़ता है।

मन को पतन की ओर जाने से रोकने में, इन्द्रियों को अनुकूल विषयों से निरोध करने में यह जो जोर लगाना पड़ता है, वही प्रतिरोध है, प्रतिशोध है और यह प्रतिरोध या प्रतिशोध ही व्रत है। आध्यात्मिक जीवन में आत्म-शोध और आत्म-शुद्धि करने के लिये मानसिक चंचलताओं और ऐन्द्रियिक वासनाओं से आत्मा को निरन्तर संघर्ष करते रहने के लिये बाध्य होना पड़ता है। मन और इन्द्रियों की वासनाओं के नियमन और उन पर विजय पाने के लिये आत्मा की यह प्रतिरोध-शक्ति जितनी प्रबल होगी, उतनी ही विजय की आशा और संभावना बढ़ जायगी। इस तरह प्रतिरोधात्मक साधना का मार्ग-यह व्रत विधान वस्तुतः आत्म-विजय का विधान है।

प्रतिरोध का यह मार्ग निषेधात्मक है। 'अमुक काम पाप है, बुराई है, यह मत करो, वह मत करो,' बुराई का यह सतत निषेध व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिरोध है, इसलिये वह व्रत है, विध्यात्मक पहलू हमारे जीवन का जाना-पहचाना है, किन्तु वह पहलू वस्तुतः विध्वंसात्मक है। प्रतिषेधात्मक पहलू हमारे जीवन के लिये साधना-साध्य है,

किन्तु वह सृजनात्मक है। बुराई विध्यात्मक बनी हुई है, किन्तु उनसे जीवन में कोई सृजन, निर्माण का कार्य नहीं हो पाता। वे तो हमारे आत्म-गुणों का विध्वंस ही करती हैं। क्रोध से शान्ति का विनाश होता है, अहंता से मृदुता नष्ट होती है, कपट ऋजुता का नाश करता है, लोभ आत्मा की शुचिता पर आघात करता है। इस प्रकार बुराइयाँ, पाप सारे सद्गुणों के विनाशक हैं। व्रत प्रतिषेधात्मक हैं, किन्तु इनसे आत्म-गुणों का विकास होता है। शान्ति आत्मा में निराकुलता लाती है और निराकुलता ही सुख की जननी है। दुःख आकुलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जैसे जीर्ण मकान की मरम्मत करते समय मिस्त्री कुछ तोड़ता है, फिर बनाता है। उसका यह तोड़फोड़ का कार्य विनाश का कार्य है। किन्तु उस विनाश से ही निर्माण संभव होता है। विनाश न हो तो निर्माण असंभव है। व्रत पापों का, बुराइयों का विनाश करते हैं। बुराइयों के इस विनाश के ऊपर ही आत्म-गुणों के उद्धार-विकास-निर्माण का भवन बनता है।

इस प्रकार इच्छाओं के प्रतिरोध का, व्रतों का यह निषेधात्मक मार्ग ही सही अर्थों में निर्माण का मार्ग है, विध्यात्मक है। पाप और बुराइयों का विध्यात्मक मार्ग सही मायनों में विध्वंस और विनाश का मार्ग है।

पाप विध्यात्मक दीखते हैं, किन्तु वस्तुतः वे विनाशात्मक हैं, अतः विनाशक होने से सभी पाप हिंसा हैं। इच्छा के प्रतिरोध का मार्ग निषेधात्मक दीखता है, किन्तु वस्तुतः वह सृजनात्मक है। इसलिये इच्छा-प्रतिरोध के सम्पूर्ण काम अहिंसा हैं। हिंसा पाप है और अहिंसा व्रत है।

व्यक्ति समाज का एक घटक है। अनेक घटकों को मिलकर ही

समाज बनता है। समाज में सुव्यवस्था, शान्ति, सौहार्द और सृजन का वातावरण बना रहे, इसके लिये जिन नैतिक मूल्यों की आवश्यकता है, उसके लिये अपेक्षा की जाती है कि समाज में बुराइयाँ न हों। ये बुराइयाँ हैं—वर्ग-वैषम्य, संघर्ष, संचय की मनोवृत्ति, ऊँच-नीच की भावना, दुराचार, झूठ, चोरी, हत्यायें, युद्ध आदि। इन सारी बुराइयों की जड़ है समाज का भौतिक दृष्टिकोण। जब भौतिक दृष्टिकोण के कारण समाज में भौतिक सुखों की आकांक्षा अनियन्त्रित रूप से बढ़ने लगती है, तब समाज में ये बुराइयाँ पनपने लगती हैं। समाज में जब भौतिक मूल्यों का महत्व अत्यधिक बढ़ने लगता है, तब सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक सारा ही वातावरण उस दृष्टिकोण से भर उठता है। तब भौतिक मूल्यांकन का सारा आधार आर्थिक हो जाता है और इस आर्थिक आधार पर तब सारा सामाजिक और राजनैतिक ढांचा खड़ा होता है। इससे अर्थ के नीचे नैतिक मूल्य दब जाते हैं।

नैतिकता के अभाव से युद्ध और शोषण का विश्व-व्यापी दौर

आज विश्व में भौतिक दृष्टिकोण का प्राधान्य होने के कारण अर्थ की प्रतिष्ठा अधिक है, नैतिक मूल्यों की उपेक्षा है। समाज का सारा व्यवहार ही अर्थ मूलक बन गया है। अर्थ जीवन मापने का ही माध्यम नहीं है, अपितु प्रतिष्ठा, उन्नति और भौतिक सुखों का एक मात्र साधन अर्थ बन गया है। भौतिक सुखों और भोगों की अनियन्त्रित आकांक्षा ने अर्थ का जो महत्व स्थापित कर दिया है, उसके कारण अर्थ संग्रह की लालसा तीव्र हो उठी है। हर व्यक्ति अनुभव करने लगा है कि अर्थ हो तो समाज में प्रतिष्ठा हो सकती है, अर्थ हो तो भौतिक उन्नति के सारे मार्ग खुल सकते हैं। इस दृष्टिकोण के कारण

हर व्यक्ति अर्थ संचय के लिये व्यग्र हो उठा है।

अर्थ-संचय के इस भौतिक दृष्टिकोण में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा हो गई है। इसलिये अर्थ-संचय करते हुए व्यक्ति नैतिकता को आवश्यक नहीं समझता। अर्थ संचय करना है, चाहे वह नैतिक साधनों से हो या अनैतिक साधनों से। इसलिये समाज में भ्रष्टाचार पनपने लगा है। शीघ्र से शीघ्र लखपति और करोड़पति बनने की धुन में व्यक्ति की दृष्टि केवल अर्थ की ओर रहती है। अर्थात् अर्थ साध्य बन गया है। अर्थ ने भौतिक सुख-सुविधाओं का विराट स्तूप ला खड़ा कर दिया है। ये भौतिक सुख-सुविधा इन्द्रियों की अनियन्त्रित इच्छाओं, वासनाओं की पूर्ति की साधन बन गई हैं।

अब जीवन जीने का नाम नहीं, विलास और भोगों के अनियन्त्रित भोग का नाम जीवन हो गया है। इस प्रवृत्ति ने दुराचार और उसके अनेकविध साधनों के आविष्कार को प्रोत्साहन दिया है। रूप सज्जा, सौन्दर्य-प्रसाधन, उपन्यास, नाटक, सिनेमा, शराब, भोजन की विविध सामग्री, शिक्षा, परिधान का ढंग और इनके आधार पर खड़ा हुआ सारा सामाजिक वातावरण; ये सभी तो मानसिक, वाचनिक और कायिक दुराचार-व्यभिचार के साधन बन गये हैं।

दुराचार की इस स्पर्द्धा ने ही, नीति या अनीति से अर्थ-संचय की इस भावना ने समाज में हत्या, डाकेजनी, लूटमार, रिश्वत, बलात्कार, चोरबाजारी आदि को पूरी शक्ति से बढ़ावा दिया है।

अर्थ-संचय के साधन सर्व-सुलभ होते हुए भी सर्व-साध्य नहीं हैं। हर व्यक्ति अर्थ-संचय के लिये उन साधनों का उपयोग नहीं कर पाता। इसलिये कुछ लोग समाज में धनिक बन जाते हैं और कुछ निर्धन। अर्थ-संचय की यह परम्परा अत्यन्त त्रुटिपूर्ण भले ही हो, किन्तु इस

परम्परा को बनाये रखने, उसे प्रोत्साहन और सुविधा देने का दायित्व विभिन्न राजनैतिक प्रणालियों और राजकीय व्यवस्थाओं का है। इससे जिनके पास धन-संचय हो जाता है, धन-संग्रह के अनेकों स्रोत और साधन उनके हाथ में आ जाते हैं। दूसरे अनेक लोग उनसे अपनी जीविकोपार्जन की सुविधा के अनुग्रह के लिये अनुरोध, अपेक्षा करते हैं। इससे धनिक में दम्भ आ जाता है। उसमें अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझने की वृत्ति भयंकर वेग से जाग उठती है। वह दूसरों की विवशता-असहायता से अनुचित लाभ उठाने के लिये प्रेरित होता है। तब शोषण का एक भयानक दौर चल पड़ता है। धनिक-निर्धन के इस भेद और शोषण के इस दौर से समाज में वर्ग-भेद, वैषम्य, कटुता और फिर वर्ग-संघर्ष का दौर चल पड़ता है।

व्यक्ति की ये व्यक्तिगत प्रवृत्तियाँ जब एक राष्ट्र के नाम पर सामूहिक रूप में होने लगती हैं, तब ये उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, युद्ध और शोषण को जन्म देती हैं। तब सबल राष्ट्र निर्बल, साधनहीन अशक्त राष्ट्रों को गुलाम बना लेते हैं, उनके सारे आर्थिक स्रोतों पर एकाधिकार करके उनका शोषण करते हैं, उनकी सारी सांस्कृतिक और जातीय विशेषताओं को नष्ट करके अपनी सांस्कृतिक और जातीय परम्पराओं को बलात् थोप देते हैं।

गुलाम राष्ट्र स्वतन्त्र होने के लिये प्रयत्न करते हैं। निर्बल राष्ट्र सबल बनने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रयत्न में जातीय और राष्ट्रीय विद्वेष, संघर्ष और युद्ध को उत्तेजन मिलता है। युद्ध में जो हार जाता है, वह फिर युद्ध की तैयारी करता है। वह शत्रु-राष्ट्र के शस्त्रों से अधिक संहारक शस्त्रों के अनुसन्धान-निर्माण के लिये प्रयत्न चलता है। इस तरह शस्त्रों की प्रति-स्पर्धा चलती है। शस्त्रों की स्पर्धा से फिर युद्ध और युद्ध के बाद फिर

स्पर्धा। युद्ध-विज्ञान और शस्त्र-स्पर्धा का यही इतिहास है।

और फिर युद्ध से केवल मानव-संहार ही नहीं होता, प्रकृति का जीवनोपयोगी भण्डार ही नष्ट नहीं होता, अपितु उससे प्रतिहिंसा की एक परम्परा का ही जन्म हो जाता है। और इससे भी अधिक जो हानि होती है, वह है समाज में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा। युद्ध के समय सारे राष्ट्र का ध्यान युद्ध-विजय के लिये केन्द्रित हो जाता है। सारा राष्ट्र युद्ध में जाने वाले सैनिकों को नैतिक और अनैतिक सुविधायें प्रदान करता है। जान को हथेली पर लेकर घूमने वाले सैनिक उच्छृंखल हो जाते हैं। युद्ध में भयानक हत्यायें करके उनका हृदय क्रूर हो जाता है। इसी तरह नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। सारे कल कारखाने युद्ध सम्बन्धी सामग्री के उत्पादन में लग जाते हैं। अतः नागरिकों की उपभोग्य सामग्री का उत्पादन कम हो जाता है। इससे बाजार में माल और उसकी माँग का असन्तुलन हो जाता है। इस असन्तुलन जन्य असुविधाओं को दूर करने के लिये सरकार ऐसी उपभोग्य सामग्री पर एकाधिकार करके उसका नियन्त्रण थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में सौंप देती है। यह अधिकार पाने के लिए सरकारी कर्मचारियों को रिश्वतें दी जाती हैं। अधिकार पाने के बाद उन कर्मचारियों की सहायता से मुनाफाखोरी, चोरबाजारी, अनुचित संग्रह होने लगता है। सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों का जीवन स्तर असीम आय के कारण उठ जाता है। दूसरी ओर नागरिकों को उपभोग्य सामग्री न मिलने के कारण असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। वे सामग्री पाने के लिये अनैतिक मार्ग का आश्रय लेने लगते हैं। इससे हत्याएँ, डाकेजनी, लूटमार आदि बढ़ जाती हैं।

युद्ध समाप्त होने के बाद सैनिक जब पुनः नागरिक जीवन में

लौटते हैं, तब युद्ध के समय के अभ्यास के कारण क्रूर बन जाते हैं। अनैतिक कार्यों के वे अभ्यस्त हो जाते हैं, जिन्हें वे नागरिक जीवन में भी छोड़ नहीं पाते। सरकारी कर्मचारियों और व्यापारियों ने युद्ध के काल में रिश्वत और मुनाफाखोरी से जो अनाप शनाप कमाया था और अपना जीवन-स्तर उसके कारण ऊँचा उठा लिया था, वह युद्ध के बाद रह नहीं पाता। तब वे दूसरे अनैतिक मार्गों का सहारा लेते हैं जिससे अपनी आय और उस स्तर को बनाये रक्खें। इससे सरकारी कर्मचारियों में रिश्वत की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। व्यापारी माल में मिलावट करने लगते हैं। इसी तरह जनता का जो वर्ग हत्या और लूटमार का अभ्यस्त बन गया था, वह अपने उस अभ्यास को छोड़ नहीं पाता। इस तरह युद्ध के बाद की नैतिक स्थिति अत्यन्त भयंकर हो उठती है। आकांक्षाएँ, असन्तोष और अतृप्ति भयंकर रूप से प्रबल हो उठती है।

गत विश्व-युद्ध के पश्चात् भारत में ही नहीं, सारे विश्व में नैतिकता का जितना ह्रास हुआ है, वह विश्व के लिए अत्यन्त चिन्ता का विषय बन गया है। विभिन्न देशों में अनैतिकता के रूप विभिन्न हो सकते हैं, किन्तु वह मिलती सर्वत्र ही है। सत्य तो यह है कि आज सारा वातावरण, सारे क्षेत्र-चाहे वे राजनैतिक हों, आर्थिक हों, शैक्षणिक हों, साहित्यिक हों या सामाजिक-अनैतिकता के धुएँ से घुट रहे हैं। नैतिकता नाम को भी दिखाई नहीं देती। और भारत में तो इसके नैतिक विश्वासों को भी देश-विभाजन के बाद गहरा आघात लगा है।

विश्व के, राष्ट्र के और व्यक्ति के इस वातावरण को सुधारने की माँग सभी ओर प्रबल हो उठी है। युद्ध, संघर्ष, अशान्ति और दुःखों

के मूल में जो अनैतिकता है, उसके प्रभावकारी और हानिकारी परिणामों की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट हुआ है और नैतिक मूल्यों का महत्व स्वीकार करने को बाध्य हुआ है। विश्व-शान्ति की खोज में एक ओर जहाँ सर्व संहारकारी शस्त्रास्त्रों के अनुसन्धान, प्रयोग और निर्माण की चर्चा सुनाई दे रही है, वहाँ दूसरी ओर नैतिक विश्वासों की अव्यर्थता की भी आवाज उठ रही है। हमारी मान्यता है, युद्ध और हिंसा विश्व-शान्ति और व्यक्ति के विकास के हित में अपनी व्यर्थता स्वयं सिद्ध कर रहे हैं। हिंसा से हिंसा पैदा होती है, युद्ध से युद्ध का जन्म होता है, यह विश्वास प्रबल होता जा रहा है। विनाश को विज्ञान का सहयोग मिलने के बाद कोई शस्त्र अन्तिम नहीं रह गया है; विज्ञान की विनाशकारी प्रतिभा का जब तक अन्त नहीं होता, तब तक विनाश के किसी उपकरण को अन्तिम मानने का दावा उपहासास्पद है। इस हिंसा के ये उपकरण अपनी संहारक शक्ति बढ़ाते हुए स्वयं ही अपनी व्यर्थता के गवाह बनते जा रहे हैं और इस तरह मानव का विश्व शान्ति के लिए उन पर निर्भर रहने का विश्वास हिल उठा है। अविश्वास की इस भूमिका में से ही नैतिक मूल्यो और अहिंसा की मधुर ध्वनि निकली है।

नैतिक मूल्यों के प्रति व्यक्ति को आस्था

मूलतः युद्ध, हिंसा, भ्रष्टाचार, दुराचार आदि बुराइयाँ मानव के भौतिक दृष्टिकोण का परिणाम हैं। जबकि नैतिकता आदि मानव की सारी अच्छाइयों का निकास उसके आध्यात्मिक दृष्टिकोण में से होता है। अतः मानव का जब तक दृष्टिकोण नहीं बदलता, तब तक सुख और शांति के सारे प्रयत्न पेड़ की पत्तियों को सींचने जैसे व्यर्थ होंगे।

वस्तुतः भौतिक दृष्टिकोण पदार्थों में सुख ढूँढ़ने की लालसा का नाम है। जब वह वहाँ नहीं मिलता तो समझते हैं, पदार्थों की मात्रा बढ़ाने से वह मिलेगा। तब भी नहीं मिलता तो भोग की मात्रा बढ़ाते जाते हैं और सुख न मिलने का दायित्व ईश्वर, भाग्य या परिस्थितियों पर थोप देते हैं। किन्तु दुःख तो यह है कि इस आत्म-वंचना के बाद भी सुख की समस्या यों ही बिना सुलझी रह जाती है।

क्या कभी हमारी दृष्टि इस ओर नहीं जा सकती कि हमारी पीड़ायें आज जो विराट् दैत्याकार बनकर हमें चारों ओर से घेर रही हैं, वे हमारी ही वृत्तियों और भावनाओं का परिणाम हैं। दुःख सदा बाहर से आता है और सुख भीतर से आता है। बाहर माने भौतिक लालसाओं से, भीतर माने उन लालसाओं का निरोध करके आत्मोन्मुखी होने से। ये ही दो दृष्टिकोण कहलाते हैं—भौतिक और आध्यात्मिक।

व्रतों का नैतिक मूल्यांकन

भौतिक दृष्टिकोण की व्यर्थता और अन्ततः हेयता स्वीकार करने के बाद मनुष्य के सन्मुख एक ही मार्ग, एक ही उपाय शेष रह जाता है—आध्यात्मिक दृष्टिकोण। भौतिक लालसाओं के प्रतिरोध के बिना व्यक्ति-व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र की भोग-संग्रह, अर्थ-संचय और भौतिक सुख सुविधाओं की सामग्री पर एकाधिकार की स्पर्द्धा का अन्त हो नहीं सकता। और इस स्पर्द्धा का अन्त हुए बिना संसार में से संघर्ष, युद्ध आदि दूर नहीं हो सकते। लालसाओं का यह प्रतिरोध ही व्रत कहलाता है। इस प्रकार मानव की सारी समस्याओं का एकमात्र समाधान व्रत है।

जगत् के बहुभाग ने अपने भौतिक दृष्टिकोण के कारण इन व्रतों

का अब तक नैतिक मूल्यांकन नहीं किया। सम्भव है, उसके सामने कभी यह व्रत-दर्शन आया भी नहीं। किन्तु जगत् की मानसिक भूमिका आज ऐसी है, जिसमें व्रतों के अंकुर सहज ही फूट सकते हैं।

व्रत भौतिक लालसाओं के नियमन की स्वेच्छया अंगीकृत साधना है। आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर व्यक्ति का यह आचार-विधान है, जो व्यक्ति के विचारों को नैतिक बनाता है तथा उनको व्यावहारिक रूप देने की भूमिका प्रशस्त करता है।

व्रतों का सामूहिक नैतिक प्रभाव

कभी-कभी यह शंका की जाती है कि व्रत तो वैयक्तिक साधना है, उससे सारा समाज, सारा राष्ट्र और सारा विश्व नैतिक धरातल पर आ सकेगा, ऐसी उसमें सामूहिक परिवर्तन और प्रभाव की क्षमता नहीं है। इसलिये वह सामूहिक आचार-व्यवहार का आधार नहीं बन सकेगा और बिना इसके जगत् अपनी वर्तमान मान्यताओं को छोड़ सकेगा या बदल सकेगा, इसकी कोई आशा नहीं।

इस शंका का उदय व्रतों की सामूहिक व्यावहारिकता में से नहीं, अपितु मनुष्यों की असामर्थ्य में से हुआ है। व्रत अव्यवहार्य हैं, ऐसी तो शंका किसी को है नहीं, हो भी नहीं सकती। मानव के मानस की भूमिका समान है, उसकी इच्छायें समान हैं, शक्ति समान है। उसके दुःख की बीमारी भी समान है। इसलिये उसका उपचार भी समान होगा। स्वेच्छा से अंगीकार की हुई साधना सदा ही वैयक्तिक होगी, थोपी हुई प्रणाली ही सामाजिक और सामूहिक हो सकती है। किन्तु जब व्यक्ति समाज का घटक है तो अपने आचार, व्यवहार से निकट के व्यक्तियों पर अवश्य प्रभाव डालता है। यदि एक व्यक्ति नैतिक मर्यादाओं और व्रतों का पालन करता है तो निश्चय ही उसके सम्पर्क

में आने वाले व्यक्ति उनसे अवश्य प्रभावित होंगे। फिर जो साधना एक व्यक्ति कर सकता है, वह दूसरा भी कर सकता है, सभी कर सकते हैं। इस तरह न तो साधना की अव्यावहारिकता ही सिद्ध होती है और न व्यक्तियों की असामर्थ्य ही। मनुष्य में ही नहीं, सारे प्राणियों की आत्मा में अनन्त शक्ति निहित है। साधना की असामर्थ्य कह कर उस अनन्त शक्ति के प्रति अपनी श्रद्धा में क्यों सन्देह किया जाता है, यह समझ में नहीं आता।

फिर ऐसा तो कभी किसी ने भी दावा नहीं किया कि सभी व्यक्ति नैतिक बन जायँगे, हिंसा-झूठ-चोरी-व्यभिचार और लोभ के सारे कार्यों का त्याग कर देंगे, जिस प्रकार कोई भी विश्वास नहीं कर सकता कि सभी व्यक्ति अनैतिक बन जायँगे, शैतान हो जाँयगे। किन्तु फिर भी यह आशा तो की ही जा सकती है कि यदि व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का और विश्व का भौतिक दृष्टिकोण बदल जाय, आध्यात्मिक हो जाय तो भले ही उस समय सभी मनुष्य आध्यात्मिक न बन जायँ, नैतिक न बन जायँ, किन्तु तब वातावरण तो नैतिक हो जायगा, तब जगत् व्रतों का नैतिक मूल्यांकन तो करेगा। बस यह वातावरण ही मनुष्य समाज में अनैतिकता के प्रति लज्जा, घृणा और पश्चाताप की वृत्ति जगा देगा। तब भी अनैतिकता तो रहेगी, किन्तु सारा वातावरण अनैतिक नहीं रहेगा। इससे सारे मनुष्यों का व्यवहार और चिन्तन की दिशा ही दूसरी होगी।

जैसा हम निवेदन कर चुके हैं, व्रतों के दो रूप हैं—महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत तो सांसारिक दायित्वों को छोड़कर आध्यात्मिक दायित्वों को सर्वतोभावेन अंगीकार करने वाले मुनियों के होते हैं। किन्तु अणुव्रतों का स्वीकार वे लोग करते हैं जो अपने सांसारिक दायित्वों को भली-

भाँति जानते हैं, अतः उनके निर्वाह के लिये जो नैतिक जीवन में अपनी गहरी आस्था को व्यावहारिक रूप देते हैं।

जीवन की व्यावहारिक पृष्ठभूमि पर अणुव्रतों का विधान

वस्तुतः अणुव्रत अपने कुटुम्ब, अपने समाज, राष्ट्र और विश्व के मनुष्यों, मनुष्यों ही नहीं, समस्त प्राणियों के प्रति व्यक्ति के व्यवहार की नैतिक गारण्टी है। संसार के प्रति व्यक्ति के जो दायित्व हैं, उन्हें पूरा करना ही उसके कर्त्तव्य कहलाते हैं। उन कर्त्तव्यों की व्यवस्थित व्याख्या का नाम अणुव्रत है। अतः अणुव्रत संसार के दायित्वों से मुँह मोड़ना नहीं है। अपितु उन्हें सफलतापूर्वक पूरा करने का नाम है। एक प्रकार से अर्थ और काम पुरुषार्थ का धर्म पुरुषार्थ के साथ समन्वय-मार्ग का ही नाम अणुव्रत है।

गृहस्थ की अपनी कुछ मर्यादायें होती हैं। उन मर्यादाओं में रहकर ही वह पापों का त्याग कर सकता है। यह सम्भव नहीं कि मन, वचन और कर्म से वह सूक्ष्म और स्थूल सभी पापों का अर्थात् हिंसाओं का त्याग कर सके। इसलिये अणुव्रतों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मन, वचन और काय से, कृत, कारित और अनुमोदना से स्थूल हिंसादि का त्याग ही अणुव्रत[1] हैं, जो गृहस्थ के लिये विधेय बताये गये हैं। और स्थूल हिंसादि वे हैं, जिन्हें हर व्यक्ति[2] हिंसा झूठ आदि कह सकें।

स्थूल पापों का त्याग कहकर एक ओर तो गृहस्थ को नैतिक जीवन के अङ्गीकार करने की प्रेरणा की है क्योंकि इससे वह भौतिक लालसाओं

१—सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक ५

२— ,, ,, ४ ,, ६

का नियमन करने को सदा उत्सुक रहेगा। दूसरी ओर उसे सांसारिक दायित्वों को पूरा करने को प्रोत्साहन दिया है, जो कि इसके बिना संभव नहीं है। इस तरह अणुव्रत व्यावहारिक और उपादेय बन गये हैं। उनका महत्व उनके ऊँचे आदर्श में नहीं, अपितु उन आदर्शों के व्यवहार में है।

अणुव्रतों का उद्देश्य वैरहीन समाज की स्थापना है

अणुव्रत एक ऐसे समाज के निर्माण की कल्पना, आधार शिला है, जिसमें न कोई वर्ग-वैषम्य होगा, न वर्ण-संघर्ष; जिसमें अर्थ का महत्व लोक-हित के लिये उसके त्याग में होगा, न कि उसके अनियन्त्रित संग्रह में; जिसमें दूसरों की सुविधा, सुख, अधिकार का पूरा सम्मान होगा; जिस समाज का आधार सह-अस्तित्व होगा; जहाँ पाप से घृणा होगी, पापी से प्यार होगा। कुल मिलाकर जिस समाज में न केवल मनुष्यों के साथ ही, बल्कि सभी चेतन जगत् के प्रति मैत्री की भावना और मैत्रीपूर्ण व्यवहार होगा। संक्षेप में अणुव्रत 'वैरहीन' समाज के निर्माण का विनम्र प्रयत्न है। ऐसी वैरहीन समाज की कल्पना का आधार सम्वेदनशील भावना अर्थात् सहानुभूति होगा। यहाँ उस सहानुभूति से प्रयोजन नहीं है जिसका पर्यवसान किसी के मरने पर उसके सम्बन्धियों के साथ कुछ शोक सूचक शब्द कहने में हो जाता है। बल्कि इसकी चरितार्थता इसमें है कि मेरे व्यवहार से दूसरे को कष्ट होता है तो वह कष्ट मुझे होता है, यह अनुभव करके ऐसा व्यवहार उसके साथ न करे; बल्कि मेरे व्यवहार से दूसरे को सुख पहुँचता है तो वह सुख मुझे भी सुखी करता है, इस भावना से उसके संग इसी प्रकार का व्यवहार करे। यही भावना अहिंसा का मूल आधार है।

अणुव्रतों की सहानुभूति मूलक वैरहीन समाज की कल्पना अभी साकार न हो सके, यह संभव है, किन्तु कल्पना है अत्यन्त मधुर। यह कल्पना असंभव नहीं है। हमारी विनम्र मान्यता है कि ऐसी समाज की स्थापना सभी तीर्थङ्करों ने अपने अपने समय में की थी। भ० महावीर ने आज से २५०० वर्ष पूर्व ऐसे ही समाज का निर्माण किया था। ऐसे समाज की पुनः स्थापना कर सके, इसीलिये वे तीर्थङ्कर कहलाये।

हमारी निष्ठा ऐसी ही वैरहीन समाज में है। और कभी ऐसी समाज की स्थापना हो सकेगी, हमारा यह विश्वास आज भी शिथिल नहीं हो पाया है। ऐसे समाज की रचना के लिये अनेक व्यक्तियों के प्रयत्न और सहयोग की आवश्यकता होगा। इस प्रयत्न और सहयोग का रूप प्रचारात्मक न होकर व्यवहारात्मक होगा। जितने अधिक व्यक्ति अपने जीवन में अणुव्रतों का पालन करके नैतिक व्यवहार के प्रति अपनी आस्था उद्घोषित कर सकेंगे, उतनी ही जल्दी वैरहीन समाज की कल्पना मूर्त रूप धारण कर लेगी।

ये अणुव्रत मूलतः एक ही है-अहिंसा। सारे नैतिक मूल्य अहिंसा की धुरी पर ही टिके हुए हैं; धर्म के सारे रूप, और विधि-विधान अहिंसा के द्वारा ही अनुप्राणित हैं। वास्तव में अहिंसा ग्रह है, शेष सारे धर्म-व्यवहार उपग्रह हैं, जो उसके चारों ओर घूमते हैं और उससे शक्ति पाते हैं।

अणुव्रतों के भेद

किन्तु अहिंसा की व्याख्यात्मक शैली के कारण अणुव्रतों के पाँच रूप बन गये हैं—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य (स्वदार-सन्तोष) और ५ परिग्रह परिमाण। इन पाँच अणुव्रतों की व्याख्या अहिंसा के माध्यम से की गई है।

अहिंसाणुव्रत तो मानसिक, वाचनिक और कायिक हिंसा के नियमन का उपाय है ही। किन्तु इन हिंसाओं के नियमन के उपायों को तेजस्वी बनाने के लिये शेष चार अणुव्रतों का विधान किया गया है। वाचनिक हिंसा के नियमन के लिये सत्याणुव्रत, कायिक वृत्तियों द्वारा होने वाली हिंसा के नियमन के लिये अचौर्याणुव्रत तथा मानसिक हिंसा के नियमन के लिये शेष दो अणुव्रत बताये हैं। इनके पालन से न केवल हममें आत्म-नियमन की महान् शक्ति ही आ जाती है, अपितु इसके साथ हम अपने आचरण द्वारा समाज और राज्य में ऐसी व्यवस्था को प्रोत्साहन देते हैं, जिसमें वर्ग-संघर्ष का कोई अवसर न आवे; हर व्यक्ति हम पर विश्वास कर सके; अनुचित मुनाफाखोरी, अति संग्रह तस्कर व्यापार, मिलावट-विरोधी कार्यों में हमारा सक्रिय योग दान हो; और न केवल मनुष्य ही, बल्कि पशु-पक्षी, जीव-जन्तु तक हमारी सहानुभूति पाने के अधिकारी हों।

यहाँ संक्षेप में इन अणुव्रतों के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित ही होगा।

भगवान् महावीर ने भोगों की लालसा के स्वेच्छया दमन या प्रतिरोध मूलक साधना के मार्ग में गृहस्थजनों के लिये अणुव्रतों का जो विधान किया है, उसमें अहिंसाणुव्रत प्रथमव्रत बतलाया है।

अहिंसाणुव्रत

यद्यपि संसार में जितने भी प्राणी हैं, चाहे वे त्रस हों या स्थावर, सभी जीवन चाहते हैं, मृत्यु कोई नहीं चाहता, इसलिये किसी प्राणी का विघात नहीं करना चाहिये।[1] सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, हिंसा-निषेध का यह सबसे

1—सुत्तागमे पृ० ६६१

बड़ा तर्क है। इस आधार पर किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिये।[1] ज्ञान का सार केवल इतना ही है कि ज्ञानी जन अहिंसा को परम धर्म मानते हैं और हिंसा को वर्ज्य।[2] क्योंकि हिंसा दुःख, वैर और भय की जननी है।[3] ज्ञानी जनों का विश्वास है कि सुख जिस प्रकार मुझे प्रिय है और दुःख अप्रिय है, इसी प्रकार संसार के सभी प्राणधारियों की अनुभूति है। अतः ज्ञानी जन सभी प्राणधारियों को आत्मवत् दृष्टि से देखते हैं और इसीलिये वे उनकी हिंसा नहीं करते।[4]

किन्तु गृहस्थजनों की अपनी कुछ मर्यादायें हैं, वे अभी गृहस्थी और जीवन-व्यवहार के विविध क्षेत्रों के दायित्वों को ओढ़े हुये हैं। और उन दायित्वों को लेकर उनके लिये यह संभव नहीं है कि वे हिंसा का सर्वथा सर्वतोभावेन त्याग करदें। उनका लक्ष्य और आदर्श हिंसा का सर्वथा त्याग अवश्य है किन्तु फिर भी वे कुछ परिस्थितियों के कारण विवश हैं। अतः वे संकल्प पूर्वक, मन, वचन और शरीर, कृत, कारित और अनुमोदन से त्रस जीवों की स्थूल हिंसा तो सर्वथा त्याग देते हैं।[5] और स्थावर जीवों-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की भी निष्प्रयोजन अनावश्यक हिंसा नहीं करते।

वास्तव में गृहवास आरम्भ के बिना नहीं होता और आरम्भ हिंसा

१—सूत्रकृताङ्ग प्र० अ० उ० ४ गाथा ६

२—सूत्र० अ० १ उ० ४ गाथा १०

३—सूत्र० १० पृ० ३० भा० २

४—आचार्य शीलाङ्क

५—रत्नकरण्डश्रावकाचार ३-५३। वसुनन्दि श्रावकाचार २०८। अमितगति श्रा० अ० ६ श्लो० ४। आचार्य शीलाङ्क

के बिना सम्भव नहीं है। इसलिये गृहवासी को अपने किसी प्रयोजन के लिये त्रस जीवों को जान बूझ कर 'मैं मारता हूँ' इस प्रकार की संकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिये किन्तु खेती, उद्योग आदि आजीविका करते समय संकल्प रहित जो आरम्भी हिंसा होती है, वह गृहवासी की परिस्थितियों में उसके लिये दुस्त्याज्य है[1]।

केवल प्राणों को नष्ट कर देना हिंसा नहीं है; हिंसा तो वस्तुतः प्रमाद युक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों द्वारा प्राण-विघात का नाम[2] है। जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। मन, वचन और काय की जिन प्रवृत्तियों में राग-द्वेष न हो, क्रोध-मान-माया-लोभ ये कषाय न हों, वहाँ यदि किसी प्राणी के प्राणों का वियोग हो जाय तो वहाँ हिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिये प्रमाद युक्त प्रवृत्तियों द्वारा होने वाले प्राण वियोग को हिंसा कहा गया है। और यही हिंसा इस लोक और परलोक में अवांछनीय, पाप और दुःख रूप मानी गई है[3]। प्राणों से प्रयोजन द्रव्य और भाव प्राणों से है। प्राण-घात से प्रयोजन अपने या दूसरे प्राणियों के प्राण-घात से है।

गृहस्थ अपनी मानसिक उच्छृंखलता और हर प्रवृत्ति का विवेक पूर्वक नियमन करके आगे बढ़ता जाता है। अहिंसा के अधिकाधिक पालने पर उसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है, आगे बढ़ना तो उसका लक्ष्य ही है। किन्तु अपने जीवन को अहिंसक बनाने की दिशा में

१—सागार धर्मामृत ४ १२

२—तत्वार्थ सूत्र ७-१२

३— ,, अ० ७ सू० ९-१०

सूत्र० टीका पृ० १२७

उसके लिये कम से कम इतना तो आवश्यक है ही कि वह संकल्प पूर्वक किसी त्रस प्राणी को मारने का त्याग कर दे।

गृहस्थ की सारी प्रवृत्तियों का नियामक उसका अपना विवेक होता है। इसलिये वह मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों पर पूरा नियन्त्रण रखने का प्रयत्न करता है। वह चलता है तो अत्यन्त सावधानी पूर्वक, जिससे किसी जीव को उसके कारण अनावश्यक कष्ट न हो। वह जब किसी वस्तु को उठाता है या धरता है, तब भी उसके मन से वह भाव एक क्षण के लिये भी दूर नहीं हो पाता कि कहीं मेरी असावधानी से कोई जीव-जन्तु कष्ट न पावे, दब-मर न जाय। खान-पान की हर वस्तु को खूब देख-भालकर काम में लाता है।[1] कुल मिला कर उसके सारे आहार-विहार का नियमन विवेक और अहिंसक विचार के द्वारा होता है और प्रतिक्षण उसके मन में संवेदनशील भावना जागृत रहती है।

हाँ! गृहस्थ जीवन में यह सम्भव है कि उसे खेती, गाड़ी या दूसरे कामों के लिए बैल, घोड़ा आदि जानवर रखने पड़ें, दूध के लिये गाय-भैंस पाले, नौकर-चाकर भी रक्खे। तो क्या वह उनसे काम न ले? काम लेते समय उन्हें कष्ट होगा। कभी-कभी उन्हें ताड़ना भी देनी होगी। तब गृहस्थ क्या करेगा?

प्रश्न उचित है। किन्तु हम यह निवेदन कर चुके हैं कि गृहस्थ अपने सारे व्यवहारों को विवेक से संचालित करता है। मन में अहिंसक भावना है, साथ में विवेक है, फिर कोई समस्या ही उसके समक्ष आनी कठिन है।

१—तत्त्वार्थ सूत्र अ० ७ सू० ४

फिर भी प्रश्न का समाधान अपेक्षित है। गृहस्थ निर्दय भावना से अपने आपको बचाने का सदा प्रयत्न करे। वह किसी मनुष्य को या पशु को दुर्भाव से नहीं बाँधेगा, न बेंत आदि से मारेगा, न किसी अंग को काटेगा, न उन पर उनकी शक्ति और राजकीय कानून से अधिक भार लाद देगा और न उनके भोजन और पानी को रोकेगा।[1]

ये बन्ध आदि अहिंसक के लिए दोष तभी तक हैं,जब तक इनके करने में दुर्भाव का अंश रहे। दुर्भाव न हो तो यह भी कोई दोष नहीं। पुत्र और शिष्य को हित-कामना से कभी-कभी ताड़ना दी जाती है; घर से भागने वाले पुत्र को कभी-कभी बांध कर भी रखना पड़ता है; डाक्टर रोगी का स्वास्थ्य-रक्षा की भावना से आपरेशन भी करता है, इंजेक्शन भी लगाता है। ये सब दोष नहीं हैं।

यों तो अहिंसाव्रती गृहस्थ के लिये उत्तम मार्ग यह है कि गाय, बैल, भैंस, घोड़ा आदि से अपनी आजीविका न करे। यदि दूध के लिये, लादने, ढोने और जोतने के लिये जानवरों आदि को पाले तो उन्हें बांधे नहीं। यदि बांधे तो निर्दयता पूर्वक न बांधे।[2]

बांधने का अर्थ केवल रस्सी आदि से ही बांधना नहीं है। अपितु मंत्र तन्त्र से बांधना भी दोष में गर्भित है।

संक्षेप में अहिंसाणुव्रत को समझने के लिये इतना जानना भर पर्याप्त होगा कि हिंस्य कौन है, हिंसक किसे कहा जाता है, हिंसा का रूप क्या है और हिंसा का फल क्या होगा[3]।

१—तत्वार्थसूत्र अ० ७ सूत्र २५

सागार धर्मामृत ४-१५

२—सागार धर्मामृत ४-१६

३— " ४-२०

इनको जानने के लिये अधिक कठिनाई नहीं होगी। यह जान लेना पर्याप्त होगा कि प्रमत्त और कषाययुक्त विचार वाला व्यक्ति हिंसक कहलाता है; द्रव्य और भाव प्राण हिंस्य हैं ; प्राणों का वियोग हिंसा है ; और नाना प्रकार के पापों का संचय और दुःख हिंसा का फल है[1]।

कभी-कभी गृहस्थ के लिये बताये गये अहिंसाणुव्रत के सम्बन्ध में शंका हो उठती है। भगवान महावीर के काल में उदक पेढालपुत्र नाम का एक प्रभावशाली व्यक्ति हुआ था, जिसके विचारों का कुछ समय के लिये प्रचार हो गया था। उसने एक बार भ० महावीर के प्रधान शिष्य गौतम गणधर से शंका की थी, जो बड़ी रोचक थी। उसने कहा था, 'राजा आदि के अभियोग को छोड़कर त्रस प्राणी को दण्ड देने का त्याग है' इस प्रकार का नियम वास्तव में कोई नियम नहीं है, क्योंकि प्राणी परिवर्तनशील है। आज जो त्रस हैं, वे जन्मान्तर में स्थावर हो सकते हैं। इसी प्रकार आज जो स्थावर हैं, वे दूसरे जन्म में त्रस हो सकते हैं। इसलिये त्रस के स्थान पर 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग करना चाहिये।

इसका उत्तर देते हुए गौतम गणधर ने कहा—उदक ! यही नियम यथार्थ है। जब स्थावर मर कर त्रस हो जाते हैं तो वे अहिंसाणुव्रती के लिये अवध्य हो जाते हैं। त्रसभूत त्रस और त्रस का अर्थ एक ही है।[2]

अहिंसाणुव्रत पालन करने वाला व्यक्ति उन सभी कार्यों का और

१—सागार धर्मामृत ४-२१

२—सूतकृताङ्ग श्रु० २० अ० ७ पृ० ३८४

ऐसे पदार्थों के सेवन या व्यापार का अवश्य त्याग कर देगा, जिनमें त्रस प्राणी-वध होता हो—जैसे मद्य, मांस, मधु, शिकार, कीड़ों वाले फल। वह अपनी जिह्वा की वासना को अत्यन्त संयत कर लेगा और ऐसे भी भोज्य पदार्थों वा कार्यों का त्याग कर देगा, जिनमें त्रस-प्राणी-वध की संभावना भी हो। जैसे वह रात्रि भोजन का त्याग कर देगा ; जल छान कर पीवेगा ; भोज्य-पदार्थों का सेवन उनके विकृत होने की संभावना के काल के पश्चात् न करेगा।

(इन सबसे हिंसा को किस प्रकार उत्तेजन मिलता है, इसका सविस्तर विवरण अगले परिच्छेद में दिया जायगा।)

सत्याणुव्रत

अहिंसा और सत्य एक सिक्के के दो पहलू हैं। अहिंसा चित्र छाप वाला पहलू है और सत्य अंक छाप वाला। किन्तु फिर भी अहिंसा इतनी व्यापक अर्थों में स्वीकार की गई है कि सत्य उसके अन्तर्गत समा जाता है। अतः असत्य इसलिये हेय माना गया है, क्योंकि उसमें हिंसा है। हिंसा होने का मुख्य कारण यह है कि हर असत्य में प्रमत्तयोग रहता है।[1] अर्थात् मन, वाणी और शरीर की वृत्तियों में प्रमाद रहता है। प्रमाद से यहाँ प्रयोजन है, क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, स्त्री-कथा रागोत्पादक कथा, अनावश्यक राजनैतिक चर्चा (देश-कथा), भोजन सम्बन्धी कथा, निद्रा, प्रणय और पाँचों इन्द्रियों—स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण की प्रवृत्तियाँ।[2]

असत्य का अर्थ है—असत् अर्थात् अप्रशस्त कथन।[3] व्यक्ति के

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ९९

२—सागार धर्मामृत ४-२२

३—तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सू० १४। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ९१

मन-वाणी और शारीरिक चेष्टाओं में कोई प्रमाद हो, उस स्थिति में प्राणियों को पीड़ाकारक या अप्रशस्त वचन कहना असत्य है। असत्य के लिये व्यक्ति को निम्न पाँच कारणों में से किसी से प्रेरणा मिलती है—क्रोध, लोभ, भय, हँसी-मजाक और अविचार।

क्रोध में व्यक्ति को विवेक तो रहता नहीं, अहंता का आग्रह हो जाता है। इसलिये वह यथार्थ को भी बदल देता है। लोभ और भय में इष्ट-वियोग और अनिष्ट की आशंका के कारण स्वार्थ के लिये व्यक्ति असत्य का सहारा लेता है। हँसी मजाक गम्भीरता के परित्याग पर ही संभव होता है। उस स्थिति में व्यक्ति के सामने सत्य का आग्रह या विवेक नहीं रहता, केवल मनोरञ्जन ही ध्येय होता है। यथार्थवाद सदा कटु होता है। उससे कटुता भले ही पैदा हो जाय, मनोरञ्जन तो नहीं हो सकता। इसलिये व्यक्ति यथार्थ को छोड़ अयथार्थ का सहारा लेता है। इसी प्रकार विचार किये बिना जो कहा जाता है, वह न केवल अयथार्थ ही होता है, बल्कि अत्यन्त अनिष्टकारक भी हो जाता है।

वास्तव में सत्य और असत्य वातावरण और परिस्थितियों पर अधिक निर्भर करते हैं। जहाँ भौतिक सुखों की लालसा ने व्यक्ति के जीवन को चारों ओर से लपेट रक्खा हो, उस वातावरण में इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिये संघर्ष निरन्तर होता रहता है। यह संघर्ष स्वार्थ का होता है, मन और इन्द्रियों की वासना-पूर्ति का होता है। वासना-पूर्ति का उद्देश्य सत्य के सहारे पूरा नहीं हो सकता। पाप का साधन क्या कभी धर्म बन सकता है? पापाचार पाप के साधनों द्वारा ही हो सकेगा। जैसे कि धर्म पाप के साधनों से संभव नहीं है। इसलिये व्यक्ति के समक्ष इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये असत्य का सहारा लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग शेष नहीं रहता।

किन्तु जिनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक है, उनके बीच असत्य को कोई प्रश्रय नहीं मिल सकता। वे तो क्रोध आने के कारण होने पर भी शान्त रहेंगे, क्योंकि उनके पास क्षमा का महान् सम्बल है। सांसारिक भोगों की लालसा उनकी नियमित है। अतः भोगों के साधनों का संग्रह करना वे न चाहेंगे। उनका आत्म विश्वास हर परिस्थिति में अडिग है। आत्मा की श्रद्धा ही तो उनका एकमात्र अवलम्ब है। अतः वे भय नाम की चीज से परिचित तक नहीं। वे मनोरंजन अवश्य करते हैं। किन्तु उनके पास चूंकि आध्यात्मिक सम्पदा है, इसलिये उनके मनोरंजन का साधन वह संपदा ही है। उनका विवेक सदा जागृत रहता है। वे सदा हित, मित और प्रिय वचन ही बोलते हैं। गृहस्थ की जीवन-दिशा इस दृष्टिकोण के कारण बदल जाती है। वह अपने ऊपर भौतिक वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ने देता। इसलिये वह क्रोध, लोभ, भय, हास्य के समय सदा सावधान रहता है और सदा विवेक के साथ ही वचन निकालता है। गृहस्थ का यह सत्याग्रही दृष्टिकोण ही उसकी जीवन-मर्यादा है।

कभी-कभी असत्य सत्य का आवरण डाल कर सामने आ जाता है; कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसमें व्यक्ति के लिए सत्य का उपयोग करना कठिन हो जाता है; कभी सत्य को असत्य के लिये लोक-हित या प्राणी-हित में अपना स्थान छोड़ना होता है। इन सब कारणों से सत्य और असत्य का भेद जानना आवश्यक है। असत्य का विश्लेषण करने से यह जानकारी मिल जायगी।

असत्य के चार प्रकार हैं[१]—१—असद्‌द्भावन—न होने पर भी कहना

१—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ९२ से ९८।

२—भूत-निह्नव-होने पर भी छिपा लेना। ३—विपरीत—जो बात जैसी है, उसके विरुद्ध कहना। ४—निंद्य—जो निंदा के योग्य हो। निन्दा योग्य वचन तीन ही तरह के हो सकते हैं—(१) सावद्य—जिन वचनों से प्राणियों को पीड़ा हो, ऐसे व्यापार आदि के लिये कहे जाने वाले वचन, उपदेश। (२)गर्हित—चुगली, मर्मच्छेदी हास्य, व्यङ्ग्य, कठोर वचन, व्यर्थ की गप्पें ये सब गर्हित वचन हैं। (३) अप्रिय—जिनसे अप्रीति उत्पन्न हो, भय-वैर-शोक और कलह उत्पन्न हो, ऐसे वचन अप्रिय कहलाते हैं। ये सभी असत्य हैं।

संसार-त्यागी मुनि इन सभी असत्यों का सर्वथा परित्याग कर देते हैं, किन्तु गृहस्थ अपनी मर्यादाओं को देखते हुए सबका त्याग करने में असमर्थ हैं। अतः वे सावद्य वचनों के अतिरिक्त सारे असत्य का त्याग करते हैं।[१] सावद्य वचनों का त्याग वे इसलिये नहीं कर पाते क्योंकि उनके बिना गृहस्थ के सांसारिक कार्य चल नहीं पाते। वह इस असत्य का व्यवहार प्रसन्नता से नहीं करता, अपितु विवशता और बाध्यता से करना पड़ता है। अपनी इस विवशता पर उसे आन्तरिक दुःख और ग्लानि रहती है।

सत्य की अपनी कुछ मर्यादायें हैं। सत्याणुव्रती को इन मर्यादाओं को समझ लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा अप्रिय सत्य बोलने में कोई आपत्ति नहीं है, जो हित की दृष्टि से बोला जाय। किसी पापी को पाप-कार्यों से विरत करने के लिये पापों की निन्दा की जाती है, जुआरी और शराबी को इन अवांछनीय आदतों के छोड़ने के लिए कहा जाता है तो उन्हें अवश्य अप्रिय लगता है। किन्तु उद्देश्य अच्छा होने से यह

२—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय १०१

हिंसा नहीं। इसलिये ये वचन असत्य में गर्भित नहीं होंगे।[1]

किन्तु ऐसा सत्य कभी न बोले, जिससे प्राणी का विघात होने की संभावना हो।[2] जंगल में शिकारी किसी हिरन का पीछा कर रहा हो, उस समय शिकारी हमसे पूछे कि हिरन किधर गया है, तो निश्चय ही जानते हुये भी हम उसकी ठीक दिशा नहीं बताएँगे। एक वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों से संहारक शस्त्रों के निर्माण की प्रक्रिया बता कर किसी सत्य की प्रतिष्ठा का दावा नहीं कर सकता। यह तो सत्य की विडम्बना ही न होकर संसार का सबसे बड़ा झूठ है क्योंकि उस प्रक्रिया के रहस्योद्घाटन का परिणाम अनेकों प्राणियों का सर्वनाश है।

क्रोध में भी कहा गया सत्य अनर्थकारी हो सकता है।[3] इसलिये इस प्रकार का सत्य भी अपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता।

एक सत्याग्रही व्यक्ति की बहुत जिम्मेदारियाँ होती हैं। उसके वचनों का प्रभाव दूरगामी होता है। उसकी नैतिकता के बाँटों से उसके सारे व्यवहार और वचनों को तोला जाता है। (१) इसलिये वह ऐसे मिथ्या भाषण या उपदेश नहीं देगा, जिससे समूचे विश्व में या उसके किसी क्षेत्र में, अथवा व्यक्ति और व्यक्तियों के मध्य शान्ति का सन्तुलन बिगड़ जाय और असद्भाव को प्रोत्साहन मिले। जैसे वह यह कह कर कि 'युद्ध से ही विश्व-शान्ति संभव है' न केवल असत्य की प्रतिष्ठा करेगा बल्कि वह युद्ध का वातावरण बनाने, आतंक फैलाने और युद्ध भड़काने

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय १००

२—वसुनन्दि श्रावकाचार २१०

३—गुणभद्र श्रावकाचार

का बहुत बड़ा दायित्व अपने ऊपर ओढ़ेगा। (२) वह स्त्री-पुरुषों के गुप्त रहस्यों और आचरणों को सबके समक्ष प्रगट करके उन्हें लज्जित करने का प्रयत्न नहीं करेगा। (३) वह फर्जी दस्तावेज और कागज नहीं बनायेगा। जाली नोट नहीं छापेगा। दूसरे की पेटेन्ट चीजों की नकल करके उनके जैसे लेविल आदि नहीं छपायेगा। (४) दूसरों की धरोहर लौटाते समय यदि धनी गलती से कम माँग बैठे तो भी वह पूरी ही लौटायेगा। यदि वह कहीं का, किसी संस्था या व्यक्ति का ट्रस्टी है तो उस ट्रस्ट का रुपया गबन नहीं करेगा, अपने निजी उपयोग में भी नहीं लावेगा। (५) दूसरे के हाव-भाव, चेष्टाओं से उसके मन का भाव जानकर हानि पहुँचाने की आशा से उन मनोभावों को दूसरे के समक्ष प्रगट नहीं करेगा।[1] ये पाँचों ही काम उसके व्रत के लिये दोष रूप हैं।

इन कामों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसे काम हैं, जिन्हें उसे छोड़ना ही होगा, जैसे कन्या का सम्बन्ध या पशु और जमीन का सौदा करते समय उनके बारे में झूठ नहीं बोलेगा, झूठी गवाही भी नहीं देगा।[2] वह न किसी की निन्दा करेगा,[3] न चुगली करेगा। ये सारे ही काम उसके सत्य-व्रत को धूमिल करने वाले हैं।

वास्तव में सत्याणुव्रत हमारी वाचनिक प्रामाणिकता द्वारा नैतिकता को विकसित करता है। सत्याणुव्रत का नैतिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से

१—तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सूत्र २६। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय १०१। सागार धर्मामृत ४ ४५

२—सागार धर्मामृत ४-३६

३—यशस्तिलक उच्छ्वास ७

हमारे लोक-व्यवहार में अत्यन्त गौरव पूर्ण स्थान है।

अदत्त वस्तु का प्रमत्त योग से ग्रहण करना स्तेय अर्थात् चोरी है।[1] चोरी करने की भावना आते ही अपने भाव प्राणों की तो हिंसा होती ही है, दूसरे व्यक्ति की वस्तु ले लेने से उसको पीड़ा होती है। अतः उसके भाव प्राणों का घात हुआ और उसके धन ले लेने से उसके द्रव्य प्राणों का घात हुआ क्योंकि धन्य धान्य सम्पत्ति आदि व्यक्तियों के लिए बाह्य प्राणों के सदृश हैं।[2] इसलिये चोरी हिंसा ही है। यदि प्रमत्त योग न हो तो वास्तव में अदत्त वस्तु का ले लेना चोरी नहीं कहलायगी।

अचौर्याणुव्रत

चोरी का सर्वथा त्याग तो मुनि ही करते हैं। वे तो कुए-तालाब आदि से जल तक नहीं लेते, जो सार्वजनिक कहे जाते हैं। किन्तु गृहस्थ स्थूल चोरी का त्यागी होता है। वह किसी की मार्ग में या अन्यत्र पड़ी हुई, भूली हुई वस्तु नहीं लेगा; लूट-मार, जेब काटना, ताले चटकाना डाकेजनी आदि नहीं करेगा, न करायेगा।

कभी-कभी घर में, खेत में, जंगल में खजाना गढ़ा हुआ मिल जाता है, या किसी का बटुआ पड़ा हुआ मिल जाता है। उस समय अचौर्य व्रती का कर्त्तव्य है कि वह उस खजाने या धन की सूचना सरकार को दे दे; उसे स्वयं न ले। यदि कहीं सरकार को सूचना देने की सुविधा परिस्थितिवश उसे नहीं मिल पावे तो वह उसे वहीं पड़ा

१—तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सूत्र १५

२—पुरुषार्थ० १०२-१०३। अमितगति श्रा० ६-६१।
सागार धर्मामृत ४-४७।

रहने दे। लावारिस धन का स्वामी राजा माना गया है।[1] यदि कभी उसे अपने धन में भी संदेह हो जाय तो उसे वह भी नहीं ग्रहण करना चाहिये और न दूसरे को ही देना चाहिये।

कई कारणों से उसके व्रत में दोष लगने की सम्भावना हो सकती है। अतः वह इन कारणों का विवेकपूर्वक परिहार करता रहे। जैसे (१) वह स्वयं तो चोरी नहीं करता है किन्तु दूसरे को चोरी की प्रेरणा करता है या चोर के कार्य का समर्थन करता है। (२) चोर चुरा कर जो वस्तु लावे, उसे ले लेना। (३) राज्य की अव्यवस्था या शासन की शिथिलता से एक राज्य से कम मूल्य की वस्तुयें ले जाकर दूसरे राज्य में अधिक मूल्य पर वेचना। अधिक मूल्य की चीज सस्ते दामों में खरीद लेना। इस तरह चोरबाजारी या तस्कर व्यापार करना, रिश्वत लेना या देना, राष्ट्र पर आक्रमण होने पर शत्रु राष्ट्र से कुछ आर्थिक लोभ के कारण अपने राष्ट्र के विरुद्ध शत्रु राष्ट्र को किसी प्रकार की सहायता करना। (४) नापने-तौलने के उपकरणों का हीनाधिक मानोन्मान अर्थात् दूसरे से चीजें लेते समय नाप-तौल के बड़े उपकरणों से लेना और देते समय कम नाप-तौल के उपकरणों से देना। (५) और चीजों में मिलावट करना—जैसे घी में वनस्पति घी मिलाना, वनस्पति घी में चर्बी मिलाना, दूध में पानी मिलाना, सोने में ताँबा मिलाना।

ये सभी कार्य एक प्रकार से चोरी ही कहलाते हैं। कानूनी दृष्टि से तो ये सभी दण्डनीय अपराध हैं ही, किन्तु नैतिक दृष्टि से चोरी की चीजों का व्यवसाय करना, चोर-बाजारी, तस्कर व्यापार, रिश्वत, मिलावट ये सभी कार्य ऐसे हैं, जिनसे आत्मा की तेजस्विता कम होती

१—सागार धर्मामृत ४७-४८-४९

है। इसलिये इन सब कार्यों का त्याग अचौर्याणुव्रती के लिए आवश्यक है।

अचौर्याणुव्रत लोक-व्यवहार में जीवन-शुद्धि और आचार-शुद्धि के लिये हमारे लिये प्रकाश-स्तम्भ है। यदि सारा राष्ट्र इस व्रत को अपने जीवन में व्यावहारिक रूप से अंगीकार कर ले तो राष्ट्र में व्याप्त ये सब बुराइयाँ स्वयं ही दूर हो जायँ। व्यक्ति इन बुराइयों से कानून के भय से दूर रह सकेगा, इसमें हमें संदेह है। कानून का भय व्यक्ति को हो सकता है, लेकिन यदि सारे राष्ट्रीय जीवन में ये दुर्गुण व्याप्त हों या स्वयं राष्ट्र के नाम पर, राष्ट्र द्वारा ही ये बुराइयाँ चल पड़ें तो उसे कैसे रोका जा सकेगा। इसलिये इस सबका एक ही उपाय है और वह है व्यक्ति का विवेक जाग्रत करना, राष्ट्र के चरित्र को ऊँचा उठाना। अचौर्याणुव्रत इसी विवेक को जाग्रत करने और राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाने का नैतिक आन्दोलन है, नैतिक साधना है। इस दृष्टि से नैतिकता के प्रसार में इस व्रत का बहुत बड़ा योग-दान हो सकता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत

मैथुन अब्रह्म कहलाता है।[1] अर्थात् कामेच्छा शान्ति के लिये सम्भोग की वासना अब्रह्म कहलाती है। सम्भोग हिंसा पर आधारित है। रज और वीर्य के अनेक कीटाणुओं[2] का घात होने से द्रव्य प्राणों की हिंसा होती है और काम की तीव्रता के कारण रागादि कषायों की

१—तत्वार्थ सूत्र ७ सूत्र १८

२—रक्तजाः क्रमयः सूक्ष्माः मृदु मध्यादि शक्तयः।
जन्मवर्त्मसु कंडूति, जनयन्ति तथाविधाम्॥

प्रचुरता होने से भाव प्राणों की भी हिंसा होती है।[1] अतः हिंसामूलक होने के कारण अब्रह्म त्याज्य बताया गया है।

अब्रह्म अर्थात् मैथुन का सर्वथा त्याग मुनियों के होता है और सर्वोत्तम मार्ग मैथुन का सर्वथा त्याग है। वास्तव में मैथुन की इच्छा भी एक वेदना है। उस वेदना का उपाय ब्रह्मचर्य है, भोग नहीं है। भोग तो उस वेदना की क्षणिक शांति का उपाय है। जिस प्रकार खाज में खुजा लेने से थोड़े समय तक को कुछ चैन अनुभव होता है किन्तु इस चैन का परिणाम पीड़ा होता है। इसी प्रकार मैथुन की इस वेदना का उपचार भोग लगता है। उससे थोड़ी देर को चैन भी प्रतीत होता है किन्तु इस चैन का परिणाम उस वेदना की वृद्धि होता है। भोगेच्छा की आग भोगों के घी पड़ने से और भी प्रज्वलित हो उठती है। इसलिये उस आग की शान्ति का एकमात्र उपचार ब्रह्मचर्य का जल है।

किन्तु जिसके मन में ब्रह्मचर्य पालन की दृढ़ता नहीं, सांसारिक दायित्वों को लेकर जो अपनी वंश-परम्परा चालू रखने को उत्सुक है, वह स्वदार सन्तोषव्रत धारण करे।[2] यद्यपि स्वदार सम्भोग में भी हिंसा की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु फिर भी गृहस्थ की मर्यादाओं और विवशताओं को देखते हुए इतनी साधना और निष्ठा उपेक्षणीय नहीं है। फिर सामाजिक नैतिकता और व्यवस्था की दृष्टि से तो इस प्रकार का व्रत अत्यन्त उपयोगी है ही।

लेकिन जिसने स्वदार सन्तोष व्रत लिया है, उसको अमर्यादित भोग

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय १०७ से १०६

२—सागार धर्मामृत अ० ४ श्लो० ५१

का कोई निर्बाध अवसर नहीं मिल जाता, उसे स्वदार-सेवन भी अनासक्ति पूर्वक करना चाहिये। जिस प्रकार भूख लगने पर उसकी शान्ति और सन्तोष के लिये अन्न खाया जाता है, उसी प्रकार मैथुन की वेदना और मन के सन्ताप की शान्ति जितने से हो सकती है, उतना ही संसर्ग अनासक्ति पूर्वक करना चाहिये। अत्यधिक भोगों से अत्यधिक हिंसा होती है, इसलिये धर्म का तो नाश होता ही है, किन्तु उससे शारीरिक शक्तियों का भी क्षय होता है। फलतः अर्थ और काम पुरुषार्थ का भी नाश होता है।[1]

सामान्यतः स्व-दार-सन्तोष व्रती पर-स्त्रियों का अवश्य त्यागी होता है। परस्त्री का तात्पर्य दूसरे की स्त्री नहीं, अपितु निज स्त्री से भिन्न स्त्री है। अर्थात् वह अपनी स्त्री को छोड़कर शेष सम्पूर्ण स्त्री मात्र को माता, बहन और पुत्री की दृष्टि से देखता है। इसलिये वह किसी अविवाहित कन्या को स्वार्थ वश न कोई दूषण लगायेगा, न गन्धर्व विवाह करेगा और न किसी कन्या का अपहरण करेगा[2]। वह ऐसे कार्य भी नहीं करेगा जिससे अनावश्यक कामोद्दीपन हो। जैसे वह दूसरी स्त्रियों के साथ कामोत्तेजक बातें नहीं करेगा, उनके अंगों को इस दृष्टि से नहीं देखेगा, उनके साथ नृत्य नहीं करेगा, न उनके नग्न नृत्यों को देखेगा, कामोत्तेजक उपन्यास आदि नहीं पढ़ेगा, सिनेमा आदि नहीं देखेगा। यहाँ तक कि कामोत्तेजक भोजन नहीं करेगा।

स्वदार सन्तोष व्रत अधिकांशतः भावनामूलक व्रत है। प्रत्यक्षतः यह आचार-शुद्धि की एक कठोर नैतिक साधना है, किन्तु मूलतः

१—सागार धर्मामृत अ० ३—२१,४-२५
२— ,, ३—२३

यह विचार-शुद्धि के लिये स्वेच्छया स्वीकृत प्रतिज्ञा है। मैथुन की वासना पहले मन में आती है। इसे हम मानसिक व्यभिचार का नाम दे सकते हैं। शरीर की रचना में स्नायविक प्रणाली का सूक्ष्म अध्ययन हमारे समक्ष कुछ रोचक निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। उसमें से एक यह है कि मन में व्यभिचार की भावना या विकार जागृत होते ही सारे शरीर में-शरीर के विभिन्न अवयवों में तरंग सी उठने लगती हैं और जैसे बिजली का स्विच दबाते ही बिजली का सारा सिस्टम बिजली से अनुप्राणित हो उठता है, उसी प्रकार शरीर की सम्पूर्ण धातुयें सामान्य (normal) से अधिक तीव्र गति से संचरित होने लगती हैं। इससे उन धातुओं की शक्ति पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। दूसरी ओर वे अपने असामान्य दबाव के कारण शरीर के प्रजननाङ्गों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार का दबाव जब अत्यधिक पड़ने लगता है, तो धातुओं की शक्ति न केवल क्षीण होने लगती है, अपितु उससे शरीर का शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जाता है और इस तरह शरीर की सम्पूर्ण स्नायविक प्रणाली निर्बल पड़ जाती है। इसी को हम व्यावहारिक भाषा में क्षीणता, दुर्बलता, यक्ष्मा आदि विभिन्न रोगों का नाम दे देते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि मानसिक व्यभिचार हमारी सारी स्नायविक प्रणाली को उत्तेजित और प्रभावित करता है और उससे हमारे मानसिक और शरीरिक स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है। इसलिये ब्रह्मचर्य मूलतः इस मानसिक व्यभिचार के प्रतिरोध की साधना है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो यह विचार-शुद्धि का अनिवार्य नैतिक मार्ग है। इसके बिना विचार-शुद्धि नाम की कोई चीज संभव हो सकती है, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

विचार-शुद्धि ही आचार-शुद्धि की अनिवार्य शर्त है। और

आचार-शुद्धि सामाजिक व्यवस्था और न्याय-प्रतिष्ठा की आधार शिला है। इस रूप में समाज में व्यवस्था बनी रहे, सभी को समुचित न्याय मिल सके, इसके लिये मानसिक व्यभिचार के प्रतिरोध के इस व्रत को अङ्गीकार करना ही पड़ेगा।

इस व्रत का सामाजिक व्यवस्था और न्याय प्रतिष्ठा से क्या सम्बन्ध है, इसको समझने के लिये हमें कुछ गहराई में जाना होगा। संसार में झगड़ों का वर्गीकरण किया जाय तो हमें मिलेगा कि उसके दो ही कारण है—(१) स्त्री-पुरुष और (२) परिग्रह। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य की सारी विवेचना सुविधा के लिये पुरुष को माध्यम बनाकर की है। उसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्मचर्य की उपयोगिता केवल पुरुषों के लिये है, स्त्रियों के लिये नहीं है। पुरुष शब्द तो स्त्री और पुरुष दोनों के लिये एक प्रतीक मात्र है। किन्तु वह है दोनों के लिये ही उपादेय। इसी प्रकार हम यहाँ पुरुष की दृष्टि से झगड़े का एक कारण स्त्री को मान सकते हैं, जब कि दूसरा कारण परिग्रह है ही। जिस प्रकार सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा के लिये परिग्रह की अमर्यादित आकांक्षा और उसके अमर्यादित संग्रह के नियमन के लिये परिग्रह परिमाण व्रत का विधान किया गया है, और उसका उद्देश्य रहा है कि इस लोक की असीम संपदा या परिग्रह का एक स्थान पर पर्वत और दूसरे स्थान पर गड्ढा होकर विषमता को अवसर न मिल पाये, उसी प्रकार सामाजिक व्यवस्था और न्याय-प्रतिष्ठा के लिये, अमर्यादित भोग-लालसा और अमर्यादित स्त्री-संग्रह की आकांक्षा के नियमन के लिये ब्रह्मचर्याणुव्रत का विधान किया गया है, अन्यथा अमर्यादित भोगाकांक्षा के फलस्वरूप स्त्रियों को लेकर अवांछनीय स्पर्धा और संघर्ष उत्पन्न हो सकते है। इसी प्रकार अमर्यादित स्त्री-संग्रह के द्वारा समाज

में अनावश्यक संग्रह और अभाव के रूप में विषमता पैदा हो सकती है। परिग्रह तो असीम है, उसके कारण उत्पन्न हुई विषमता से असन्तोष, वर्ग-विद्वेष और युद्ध तक हो जाते हैं। फिर स्त्रियाँ तो सीमित हैं। जैसे कि पुरुष सीमित हैं। प्रकृति ने दोनों को एक दूसरे का पूरक बनाया है। इसलिये उनकी संख्या भी प्रायः समान बनाई है। यदि स्त्री या पुरुष में से किन्हीं का एक स्थान पर संग्रह हो जाय तो उससे अभाव ग्रस्तों को समुचित न्याय मिलने की आशा क्षीण हो जायगी। इसलिये हम कहते हैं, कि ब्रह्मचर्याणुव्रत अर्थात् स्वदार सन्तोष व्रत सामाजिक व्यवस्था और न्याय-प्रतिष्ठा के लिये अत्यन्त आवश्यक है। आदि काल से लेकर पुरुष ने अपने ही भाइयों का अबतक जितना रक्त बहाया है, उसमें अनियन्त्रित कामुकता का भाग कम नहीं है।

स्त्री-पुरुषों द्वारा दाम्पत्य स्वीकार किसी निश्चित सामाजिक प्रणाली द्वारा होता है। दाम्पत्य का यह विधान मुख्यतः सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता के लिये होता है। दाम्पत्य-जीवन का यह अंगीकार वस्तुतः एक साधना है, एक नियंत्रण है और दूसरे शब्दों में यह दाम्पत्य अङ्गीकार करने वाले स्त्री और पुरुष दोनों के लिये विवाह के नाम से सामाजिक स्वीकृति है। कल्पना करें, यदि स्त्री-पुरुषों के लिये दाम्पत्य या विवाह का कोई नियम या बन्धन न होता, हर पुरुष और हर स्त्री का पारस्परिक सम्बन्ध केवल काम वासना की पूर्ति तक होता और उस पूर्ति के लिये वे सर्वथा स्वतन्त्र होते तो उस समय क्या स्थिति होती। संभवतः उस स्थिति में बलात्कार, अपहरण, संघर्ष, द्वेष, युद्ध यही सामान्य दृश्य होते। उस स्थिति में मनुष्य का जीवन कुत्तों का सा हो जाता। इसलिये विवाह द्वारा दाम्पत्य जीवन अंगीकार कर व्यक्ति स्व-दार सन्तोष व्रत ग्रहण करे और परस्त्रियों के प्रति मानसिक, वाचनिक

और कायिक व्यभिचार का सर्वथा परित्याग करदे, यह विधान अंगीकार किया गया, जिससे व्यक्ति आत्म-सन्तुष्टि के साथ एक निश्चित मर्यादा में रह सके और सब प्रकार की उच्छृंखलताओं का परित्याग कर सके।

इस प्रकार का स्वदार-सन्तोषी व्यक्ति (१) दूसरे के लड़के-लड़कियों का विवाह कराता नहीं फिरेगा, चाहे वह शौकिया हो या पेशा बना कर हो। (२) न वह पुंश्चली विवाहित स्त्रियों के साथ कुचेष्टा आदि करेगा (३) न वह दुराचारी अविवाहित स्त्रियों के साथ कुचेष्टा आदि करेगा, ये स्त्रियाँ वेश्या हों, दासी हों, कुमारी हों या और कोई हों (४) काम क्रीडा के अंगों के अतिरिक्त अन्य अंगों के साथ काम-क्रीडा (अप्राकृतिक मैथुन) नहीं करेगा (५) और न वह काम सेवन की तीव्र अभिलाषा मन में जागने देगा। चाहे वह अभिलाषा अपनी स्त्री के प्रति ही क्यों न हो।[1]

यदि व्यक्ति इस स्वदार-सन्तोष व्रत को ही जीवन में अपनाले तो उसका जीवन अत्यन्त आत्म-सन्तुष्ट और नैतिक बन जाता है। फिर यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय तो उसका तो आत्म-तेज अवश्य ही प्रज्वलित हो उठेगा। और उसकी तेजस्विता के आगे न केवल मानव ही, बल्कि देवता-गण तक सिर झुकायेंगे।[2]

वस्तुओं में मूर्च्छा, आसक्ति, मोह यही परिग्रह है।[3] जीवन में आवश्यकतायें होती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति पदार्थों से होती है।

१—तत्वार्थ सूत्र ७-२८। पुरुषार्थ० १८६। सागार धर्मा० ४-२८

२—देव दाणव गन्धव्वा..............

३—तत्वार्थ सूत्र ७-१७। पुरुषार्थ० १११

किन्तु पदार्थ स्वयं में परिग्रह नहीं हैं। हमारी ममता उनसे जुड़ती है, तब पदार्थ भी परिग्रह हो जाता है। ममता न हो तो पदार्थ मनुष्य के लिए मूल्यहीन है। ममता हो तो वही पदार्थ मनुष्य के लिए बन्धन हो जाता है। इस तरह मूलतः ममता ही परिग्रह है।

परिग्रह परिमाण अणुव्रत

ममता जिन पदार्थों से जुड़ जाती है, वे भी फिर परिग्रह हो जाते हैं। इस तरह परिग्रह के दो रूप रहे—ममता यानी आभ्यन्तर, पदार्थ यानी बाह्य। वे चेतन हों या अचेतन।[1]

कोई व्यक्ति ऐसा है, जिसके पास संसार का कोई पदार्थ नहीं, तन पर वस्त्र तक नहीं। यदि उसके मन में भी आसक्ति की वासना है तो वह भी परिग्रही कहलाएगा।

बाह्य पदार्थ हमारे अन्तर की आसक्ति को जगाते हैं। इसलिये वे हमारे लिए परिग्रह हैं।

रुपया स्वयं में बांझ है। वस्तु-विनिमय का साधन होने से उसका मूल्य है। यदि वह एक स्थान पर पड़ा रहे तो उससे कुछ पैदा होने वाला नहीं। कई लोग रुपया जमीन में गाढ़ देते हैं। जब तक वह रुपया वहाँ गढ़ा है, तब तक उससे उन्हें कुछ मिलने वाला नहीं है, इसलिये तब तक वह धन नहीं है। किन्तु उन लोगों की मूर्च्छा उस धन में है, इसलिये वह उनके लिये बन्धन कारक है, दुःख कारक है।

मूर्च्छा या ममता दुःख कारक है, यह हमारे दैनिक जीवन का अनुभव है। एक बालक मोटर से कुचल कर मर गया। उसे देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न हुई, किन्तु जब मालूम पड़ जाय कि यह बालक

१—पुरुषार्थ० ११९

और किसी का नहीं, मेरा ही है तो कितना दुःख होता है। राम ने श्याम को अपना मकान बेच दिया। मकान जब तक राम का था, राम को उसकी ईंट २ से मोह था। कोई एक ईंट उखाड़ लेता तो उसे दुःख होता, क्रोध भी आता। जब वह श्याम को बेच दिया, उसका मोह उससे हट गया। बेचने के आठ दिन बाद बाढ़ में वह बह गया, किन्तु इससे राम को कोई कष्ट नहीं हुआ, कष्ट श्याम को हुआ क्योंकि अब तो वह श्याम के मोह का केन्द्र बना हुआ था।

वस्तुतः मोह ही संसार में सबसे बड़ा हिंसा का रूप है क्योंकि उससे अपने भाव प्राणों की हिंसा होती है। और बाह्य पदार्थ उस मोह के कारण हैं, इसलिये वे भी हिंसा रूप ही हैं [1]।

मनुष्य में भोग की इच्छा स्वाभाविक है। भोग ही उसके लिये आवश्यकता बने हुए हैं। इन आवश्यकताओं की या भोग की पूर्ति पदार्थों से होती है। आवश्यकताओं की पूर्ति से अतृप्ति और अतृप्ति से भोगेच्छाओं की वृद्धि होती जाती है। उसकी इच्छायें जैसे २ बढ़ती जाती है, उसकी आवश्यकताओं का परिमाण भी वैसे २ ही बढ़ता जाता है, और उससे फिर अतृप्ति बढ़ती है। इस प्रकार भोगेच्छा से आवश्यकताओं और अतृप्ति का चक्र सदा चलता रहता है और यह व्यक्ति असहाय सा उसमें पड़ा छटपटाता रहता है। सारा संसार इसी चक्र में पड़ा पड़ा कम या अधिक यन्त्रणायें पा रहा है।

मनुष्य में सुख की स्वाभाविक इच्छा है। सुख के दो ही मार्ग अब तक जाने पहचाने हैं। एक तो यह कि हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियाँ और हमारा मन जिन चीजों से प्रसन्न हो, सन्तुष्ट हो, उन

१—पुरुषार्थ० ११८-११९

चीजों की प्राप्ति होती रहे। चीजों से-पदार्थों से सुख खोज निकालने, पाने की यह आशा भौतिक है। दूसरा मार्ग है कि ये पदार्थ शरीर को सन्तुष्ट कर सकते हैं, इन्द्रियों की तृप्ति कर सकते हैं और मन को सुख दे सकते हैं, किन्तु मुझे नहीं। शरीर, इन्द्रिय और मन के सुख से मेरा यानी आत्मा का सुख पृथक है। इसलिये शरीर, इन्द्रिय और मन की वासना का प्रतिरोध न हो, तब तक मेरा सुख मुझे न मिल सकेगा और इनकी वासना पदार्थों के कारण है, इसलिए वासना के त्याग के लिए पदार्थों का क्रमिक त्याग करना ही श्रेय है। पदार्थों के त्याग की भूमिका पदार्थों का सीमाकरण है। अपनी आवश्यकता जितनी हैं, उतने पदार्थों यानी परिग्रह की सीमा बना ली। धीरे-धीरे आवश्यकतायें घटाते जायँ, इससे परिग्रह की सीमा, परिग्रह का परिमाण भी सीमित, संकुचित होता जायगा और एक दिन हम अपनी आवश्यकताओं के स्वयं स्वामी बन कर उन्हें अनावश्यक समझ कर छोड़ भी सकेंगे। इससे शरीर, इन्द्रिय और मन के सुख को मिटा कर हम अपना सुख पा सकेंगे। यह आध्यात्मिक मार्ग है।

भौतिक मार्ग हमें सरल लगता है, आध्यात्मिक मार्ग कुछ अटपटा सा, कठिन सा लगता है। हमारी आवश्यकतायें, हमारी आकांक्षायें भौतिक हैं। वे मिल जायँ तो हमें सुख मिलेगा ऐसी हमारी मान्यता बन गई है। भौतिक पदार्थों से मिलने, वाला सुख हमें प्रत्यक्ष दीखता है। इनके त्याग से सुख मिलने की कोई संभावना अप्रत्यक्ष लगती है। बारिश की संभावना में घड़ा फोड़ने की मूर्खता कैसे करें, ऐसे हमारे संस्कार बन गये हैं।

मनुष्य के जीवन-यापन की कुछ आवश्यकतायें हैं। उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पदार्थों की और पदार्थों की प्राप्ति के लिये

पूँजी की आवश्यकता है। आज की आवश्यकता भर के लिये हमें मिल गया तो हमें कल की चिन्ता आज ही सताने लगती है। इसलिये कल के लिये भी हम आज ही संचय करके रखना चाहते हैं, मनुष्य में ऐसी एक सहज मनोवृत्ति है। अधिकांशतः इस मनोवृत्ति का कारण सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं। ये परिस्थितियाँ सदा से रही हैं। इसलिये उसकी यह विवशता संस्कार बन गई है, सहज स्वभाव बन गई है। (व्यक्ति की इस विवशता का उपचार विभिन्न राजनैतिक प्रणालियों ने अपने-अपने ढंग से किया, किन्तु कल की चिन्ता से मुक्त होने के लिए आज ही संचय कर लेने की यह बीमारी व्यक्ति से निकल कर सारे राष्ट्र को लग गई।) उसका यह कल कभी न आने वाला, कभी न समाप्त होने वाला अन्तहीन कल है। उस अन्तहीन कल के लिए वह आज ही संचय करने का सदा ही प्रयत्न करता रहता है। वह संचय आवश्यकताओं के नाम पर किया जाता है। किन्तु वस्तुतः जो संचय अन्तहीन कल के लिए किया जाता है, उसका आवश्यकताओं से फिर कोई मेल नहीं रह जाता। वह संचय तो फिर एक वृत्ति बन जाता है। फलतः यह सत्य अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि संचय आवश्यकताओं के लिए नहीं होता, वृत्तिवश होता है। और फिर सारा संचय ही आवश्यकता बन जाता है।

आज का सारा व्यवहार अर्थ की धुरी पर स्थित है। अर्थ से ही आज सुख-सुविधा, सम्मान-प्रतिष्ठा, जीवन-निर्वाह और भोग-विलास की सम्पूर्ण सामग्री मिल सकती है। इसलिए हर व्यक्ति अर्थ-संचय के लिए उत्सुक है। किन्तु अर्थ-संचय के लिए जिस बुद्धि, अवसर (भाग्य), साधन की अपेक्षा की जाती है, वह सबको समान नहीं मिलते। किसी न किसी बात की कमी रह ही जाती है। जिसे ये सभी चीजें मिल जातीं

हैं, वह अर्थ-संचय कर लेता है। किन्तु यह तथ्य न भूलना चाहिये कि अर्थ-संचय के लिये जिन बातों की आवश्यकता है, उनमें राजनैतिक और प्रशासकीय प्रणाली की अनुकूलता भी अनिवार्य है।

अर्थ-संचय की मनोवृत्ति में से शोषण का जन्म होता है। मनुष्य ने सामाजिक व्यवस्था और प्रशासकीय प्रणालियाँ इस प्रकार की निर्मित की हैं कि उनमें शोषण के बिना अर्थ-संचय संभव ही नहीं रह गया है। अनेक छोटे मनुष्यों का शोषण करके ही एक बड़ा मनुष्य बनता है। अनेक निर्धन श्रमिकों के शोषण पर ही धनवान् का ऐश्वर्य खड़ा होता है।

सारी पूँजीवादी समाज और राज्य-व्यवस्था इसी शोषण के ऊपर खड़ी हुई है। उसके सारे विधि-विधान और कानून शोषण को ही प्रोत्साहन देते हैं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था का उद्देश्य है—पूँजी को महत्व और प्राधान्य और श्रम को पूँजी का मुखापेक्षी बना देना। श्रम बिना पूँजी के विवश है अपने जीवन यापन के लिए। इसलिये पूँजी श्रम की विवशता से लाभ उठाती है। पूँजी श्रमिक के श्रम से बढ़ती है, किन्तु श्रमिक को अपने श्रम का पूरा फल नहीं मिलता।

चूँकि पूँजी का महत्व है, श्रम का नहीं। फलतः (१) पूँजी श्रम का शोषण करती है। (२) शोषण करने पर भी पूँजी श्रमिक को जीवन यापन की सुविधा देने का अनुग्रह करती है। (३) इससे समाज में दो वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं—पूँजीपति और श्रमिक। (४) अनुग्रह की भावना के कारण पूँजीपति में दम्भ उत्पन्न हो जाता है। वह अपने को श्रमिकों से बड़ा समझने लगता है। इसलिये श्रम उसकी दृष्टि में हेय, तुच्छ हो जाता है। इसलिए वह स्वतः श्रम करना अपनी अप्रतिष्ठा समझता है। (५) विवशता से श्रमिक पूँजीपति का अनुग्रह

स्वीकार कर लेता है। उसकी दृष्टि में पूँजी का महत्व बढ़ जाता है। फलतः वह अपने आपको हीन मानने लगता है। (६) पूँजीपति की पूँजी बिना स्वयं श्रम किये बढ़ती जाती है और श्रम देकर भी श्रमिक अपने जीवन का निर्वाह कठिनाई से कर पाता है। (७) इस वर्ग-वैषम्य से ईर्ष्या, असन्तोष, घृणा, द्वेष और संघर्ष उत्पन्न होता है।

पूँजीपति उस हर विवश व्यक्ति का शोषण करता है, जो उसकी पूँजी की किसी रूप में भी अपेक्षा करता है। अतः क्षेत्र भले ही अलग-अलग हों, शोषण का रूप एक ही है। मिल मालिक मजदूर का शोषण करता है, किसान अपने खेतिहर मजदूर का शोषण करता है। पत्र का मालिक पत्रकारों का और प्रकाशक लेखक विद्वानों का शोषण करने से नहीं चूकता। सर्विसों में काम के दाम नियत कर दिये जाते हैं। वहाँ योग्यता के दाम नहीं मिलते।

किसी जमाने में ऐसा होता था कि बड़े-बड़े सर्राफों और साहूकारों के यहाँ कोई गहना, रकम, बर्तन आदि अमानत रखने जाता था तो साहूकार उस अमानत की रखवाली के लिये कुछ मेहनताना या ब्याज लेता था। आज भी कहीं २ ऐसा होता है। किन्तु आज जैसी आर्थिक रचना है, उसमें यदि कोई व्यक्ति साहूकार के यहाँ पड़ी हुई पूँजी को उससे उधार लेता है और किसी उत्पादक काम में लगाता है तो साहूकार उस रकम की हिफ़ाजत के लिये उसे कोई मेहनताना या ब्याज नहीं देता, बल्कि उल्टे वह रुपया देकर उस व्यक्ति पर मानो एक अनुग्रह करता है और उससे उसका ब्याज भी वसूल करता है।

वास्तव में हम इस आर्थिक-रचना के इतने आदी हो गये हैं कि हमें यह तक पता नहीं चलता कि शोषण कहाँ हो रहा है। शोषण करने और शोषित होने के हमारे संस्कार अत्यन्त बद्धमूल हो गये हैं।

उसका कारण है। युद्ध के इस व्यापार द्वारा वे दूसरे राष्ट्रों में आतंक और भय का एक वातावरण तैयार कर देते हैं। इससे उनके हथियार, जहाज, मोटरें, मशीनरी आदि का व्यापार जोरों से चल निकलता है। और आतंकग्रस्त राष्ट्र को ये चीजें मुहमांगे दाम पर बेच दी जाती हैं। आज के युग में बड़े राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले सुरक्षा-सन्धियों के आडम्बर व्यापार और शोषण के ऐसे जाल हैं, जिनमें निर्बल राष्ट्र स्वतः आफँसने के लिये प्रेरित होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति के शोषण को दूर करने के लिये दुनिया में कई प्रणालियों का आविष्कार हुआ है। उनमें एक प्रणाली है समाजवाद। इसी का एक रूप है साम्यवाद।

समाजवाद के पुरस्कर्ताओं के समक्ष पूंजीपतियों के द्वारा श्रमिकों के शोषण का दुःख विशेष प्रेरणाप्रद रहा। पश्चिम में जब व्यापार-युग का प्रारम्भ हुआ, उस समय श्रमिकों के शोषण का दौर बड़े जोर शोर से चलने लगा। उससे कुछ महानुभावों को समाजवाद की प्रेरणा मिली। उन्हीं दिनों रावर्ट ओवेन आदि सोशलिस्टों ने अमरीका में, जहाँ जमीन बहुत थी, एक सोशलिस्ट बस्ती की स्थापना की। उस बस्ती में शारीरिक परिश्रम सबके लिये अनिवार्य था। जो उत्पादन होता, उसका सबके बीच उनकी आवश्यकतानुसार विभाजन हो जाता और बची हुई उपज और पूंजी सार्वजनिक कोष में रख ली जाती। यह बस्ती दस-पाँच वर्ष तक ही रह सकी।

इसी प्रयोग में से समाजवाद का सिद्धान्त निकला। श्रम सबसे, पूंजी राष्ट्र की और व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार। कार्ल मार्क्स को यद्यपि ऐसा शान्तिवादी समाजवाद पसन्द न था, और वे ऐसे समाजवाद को नन्दनवनीय (utopism) कहा करते थे। किन्तु उन्हें

समाजवाद की प्रेरणा का एक यह भी कारण था। उन्होंने जिस समाजवाद की कल्पना की, उसके अनुसार वर्ग-संघर्ष अनिवार्य था। उन्होंने शोषण और युद्ध समाप्त करने का उपाय बताया पूंजीपतियों और जमींदारों को नष्ट करना। संसार के सारे मजदूर कल्पित राष्ट्रीयता और राष्ट्राभि मान से ऊपर उठ कर संगठित हो सकें। इसके लिये उन्होंने 'वर्कर्स इन्टर नेशनल' नाम से एक संस्था स्थापित की। यह संस्था उनके समय में ही समाप्त हो गई। फिर दूसरी इण्टर नेशनल की स्थापना हुई और प्रथम विश्व-युद्ध के समय यह समाप्त हो गई। इसके बाद रूसी राज्य-क्रान्ति के बाद तीसरी इण्टर नेशनल की स्थापना हुई और वह द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद समाप्त हो गई।

यह सब होने पर भी शान्ति स्थापित नहीं हो पाई। व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाकर समाजवादी राष्ट्रों ने व्यक्ति के शोषण के मार्ग तो निःसन्देह बन्द कर दिये हैं, किन्तु व्यक्ति के शोषण ने राष्ट्रों के शोषण का रूप ले लिया है। पूंजीवादी राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के शोषण का जो कार्य पूंजी के बल पर करते रहे हैं, समाजवादी राष्ट्र शोषण की वही परम्परा समाजवाद के नाम पर चलाये हुए हैं।

मार्क्स ने धर्म को अफीम का नशा बताया था। संभव है, धर्म के नाम पर लोक मानस में व्याप्त अन्ध श्रद्धा और विवेकहीन आचार के कारण जो विभिन्न विश्वास वालों के बीच युद्ध और रक्त के फाग खेले गये, उनसे प्रेरित होकर मार्क्स ने अपना मत स्थिर किया हो। किन्तु इससे धर्म की नैतिक और मानवीय मान्यताओं से भी जो इनकार हो गया, उसी का फल यह हुआ कि उन्हें समाजवाद की सफलता के लिये हिंसा और संघर्ष को अनिवार्य मानना पड़ा।

हमारी विनम्र मान्यता है कि धर्म का नाम न रहे, किन्तु उसकी

नैतिक मान्यताओं और मूल्यों को स्वीकार किये बिना जो प्रणाली हिंसा और असत्य पर आधारित होगी, भले ही वह विश्व-शान्ति और मानव कल्याण जैसे मोहक उद्देश्यों के लिये क्यों न हो, उससे मानव के किसी कल्याण की आशा व्यर्थ ही होगी।

संसार को राष्ट्रों में एक और नारा द्वितीय विश्व-युद्ध ने दिया है— अधिक उत्पादन। आवश्यकताएँ बढ़ी हुई हैं, इसलिये उनकी पूर्ति के लिये अधिक उत्पादन करना चाहिये। अधिक उत्पादन के भीतर जो भावना है, वह प्रतिस्पर्धा का परिणाम है। व्यापार, अधिकार और राज्य-प्रसार की स्पर्धाओं की तरह ही यह उत्पादन की स्पर्धा का नारा है। उत्पादन अधिक करना है, केवल जीवनोपयोगी वस्तुओं का ही नहीं, अपितु मौत के साधनों का भी, विलास और आडम्बर की वस्तुओं का भी। अविकसित राष्ट्रों में यह नारा राष्ट्र को आत्म-निर्भर बनाने का राष्ट्रीय नारा है। किन्तु इस नारे के इस तथ्य को शायद अभी तक हृदयङ्गम नहीं किया गया कि पश्चिम के विकसित राष्ट्र जिस विनाश की ओर वेग से दौड़ रहे हैं, हम भी यह नारा देकर उनके पीछे दौड़ने का उपक्रम कर रहे हैं।

फिर आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन करने का अर्थ है—आग जितनी बढ़ती जाय, हम पानी का संग्रह उसी मात्रा में करते जायँ; रोग जितना बढ़ता जाय, औषधियों का उसी क्रम से उत्पादन बढ़ाया जाय। आवश्यकता जन्य समस्याओं का समाधान उत्पादन वृद्धि नहीं है। वे तो निरन्तर ही बढ़ती जायँगी और उससे समस्याएँ भी बढ़ती जायँगी। उसका उपाय है आवश्यकताओं को कम करने की प्रेरणा अर्थात् परिग्रह का सीमाकरण और अल्पीकरण। इससे इच्छाओं का नियमन होगा तो आवश्यकताएँ घटेंगी। आवश्यकता घटाने पर उसे फिर

अनुचित मार्ग पर चलने, स्पर्धा करने की आवश्यकता न रहेगी।

एक प्रश्न है—व्यक्ति परिग्रह का परिमाण कर ले। किन्तु परिग्रह का परिमाण कर लेने के बाद उसके पास जो धन हो, सम्पत्ति हो और आय के स्रोत होने से जो बढ़ती रहती हो, उसका वह क्या करे?

महात्मा गाँधी ने बताया कि उस धन का वह ट्रष्टी बना रहे। और सार्वजनिक कार्यों में मानव-हित के लिये उसका उपयोग करता रहे।

भगवान् महावीर ने उस धन के लिये स्पष्ट कहा कि उस धन में अनासक्त रह कर जगत् की भलाई में उसे लगाता रहे। परिग्रह परिमाणव्रत वस्तुतः अनासक्ति का व्रत है, जो वैयक्तिक होते हुये भी समाज को प्रभावित करने वाला है। यह व्यक्ति की समाज में से वैषम्य और वर्ग-संघर्ष दूर करने की अहिंसक साधना है। आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन संघर्ष होता है, आकांक्षाओं की पूर्ति का परिणाम अतृप्ति होता है। उनके त्याग में संघर्ष का त्याग है, उनको मर्यादित करने में संघर्ष भी सीमित होता है। परिग्रह परिमाणुव्रत सर्व त्याग और अनियन्त्रित स्पर्धा के बीच का मार्ग है—मध्यम मार्ग है। इसे इच्छा-परिमाणव्रत भी कहा जाता है।[1]

ऐसा व्यक्ति कभी (१) अधिक लाभ की दृष्टि से घोड़े-बैल, दास-दासी आदि से अधिक काम नहीं लेगा, (२) अधिक लाभ की आशा से वह धन धान्यादि का अतिसंग्रह करके उसे रोक नहीं रक्खेगा। (३) व्यापार आदि में दूसरे के लाभ को देख कर कभी जलेगा नहीं। (४) लाभ होने पर अधिक की लालसा नहीं करेगा। (५) लोभ वश

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३-६१

मनुष्य या पशुओं पर उनकी शक्ति और न्याय नीति से अधिक भार नहीं लादेगा।[1]

इस प्रकार परिग्रह परिमाणव्रती अपने लोभ और अपनी इच्छाओं का नियमन करके न केवल आत्म-सन्तोष द्वारा सुख पूर्वक जीवन-निर्वाह करेगा, बल्कि वह एक शान्तिप्रिय और राष्ट्रभक्त नागरिक के रूप में दूसरे नागरिकों के लिये अपने आचरण द्वारा एक आदर्श भी कायम कर सकेगा।

जैन वाङ्मय में सप्तशीलों का वर्णन विशेष विस्तार के साथ आता है। सप्तशील का पालन एक गृहस्थ श्रावक के लिये उतना ही अनिवार्य बताया गया है, जितना पाँच अणुव्रतों का। वास्तव में सप्तशील स्वयं में कोई स्वतन्त्र व्रत नहीं हैं, किन्तु ये तो अणुव्रतों के पूरक और रक्षक हैं, जिस प्रकार नगर की रक्षा के लिए पूर्व काल में प्राचीर बनाई जाती थी।[2] इन सप्तशीलों के पालन से अणुव्रतों में तेजस्विता आती है और अहिंसा-पालन को विशेष बल मिलता है। इन सप्तशीलों के हर व्रत का अणुव्रतों से साक्षात् सम्बन्ध हमें भले ही प्रतीत न हो, किन्तु उनकी साधना में जो उद्देश्य और भावना निहित है, वह अणु-व्रतों को जीवन में विकसित और चरितार्थ करने की ही है।

सप्तशील

इन सप्तशीलों में भी दो रूप रहे हैं। गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत अर्थात् अणुव्रतों को विकसित और तेजस्वी बनाने वाले व्रत। वे तीन हैं—१—दिग्व्रत, २—देशावकासिक व्रत, ३—अनर्थदण्ड व्रत।

१—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३-६२

२—पुरुषार्थ० १३६

शिक्षाव्रत का अर्थ है—अणुव्रतों का निर्दोष पालन करते हुए भी महाव्रतों की ओर उन्मुख होते जाना और उनके अनुरूप अपना अभ्यास बढ़ाते जाना। अर्थात् हमारे जीवन में अणुव्रतों के रूप में धर्म का, नैतिक जीवन का जो रूप निखार पा सका है, वह अपनी सीमा में संकुचित होकर जड़ न बन जाय। हमारा लक्ष्य, हमारी निष्ठा मानव-विकास की सम्पूर्ण साधना की है। इसलिये हम उस ओर निरन्तर बढ़ते जायँ। शिक्षाव्रत इसी नैतिक जीवन को निरन्तर विकसित करने के प्रेरणा-स्रोत हैं। वे चार हैं—१--सामायिक, २—प्रोषधोपवास, ३—उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और ४ अतिथि संविभाग व्रत।

आध्यात्मिक व्यक्ति की दृष्टि उन लोगों से भिन्न होती है, जो सुख की भोगों के माध्यम से खोज करने में लगे हुए हैं। इसलिये दोनों के केन्द्र और लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं। भौतिकवादी मन और इन्द्रियों की सन्तुष्टि को केन्द्र बना कर चलते हैं। उनका सुख भौतिक वस्तुओं के स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द में छिपा रहता है। जबकि अध्यात्म रसिक का केन्द्र आत्मा होता है। वह मन और इन्द्रियों का नहीं, आत्मा का सुख चाहता है और इस सुख के मार्ग में जो भौतिक वासनायें अवरोधक बनी हुई हैं, उनका वह परित्याग करता चलता है। धर्म की राह कर्म की इसी विमुखता के ऊपर होकर गई है। धर्म को उसी कर्म की अपेक्षा रहती है, जिससे मानव की नैतिक मान्यताओं को बल मिले। वह कर्म ही फिर कर्त्तव्य का नाम पाकर आगे आ जाता है। किन्तु जिस कर्म से विषय-वासना, भौतिक लिप्सा को उत्तेजना मिले, वह कर्म धर्म नहीं है, उपेक्षणीय है। जीवन में धर्म विस्तार पाकर लोक-जीवन को कर्त्तव्य की प्रेरणा देता

आत्म-नियमन की भावना

हैं, समस्त लोक से उसका सम्बन्ध आत्मीय हो जाता है और अनैतिक वासनाओं का सम्बन्ध उतना ही टूटता जाता है। सप्तशील वासना के उसी विस्तार को संकीर्ण-संकुचित करते हैं।

इन सात व्रतों में कठोर आत्म-नियमन के उद्देश्य से व्यक्ति दिग्व्रत द्वारा यम (आजीवन) और देशव्रत द्वारा नियम (परिमित अवधि के लिये) रूप से सम्पूर्ण दिशा और क्षेत्र की मर्यादा कर लेता है। अनर्थ दण्ड व्रत व्यक्ति को जानते या अजानते ऐसे सभी कर्मों से रोकने का उपाय है, जिससे किसी प्रकार अनर्थ अर्थात् हिंसा को प्रश्रय मिलने की संभावना हो। सामायिक आत्म शोधन की प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अपने समस्त दोषों, अपराधों और दुष्कर्मों पर हृदय से ग्लानि और पश्चाताप हो, जिससे समस्त प्राणी-जगत् के साथ व्यक्ति का व्यवहार मैत्रीपूर्ण बन जाय। प्रोषधोपवास जिह्वा की लोलुपता और वासनाओं के वशीकरण के लिए ४८ घंटे का उपवास है, जिसमें सम्पूर्ण हिंसा आदि पाप-वृत्तियों का निरोध करके अपना सारा समय आत्म-चिन्तन में व्यतीत किया जाता है। उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत भोगोपभोग सामग्री की मर्यादा और अल्पीकरण करते जाने की प्रतिज्ञा है और अतिथि संविभाग व्रत स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति भोजन तब करता है, जब वह पहले सुपात्र को भोजन करा देता है। यह व्रत व्यक्ति में दान की भावना जगाने और उस दान को उपयोगी दिशा में मोड़ने में सहायता देता है। दान गृहस्थ के दैनिक आवश्यक कर्त्तव्यों में से एक है और यह व्रत इस कर्त्तव्य का प्रतीक है।

इन सप्तशीलों की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भावना अहिंसा को बल देती है। अहिंसा में सहायक न हो, ऐसा कोई व्रत नहीं है। आत्म-नियमन की कोई भी प्रक्रिया अहिंसा में सहायक होती है। और ये

सप्तशील आत्म-नियमन की उसी प्रक्रिया के अंग हैं। किन्तु उन सप्त-शीलों में भी अनर्थ-दण्ड विरति और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत अपना विशेष स्थान रखते हैं। अतः यहाँ उनके सम्बन्ध में थोड़ा विवेचन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

अनर्थ दण्ड-विरति

जिससे अपने और अपने कुटुम्बी जनों का मन, वचन और काय सम्बन्धी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, फिर भी पापोपदेशादि द्वारा प्राणियों को पीड़ा पहुँचाना अनर्थ दण्ड कहलाता है। उसका त्याग कर देना अनर्थ दण्ड व्रत है।[1]

अनर्थ दण्ड पाँच प्रकार का है—पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और प्रमादचर्या।[2]

पापोपदेश—ऐसा उपदेश न देना, जिससे हिंसा की, पापों की संभावना हो। जैसे कहना,/चमड़े के निर्यात व्यापार में आजकल बड़ा लाभ है। इससे सुनने वाले को इस व्यापार की प्रेरणा मिल सकती है और उससे वह खाल प्राप्त करने के लिये हिंसा करवा सकता है। असंगत और असंयत भी नहीं बोलना चाहिये।

हिंसादान-विष, हथियार, बारूद आदि से हिंसा संभव है। अतः ये वस्तुयें किसी को न देनी चाहिये।

दुःश्रुति—कामोद्दीपक, हिंसा और राग वर्धक बातें न करना, न सुनना। जिन ग्रन्थों और शास्त्रों में भी ये बातें हों, वे भी न पढ़ना।

अपध्यान—किसी प्रकार की दुश्चिन्ता न करना, दुर्विचार न

१—सागार धर्मामृत अ० ५ श्लो० ६

२— „ ५ „ ७ से ११ तक। पुरुषार्थ० १४१-१४७। रत्नकरण्ड श्रावकाचार अ० ४ श्लो० ७७ से ८१

करना। सब प्रकार वैचारिक शुद्धि रखना। यह विशेष रूप से वैचारिक हिंसा के त्याग के लिये कहा गया है।

प्रमाद चर्या—बिना प्रयोजन छड़ी घुमाते चलना, छड़ी झाड़ियों और पेड़ों में मारते जाना, पानी फैलाते रहना तथा इसी प्रकार बिना प्रयोजन के और काम करना। ये सभी काम त्याग देने चाहिये। इसी प्रकार कुत्ता, बिल्ली, नेवला आदि हिंसक जानवर भी नहीं पालने चाहिये। इस सबका प्रयोजन यह है कि हमारी हर प्रवृत्ति संयत, नियंत्रित और विवेकपूर्ण रहनी चाहिये।

इस व्रत का पालने वाला शस्त्रास्त्रों का कारखाना नहीं चलायेगा, शस्त्रास्त्रों का संग्रह नहीं करेगा, विष-बारूद आदि का कारखाना नहीं खोलेगा, न इनसे बनी चीजों का व्यापार करेगा। इसके अतिरिक्त वह वन जीविका, अग्निजीविका, दवप्रद (वन में, घास में आग लगाने का व्यापार), विष वाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, अनोजीविका (गाड़ी आदि बनाने, चलाने आदि का व्यापार), स्फोटजीविका (अतिशबाजी का व्यापार), भाटकजीविनो (घोड़ा, बैल आदि से बोझा ढोकर आजीविका करना), यन्त्र पीड़न (कोल्हू आदि का कार्य), निर्लांछन (बैल आदि के अवयवों के का छेदन द्वारा आजीविका) असतीपोष (हिंसक प्राणियों का पालन, दास आदि का व्यापार के लिये पालन-पोषण करना) सरः शोष (तालाब सुखाना) दन्त वाणिज्य, केश वाणिज्य और रस वाणिज्य (मधु, चर्बी और मद्य आदि का व्यापार करना) ये १५ खर कर्मों का भी त्याग करेगा क्योंकि इन कर्मों का सम्बन्ध हिंसा से है।

परिग्रह परिमाण व्रत में गृहस्थ समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का परिमाण करता है और उसके अतिरिक्त संसार का जितना भी

परिग्रह है, उसके प्रति वह निर्मोह, निष्काम हो जाता है। किन्तु परिग्रह का परिमाण आवश्यकतानुसार किया जाता है। आवश्यकताएँ सर्वत्र निश्चित नहीं हैं, इसलिये परिमाण करते हुए गृहस्थ प्रायः संभावनाओं का भी ध्यान रखता है अर्थात् संभावित आवश्यकताओं के कारण प्रतिदिन की आवश्यकता के परिमाण की अपेक्षा एक लम्बी अवधि के लिये परिग्रह का परिमाण अधिक ही किया जाता है। इसलिये परिग्रह परिमाणव्रत एक लम्बे काल के लिये होता है। किन्तु परिग्रह की जितनी भोगोपभोग सम्बन्धी सामग्री है, उस सबका तो भोग प्रतिदिन किया नहीं जाता। इसलिये जितनी का भोग किया जाता है, उसके अतिरिक्त भोगोपभोगों में उसकी अनावश्यक वासना रहती है। और इस वासना के कारण उसे व्यर्थ ही हिंसा लगती है। इसलिये यह आवश्यक है कि मन और इन्द्रियों के उचित नियमन के लिये गृहस्थ प्रतिदिन या नियत काल के लिये भोगोपभोगों का भी परिमाण कर ले और इस परिमाण के अतिरिक्त शेष भोगोपभोगों में वासना की संभावना भी समाप्त करदे। इसके लिये परिग्रह परिमाण व्रत के पूरक के रूप में भोगोपभोग परिमाण व्रत का विधान किया गया है।

भोगोपभोग परिमाण व्रत

इस व्रत के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख मिलता है [1] कि हिंसा भोगोपमूलक और निमित्तक होती है। हिंसा का त्यागी हिंसा-त्याग के उद्देश्य से भोगोपभोगों का यथाशक्ति त्याग करता है। इस तरह परिमित भोगों में सन्तुष्ट रह कर वह असंख्य भोगों का त्याग कर देता

१—पुरुषार्थ० १६१-१६२

है। इससे अपरिमित हिंसा का त्याग होने से उसकी अहिंसा अधिक निर्मल बन जाती है।

भोगोपभोग परिमाण का रूप यह है[1] कि गृहस्थ यह संकल्प करले कि अमुक भोग और उपभोग का सेवन मैं इतने समय तक ही करूँगा। अथवा यह कि अमुक भोग और उपभोग का मैं इतने समय तक के लिये त्याग करता हूँ। और त्याग किये हुये भोगोपभोगों की इच्छा तक मन में न आने दूँगा। इस प्रकार जीवन अत्यन्त नियमबद्ध और संतुष्ट बन जाता है।

भोगोपभोगों का त्याग यम और नियम अर्थात् जीवन पर्यन्त के लिये और नियत काल के लिये इस प्रकार दो प्रकार से किया जाता है। जीवन पर्यन्त के लिये जिन भोगोपभोगों का त्याग किया जाता है, उनमें मद्य, मांस और मधु की तरह ऐसे सभी पदार्थों का त्याग कर देना है, जिनमें त्रस घात और बहु स्थावर घात की संभावना या निश्चय हो, अथवा जो प्रमाद जनक, अनिष्ट और अनुपसेव्य हों।[2]

जिस व्यक्ति ने जीवन भर नियम और व्रतों के अनुशासन में रहकर आत्म-विजय का मार्ग प्रशस्त किया है, वह ऐसी दशा हो जाने पर[3]—

संल्लेखना या समाधिमरण

जब शरीर पतनोन्मुख हो जाय, आकस्मिक उपद्रव द्वारा मरण की आशंका हो जाय, ऐसा कोई असाध्य रोग हो जाय जिसका प्रतीकार बिलकुल असंभव हो गया हो और ऐसा भयंकर दुष्काल पड़ जाय, जिससे शुद्ध भोजन की व्यवस्था संभव न रह जाय, मृत्यु विजय

१—सागार धर्मामृत ५-१३
२— ,, ५, १४-१५
३—रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

के लिये अन्तिम अभियान करता है। इसके लिये वह धीरे-धीरे अथवा एकदम अन्न और जल का त्याग कर देता है। वह जीवन भर किये गये पापों का लेखा जोखा लगाता है और अत्यन्त पश्चाताप करता है। जीवन में उससे अनेक प्राणियों के प्रति जो अपराध हो गये हैं, उनसे वह मन में हृदय से क्षमा माँगता है और जिनके प्रति उसे आक्रोश रहा है, उनके प्रति समभाव धारण करता है और इस तरह वह अपने मन में समाई सभी गांठों और घुंडियों को खोल कर अपने मन का भार हल्का कर लेता है। अब उसे न मरने की इच्छा ही शेष रह जाती है और न मरण का भय ही उसे सताता है। अब तो उसे मरण काल की वेदना का भी अनुभव नहीं होता, क्योंकि उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर से हटकर आत्मा में केन्द्रित हो जाती हैं। यही *सल्लेखना या समाधिमरण कहलाता है।*

संसार में स्वार्थ को सभी हेय कहते आये हैं, किन्तु जो सबसे बड़ा परमार्थ है, वही तो स्वार्थ है। और ऐसे स्वार्थ की कब कौन निन्दा कर सका है। जीवन-भर जो परोपकार कर सके हैं, वे, सच मानिये, अपना ही तो उपकार करते रहे हैं। अपना उपकार न होता तो परोपकार की कौन प्रशंसा करता, कौन उसे धर्म अङ्गीकार करता। परोपकार की वृत्ति हमारे भीतर के क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार के दमन की इच्छा में से ही तो निपजी है। दमन की यह इच्छा ही तो हमारे अपने उपकार की भावना है। अगर हमारी कलुषित वृत्तियों का दमन न हो सका तो फिर परोपकार में ही क्या धर्म रह जायगा। अपने दम्भ और अहंता को जिससे बल मिलता हो, वह परोपकार श्लाघ्य है, ऐसा मानने का मन किसी का नहीं होगा। इसलिये ही जगत् में एक महा सिद्धान्त बना—'आदहिदं कादव्वं।'

अर्थात् आत्म-हित करना चाहिये।

इन्द्रियों और मन की वासना को जिससे पुष्टि मिले, इन्हें जिससे सुख मिले, वह 'आत्मा का हित' कभी नहीं माना जायगा। इस सुख के लिये इच्छा भी करना तो स्वार्थ कहलायेगा। किन्तु आत्मा को सुख मिले, उसके लिये प्रयत्न करना भी क्या स्वार्थ नहीं है! भौतिक सुखों को पाने की ललक जिस स्वार्थ में है, वह त्याज्य है और आत्मिक सुख को पाने की व्यग्रता जिस स्वार्थ में है, वह उपादेय है और ऐसा ही स्वार्थ जगत् का सबसे बड़ा सत्य है।

इसलिये हमें कहना चाहिये कि आत्म-हित के महान् आध्यात्मिक लक्ष्य को चरितार्थ करने के लिये जब मरण का काल निकट आ पहुँचे, मरण की संभावना आ उपस्थित हो, तब मृत्यु के जीतने की लालसा से सल्लेखना या समाधिमरण ले लेना ही मानव-जीवन की चरितार्थता है और यही मानव के लिये श्रेय है।[1] मृत्यु की यह विजय मृत्यु का टालना नहीं है, इसी जीवन में अमर होना नहीं है, बल्कि मृत्यु-विजय का अर्थ है मृत्यु के भय पर विजय। मृत्यु का कोई भय नहीं रह गया है, इसलिए ही इन्द्रिय और मन की सारी आकांक्षाओं का प्रतिरोध और दमन करने के लिये तैयार हो सका है। वह जीवन भर इन भौतिक आकांक्षाओं का प्रतिरोध के मार्ग से अल्पीकरण करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहा है। इसलिये अब अपने अन्तिम काल में अल्पीकरण न करके उन आकांक्षाओं और उनकी वासनाओं तक को समाप्त करने पर तुल गया है। ऐसी वीरोचित वृत्ति क्या आत्म-बल के बिना कभी संभव हो सकी है। आत्म-बल के सहारे ही तो स्वेच्छा से मृत्यु महो-

---

१—तत्वार्थ सूत्र अ० ७ सूत्र २२

त्सव करने चला है, फिर भी उसके मन में मृत्यु की न कोई कामना ही रह गई है और भय तो बिलकुल भी नहीं। वह तो बस निःसंग, संपूर्ण कामनाओं से रीता केवल आत्म केन्द्रित हो गया है।

और यहीं यह समझ लेना है। जीवन के दुःखों से, निराशाओं से घबरा कर जो मौत को ढूँढ़ते फिरते हैं, विष खाकर, मकान से कूद-कर, आग लगा कर, गोली मारकर, रेल की पटरी पर सोकर या फांसी खाकर जो मरते फिरते हैं, वह आत्मघात या आत्म-हत्या होती है। वह दुःखों को सह सकने की अक्षमता, निराशाओं को जीत सकने की अबलता और अधैर्य की मानसिक निर्बलता का परिणाम होता है। किन्तु सल्लेखना मृत्यु के भय और धैर्यपूर्वक दुःखों की विजय का नाम है और वह बड़े मनोबल और आत्म-बल द्वारा ही संभव हो पाती है। आत्मघात चूँकि अधैर्य के कारण होता है, इसलिए यदि एक बार वह बचा लिया जाय तो उसे अपनी भूल पर पश्चाताप तक होता है और ऐसे अधिकांश मामलों में प्रायः देखा गया है कि बचाये जाने पर ऐसे व्यक्ति फिर मृत्यु के नाम तक से काँप उठते हैं। वास्तव में वे अत्यन्त भीरू होते हैं और मानसिक दृष्टि से वे अत्यन्त निर्बल होते हैं। दूसरी ओर सल्लेखना में अविवेक, भीरुता, अधैर्य और निर्बलता यह सब कुछ भी नहीं होता। सल्लेखना तो वस्तुतः मृत्यु को खुली चुनौती है। इसलिये आत्म-घात और सल्लेखना में कोई समानता ही नहीं है।

यह व्रत तो वस्तुतः अहिंसा की साधना का एक आवश्यक अंग है। इसमें हिंसा के कारणभूत कषायों का निरोध किया जाता है। इसलिये सल्लेखना को अहिंसा ही बताया है।[1] आत्म-घात बिना

1—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय १७७ से १७९

कषायों के सम्भव नहीं है—अतः वह हिंसा है। इसलिये वह त्याज्य है।

सल्लेखना करने वाले व्यक्ति को प्रयत्न पूर्वक जीवन अथवा मृत्यु की इच्छा, अपने सम्बन्धियों और मित्रों में ममता, भावी जीवन में सुख की वांछा और अपने किसी सुकृत्य या तप के मूल्य पर कोई कामना ये सभी बातें छोड़ देनी चाहिये। तभी उसका यह व्रत सफल हो सकता है।

—६—

आहार-विहार में अहिंसक दृष्टि

जैन धर्म में अहिंसा की केवल सैद्धान्तिक व्याख्या ही पर्याप्त नहीं मानी गई है, उसका महत्व उसके व्यावहारिक उपयोग में बताया है।

जीवन शुद्धि के लिये अहिंसा की प्राथमिक शर्त-अष्ट मूलगुण

अहिंसा जीवन-शुद्धि की साधना है। जीवन-शुद्धि आचार और विचार, आहार और विहार सभी क्षेत्रों में अहिंसा के व्यवहार द्वारा ही संभव हो सकती है। यह स्वीकार करना ही होगा कि व्यक्ति का जैसा आहार होगा, उसके विचार और व्यवहार उसी प्रकार के होंगे। इसका अर्थ यह है कि यदि आहार हिंसा द्वारा निष्पन्न हुआ है, तो उस आहार द्वारा विचार भी हिंसक होंगे और व्यवहार भी निर्दयतापूर्ण होगा।

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि हमारा व्यवहार मनुष्य समाज के प्रति सहृदयता और सद्भावनापूर्ण हो, हम उनके सुख-दुःख में सहानुभूतिशील बनें, हमारे लिये यही पर्याप्त है। यदि हम इतना कर सकें तो हमारे लिये भोजन और पान में हिंसा-अहिंसा का विचार करने की क्या आवश्यकता है।

कुछ लोग इसी को दूसरे ढंग से कहते हैं। उनका उद्देश्य कुछ आक्षेपात्मक होता है। वे कहते हैं—एक ओर तो हम मनुष्यों का खून

चूसें, दूसरी ओर छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़ों को बचाने की हमारी वृत्ति हो तो अहिंसा का इससे बड़ा उपहास और क्या होगा। मनुष्यों के प्रति हमारा कर्त्तव्य पहले है, कीड़े-मकोड़ों की अहिंसा तो बहुत बाद की चीज है।

ऐसे लोगों में कुछ कीड़े-मकोड़ों के प्रति अहिंसक भावना का उपहास करके उस अहिंसा के पालन से बचने का केवल प्रयत्न ही नहीं करते, बल्कि मनुष्यों के प्रति अपने व्यवहार में भी वे ईमानदारी और अहिंसक व्यवहार के प्रति अविश्वास प्रगट करने में भी नहीं चूकते। कीड़े मकोड़ों और छोटे जीवों के प्रति अहिंसा हो नहीं सकती और मनुष्यों के प्रति अहिंसक व्यवहार कर नहीं सकते, इस प्रकार कह कर वे अपनी असमर्थता के कारण अहिंसा से केवल बचने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे अशक्त लोग यदि किसी की भावना और व्यवहार के प्रति आक्षेप करते हैं तो वे अहिंसा के उद्देश्य को ही हानि पहुँचाते हैं। वे स्वयं अहिंसा का पालन नहीं करते और पालने वालों का उपहास करके उन्हें अहिंसा के प्रति अनुत्साहित करते हैं

किन्तु जिन लोगों की अहिंसा में गहरी निष्ठा है, और जो अहिंसा का प्रारम्भ मनुष्य जगत् से करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, वे भी छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की रक्षा को अव्यवहार्य, अनुपयोगी और निरर्थक तो कहते नहीं। उनके कहने का उद्देश्य तो केवल इतना ही है कि सूक्ष्म जीवों की रक्षा का काम मनुष्यों के प्रति हमारे व्यवहार के बाद का है।

निश्चय ही ऐसे लोगों की नीयत में सन्देह का कोई कारण नहीं है। वे लोग अहिंसा को अधिक व्यावहारिक बनाना और देखना चाहते हैं। किन्तु उन्हें यह मनोवैज्ञानिक तथ्य नहीं भुला देना

चाहिये कि मनुष्यों के प्रति सद्भावपूर्ण व्यवहार मन की कोमल भावनाओं द्वारा ही संभव हो सकता है और मन की भावनायें कभी कोमल नहीं बनी रह सकतीं, यदि हम मनुष्येतर प्राणियों के प्रति क्रूर बने रहे। मन की कोमलता सदय वृत्ति द्वारा ही संभव हो सकती है। दया का ही तो दूसरा नाम कोमलता है। यदि हम जानते बूझते भी एक ओर जीवों के मरने की चिंता न करें, उन्हें मरते रहने दें और दूसरी ओर हम मनुष्य के प्रति अपना व्यवहार सदय रखने की बात करें, तो यह बन नहीं सकेगी। व्यवहार में करुणा रहे तो वह मन की करुणा के बिना रह नहीं पायेगी। इसलिये मनुष्यों के प्रति सद्भाव जगाये रखने के लिये मन में करुणा जगाये रखनी होगी और इसके लिये यह आवश्यक शर्त होगी कि हमारे खान-पान में ऐसी वस्तुएँ न हों, जिनमें प्रत्यक्ष जीव दिखाई पड़ रहे हैं, या जिनमें सूक्ष्म जन्तुओं के होने का विश्वास है।

हिंसा के त्याग और अहिंसा के पालन का जिनका संकल्प तीव्र है, वे दो इन्द्रिय वाले त्रस जीवों से लेकर मनुष्यों तक के साथ ऐसा व्यवहार करेंगे, जिससे उनको किसी प्रकार का कष्ट न हो। जान-बूझकर वे उन्हें मारेंगे नहीं, कष्ट नहीं देंगे। अहिंसा के इन श्रद्धालुओं के लिये पहली शर्त है कि वे पाँच अणुव्रतों के साथ मद्य, मांस और मधु तथा पाँच उदम्बर-फलों का त्याग करें। मद्य,[1] मांस मधु और पाँच उदम्बर फलों के त्याग में दृष्टिविन्दु यही है कि इन पदार्थों में त्रस जीव होते हैं। इनके उपयोग से उनका हनन हो

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ६१। सागार धर्मामृत २-२।
सावयधम्म दोहा २२। रत्न करण्ड श्रावकाचार ३-६६, ४-८४।

जाता है।

मद्य, मांस, मधु तथा पाँच उदम्बर फल या क्षीरि फलों का त्याग ये तो अहिंसा के स्कूल में प्रवेश पाने की शर्तें हैं। वास्तव में इन वस्तुओं का नियमबद्ध त्याग अहिंसा के पालन की भूमिका है। जैन[1] वाङ्मय में तो इन वस्तुओं का त्याग उन व्यक्तियों के लिए भी आवश्यक बताया है, जिनके कोई अहिंसा सम्बन्धी विशेष व्रत नहीं है, जो निर्बल हैं, जिनकी मानसिक पृष्ठभूमि अहिंसा की कठिन साधना की दृष्टि से कमजोर है।

यहाँ इन वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक लगता है।

मद्य से मन में नशा उत्पन्न हो जाता है। नशा होने से व्यक्ति धर्म भूल जाता है और धर्म भूलकर वह हिंसा करने में निःशंक प्रवृत्त हो जाता है। मद्य वास्तव में अनेकों प्राणियों का रस खींचकर बनाई जाती है। इसलिए मद्य बनाने में उन सब प्राणियों की हिंसा हो जाती है। इस प्रकार की मद्य पीने से अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, रति, शोक, काम और क्रोध उत्पन्न होते हैं और ये सभी हिंसा के ही पर्याय हैं। इस तरह मद्य-पान से घोर हिंसा होना निश्चित है।[2]

मद्य

मद्य[3]-पान करने के बाद जब व्यक्ति को नशा हो जाता है तो वह अपने होश-हवाश खो देता है। उसे किसी प्रकार का विवेक, सोचने

१—रत्नमाला। पंचाध्यायी।

२—पुरुषार्थ० ६२ से ६४। अमित गति श्रा० ५-६

३—वसुनन्दि श्रावकाचार ७०

समझने की बुद्धि नहीं रहती। वह यह निर्णय करने की स्थिति में नहीं रहता कि उसे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये; क्या उसके हितों के अनुकूल है और क्या विरुद्ध है। वह एक प्रकार से अवश और असहाय हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह घोर दुष्कर्म कर डालता है और उनसे उसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

वह विवेक[1] खोकर दुराचार में प्रवृत्त हो जाता है। कोई पाप उनके लिए अकरणीय नहीं रह जाता। वह कभी क्रोधोन्मत्त हो उठता है तो बिना समझे-बूझे हत्या तक कर डालता है। कामोन्माद के वशीभूत होकर वह व्यभिचार में प्रवृत्त हो जाता है। वेश्यागामी बन जाता है। इसी प्रकार वह अन्य पाप करने में भी कोई संकोच नहीं करता।

मद्य[2] न केवल जीवित जन्तुओं का खींचा हुआ रस है, बल्कि उसमें बाद में भी असंख्य जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तक बताया गया है कि मद्य की एक बूँद में इतने जीव होते हैं कि यदि वे निकल कर चारों ओर फैल जायें तो उनसे सारे लोक भर जायें।

मद्य संसार में कब प्रचलित हुई, यह तो निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। प्राचीन साहित्य के अनुशीलन से केवल इस बात का पता अवश्य लगता है कि आर्य लोग सोम-पान किया करते थे। वे यज्ञ करते समय अपने देवताओं के लिए इसे अर्पण करना एक आवश्यक कर्त्तव्य मानते थे। किन्तु यह सोम-रस क्या था, इस सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान नहीं हो सका। कुछ विद्वानों की सम्मति में प्राचीन काल

१—सागार धर्मामृत २-४, २-१०।
२— ,, २-४

में सोम लता होती थी। इसी का रस खींचकर विशेष प्रणाली से एक प्रकार की मद्य तैयार की जाती थी, जिसे सोम-रस कहा जाता था। उपनिषद् काल से पहले वैदिक आर्यों का दृष्टिकोण आधिदैविक था। उनका लक्ष्य केवल स्वर्ग था, निःश्रेयस नहीं। अतः वे मद्य-पान करते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु लगता है—सोम-रस यदि मद्य ही था तो वह अधिक मादक नहीं था। क्योंकि सोमरस की निन्दा हमें वहाँ भी देखने को नहीं मिलती, जहाँ मद्य की निन्दा की गई है।

किन्तु हमारी मान्यता है, मद्य की निन्दा सभी धर्म-शास्त्रों में की गई है और उसके अनिष्टकारी परिणामों का सविस्तर विवरण देकर उसके त्याग की ही प्रेरणा की गई है। महाभारत-युग में तेजस्वी यादव-कुल का कारुणिक विनाश मद्य-पान का ही परिणाम था। मद्य-पान के भीषण अनिष्टकारी परिणाम से कृष्ण और बलराम जैसे समर्थ महापुरुष भी अपने प्रियजनों और अपने शक्तिशाली यादव गणतन्त्र को न बचा सके और एकप्रकार से यादवों का वर्चस्व, यहाँ तक कि अस्तित्व तक इतिहास से सदा के लिये लुप्त हो गया। यही एक उदाहरण मद्य-पान के विनाशकारी परिणाम जानने के लिये काफी है।

धर्म-शास्त्रों और इतिहासों के पृष्ठों पर, मद्य-पान से कलह, संघर्ष, दुराचार, धन हानि, विनाश हुआ, इसप्रकार के उदाहरण अनेक मिलेंगे, किन्तु उससे कोई निर्माण या उपयोगी कार्य हुआ, इसका उदाहरण एक भी नहीं मिलेगा। उसका कारण है। मद्य-पान के बाद व्यक्ति अपनी संज्ञा और विवेक खोकर जब बेहोश हो जाता है, तब उसकी क्या दुर्दशा होती है, यह प्रतिदिन हमारे देखने में आता है। वह नालियों तक में गिर पड़ता है। कुत्ते उसका मुख चाटते हैं, कभी-कभी उसके ऊपर मूत्र तक कर जाते हैं, वह पड़ा-पड़ा उसके स्वाद में तृप्ति अनुभव

करता रहता है। कितनी हो जाती है उसकी दयनीय दशा?

मद्य-पान का प्रारम्भ दो प्रकार से होता है--(१) व्यक्ति को जब गहरी निराशाओं का, दुर्भाग्य की ठोकरों का सामना करना पड़ता है, वह उन्हें सहने और उनका प्रतीकार करने में असमर्थ हो जाता है, उसे अपने में दुःखों से मुक्ति का कोई उपाय नहीं दीखता, तब वह मद्य पीकर उन्हें कुछ देर के लिये भुलाने का प्रयत्न करता है। और इस तरह धीरे-धीरे वह मद्य का अभ्यस्त हो जाता है। तब वह निरन्तर मद्य में अपने को डुबोये रखना चाहता है। (२) जब व्यक्ति ऐसी सोसायटी या संगति में जा पहुँचता है, जिसमें मद्य-पान का प्रचलन है। मित्र उसे मद्य पीने की प्रेरणा करते हैं, आग्रह करते हैं और फिर विवश करते हैं। वह मित्रों के आग्रह को टाल नहीं पाता और इस तरह प्रारम्भ में बाध्य होकर मद्य पीता है। इस बाध्यता में वह न केवल अपने संस्कारों को ही कुचलता है, बल्कि मद्य गले से नीचे उतरने पर वह जिस पीड़ा का अनुभव करता है, गला गलता हुआ और छाती कटती हुई मालूम पड़ती है, उस कष्ट को भी वह सह जाता है। मित्रों का दूसरे दिन भी आग्रह होता है, तीसरे दिन भी होता है। उसे संस्कारवश जो एक प्रकार का संकोच और भय था, वह धीरे-धीरे कम होता जाता है, वह पहले पीते समय जिस पीड़ा का अनुभव करता था, वह उसे धीरे-धीरे कम अनुभव होती जाती है। और इसी तरह धीरे-धीरे अभ्यस्त होता जाता है और फिर तो वह मद्य में डूबा रहना चाहता है।

इन दोनों ही दशाओं में व्यक्ति प्रारम्भ में साधारण से व्यय से ही अपनी तृप्ति कर लेता है। किन्तु मद्य की प्यास जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वह उसकी शान्ति के लिये अधिकाधिक व्यय करने लगता है। मद्य

पीकर उसको उत्तेजना आती है, काम-वासना बढ़ने लगती है, उसकी शान्ति घर पर नहीं हो पाती, हो भी नहीं सकती। अतः उसे बाध्य होकर वेश्याओं के यहाँ जाना पड़ता है। वेश्याओं के संग उसे मांस आदि भी खाना पड़ता है। अधिक व्यभिचार से उसे रोग भी हो जाते हैं, शरीर क्षीण होने लगता है तो वह उपचार कराता है और अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिये कामोत्तेजक और स्तम्भक औषधियों का सेवन करना पड़ता है। इस तरह मद्य, व्यभिचार और औषधियों के लिए उसे धन पानी की तरह बहाना पड़ता है। और धीरे-धीरे उसका कोष समाप्त होने लगता है। तब वह अपनी पत्नी, माता-पिता और दूसरे कुटुम्बी जनों को धन देने के लिये बाध्य करता है। न देने पर मार पीट करता है। इस तरह घर में दिन रात संघर्ष, मारपीट और अशान्ति रहने लगती है। वह जो आग निगलता है, उस आग में न केवल वह ही जलता है, बल्कि उसकी ज्वाला में उसका परिवार भी जलने लगता है। व्यय की मोरी खुल जाने और आय का स्रोत बन्द हो जाने से घर का सारा धन नष्ट हो जाता है। परिवार भूखों मरने लगता है। वह भूखों मरने लगता है। तब अपने व्यसन की पूर्ति के लिये वह चोरी करने पर बाध्य हो जाता है और इस तरह चोरी भी उसका एक व्यसन हो जाता है। तब उसे राजदंड भोगना पड़ता है। इस प्रकार मद्य-पान अपने साथ संसार की सारी बुराइयाँ लाता है। मद्य-पान के द्वारा अनेकों परिवारो को नष्ट होते, कलह में दिन रात घुटते हुये और ऊब कर आत्म-हत्यायें करते हुए हम प्रतिदिन देखते सुनते हैं।

कुछ लोग कहते सुने जाते हैं-मद्य-पान के ऐसे दुष्परिणाम ठर्रा तथा दूसरी घटिया किस्म की शराबों से होते हैं, बढ़िया रम, शैंपियन

आदि शराबों से इस प्रकार की घटनायें नहीं होतीं। दूसरी बात यह है कि अति सर्वत्र वर्जनीय है। रोटी की अति भी दुर्घटना कर सकती है। इसलिये यदि शराब कम मात्रा में या दवा के रूप में ली जाय तो उससे कोई हानि नहीं होती, बल्कि शरीर स्वस्थ और फुर्तीला बने रहने में उससे सहायता ही मिलती है।

संभवतः इसी भावना से आजकल मद्य उच्च वर्ग अर्थात् उच्च शिक्षित और उच्च अधिकारी वर्ग के दैनिक जीवन की आवश्यक अंग बन गई है और सोसाइटी और पार्टियों में अनिवार्य बन गई है। यहाँ तक कि सरकारी पार्टियों में जामे सेहत पीने के लिये मद्य आवश्यक तौर पर स्थान पा जाती है। आज के होटल और रैस्टोरेण्ट शराब खाने बन गये हैं। फौज के अफसर और इंजनों के ड्राइवर शराब के बिना काम नहीं कर सकते। और फिर यूरोप का तो यह पेय ही बन गया है। फ्रांस में तो कहते हैं—प्यास बुझाने के लिये पानी अगर ३० प्रतिशत काम में आता है तो शराब ७० प्रतिशत तक चलती है। वस्तुतः मद्य यूरोप की सभ्यता बन गई है और उस सभ्यता में जो भी रंगे हुए हैं, उनके लिए यह जीवन का अपरिहार्य अंग बन चुकी है।

किन्तु मद्य यूरोप में स्थान पा सकी है, इसीलिए उसमें से सारे दोष निकल गये, यह कोई तर्क नहीं है। यूरोप वालों ने मद्य को स्वीकार किया, इसका कारण खोजने हमें दूर नहीं जाना पड़ेगा। यूरोप का दृष्टिकोण भौतिक है। वह भौतिक सुखों को ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानता है और उसी के वह साधन जुटाता है। उसकी नैतिकता धर्म के सिद्धान्तों पर नहीं खड़ी है, वह खड़ी है सोसाइटी के नियमों के ऊपर। इसीलिए अगर उसकी सोसाइटी में स्त्रियों का अर्धनग्न दशा में किसी भी पुरुष के साथ सहनृत्य और सहवास अनैतिक

नहीं माना जाता, जबकि वह आध्यात्मिक जगत् में कभी उपादेय स्वीकार नहीं किया जा सकता। यही बात मद्य के सम्बन्ध में है। मद्य उत्तेजना देती है; वह सम्भोग सम्बन्धी शारीरिक क्षमता को बनाये रखती और बढ़ाती है, मद्य-पान का मूल यह है और संभवतः इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

किन्तु जिसका नैतिक उद्देश्य संदिग्ध है, अनैतिकता को जिससे प्रोत्साहन मिलता है, वह किसी देश या व्यक्ति के अंगीकार करने से ही स्पृहणीय नहीं बन जायगी। वह अनेक प्राणियों की हिंसा से निर्मित हुई है, इसको लक्ष्य से दूर नहीं किया जा सकता। इसीलिए अहिंसा में जिसकी आस्था है, वह मद्य का सेवन नहीं करेगा, किसी दशा में भी नहीं, स्वास्थ्य के लिए भी नहीं।

अहिंसा के प्रति जिनकी निष्ठा है, वे मांसाहार का अवश्य त्याग करेंगे। अहिंसा के लिए मांस-त्याग आवश्यक शर्त है। मांस बिना

मांस

हिंसा के उत्पन्न नहीं होता। अतः मांस-भक्षण में हिंसा का पाप अनिवार्य है।[1] जो व्यक्ति मांस भक्षण करते हुए करुणा का आडम्बर करते हैं, निश्चय ही वे आग में दग्ध करके बेल को बढ़ाना चाहते हैं। मांस कभी प्राणी-घात के बिना संभव ही नहीं है। दया के बिना पुण्य-संचय नहीं होता और दया है तो मांस-भक्षण की कभी प्रवृत्ति नहीं होगी। वस्तुतः जो मांस-भक्षण करता है, उसी को हिंसा का पाप नहीं लगता, अपितु जो मारता है, जो पकाता है, जो बेचता है, उन सबको ही हिंसा का पाप लगता है।

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ६५

मांस-भक्षण के निषेध में मुख्य कारण प्राणी-हिंसा है। किन्तु मांस में केवल उस प्राणी की ही हिंसा नहीं हुई, जिस प्राणी का वह मांस है, अपितु उसके कारण असंख्य प्राणियों की हिंसा हुई, क्योंकि मांस में प्रतिक्षण सूक्ष्म प्राणी उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार मांस के एक ग्रास में भी असंख्य प्राणियों की हिंसा होती है।[1]

कुछ लोगों की मान्यता है कि किसी सजीव प्राणी की हत्या से प्राप्त मांस में हिंसा का पाप होता है। अतः वह न ग्रहण करना चाहिये। किन्तु अपने आप मरे हुए प्राणी के मांस-भक्षण में तो कोई दोष नहीं क्योंकि वहाँ किसी प्राणी का घात नहीं करना पड़ा।[2]

इस मान्यता की ओट में अनेकों व्यक्ति मांस-भक्षण करने में कोई दोष नहीं समझते। किन्तु वे जिस हिंसा से बचना चाहते थे, वह मांस भक्षण से रुक न सकी। उनकी दृष्टि केवल एक प्राणी की हिंसा बचाने की ओर तो रही, किन्तु कच्चे या पके मांस में प्रति समय जो जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, उनकी हिंसा की ओर नहीं गई।

मांस-भक्षण का निषेध अहिंसा को धर्म स्वीकार करने वाले सभी धर्मों ने किया है।

हिन्दू शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि मद्य-माँस, मधु और नवनीत में असंख्य जीव राशि उत्पन्न होती और मरती रहती[3] है।

१—अमितगति श्रावकाचार अ० ५ श्लोक १३ से १६। वसुनन्दिश्रा ८५। सागार धर्मामृत अ० २ श्लो० ८ से १० और अ० ३ श्लोक १२। पुरुषार्थ सि० ६७ से ८२

२—पुरुषार्थ सि० ६६। सागार ध० २-७

३—नागपटल

'जिसका मैं मांस खा रहा हूँ; वह परलोक में मेरा मास खायगा। 'मांस' का यही अर्थ है।[१]

'जो जीवन पर्यन्त किसी प्रकार का मांस नहीं खाता, उसे स्वर्ग में विपुल स्थान प्राप्त होता है। यदि मांस भक्षण करता है तो सारे जाप्य, होम, नियम, तीर्थ स्थान व्यर्थ हैं।[२]

'जिस धर्म में मांस और मद्य सेवन का विधान है, वह धर्म केवल नरक के लिये होता है[3]।

'मांस हिंसा प्रवर्तक है, अधर्म का वर्धक है, दु:ख का उत्पादक है। अतः मांस का त्याग करना ही उपयुक्त है।[४]

'वेष और लिंग धारण करने से क्या लाभ और शिर मुड़ाने से भी क्या प्रयोजन है, यदि मांस-भक्षण करते हो। यह सब तो निरर्थक है।[५]

ईसाई-धर्म की पवित्र पुस्तक वाइविल में मांस का निषेध किया है। सृष्टि की आदि में प्रथम स्त्री पुरुष आदम और ईव (हव्वा) को उपदेश देते हुए खुदा ने कहा—देखो, मैंने तुम्हें प्रत्येक पौधा वीज उत्पन्न करने वाला और वृक्ष फल देने वाला दिया है। ये ही तुम्हारे लिये आहार होंगे।[६]

एक बार ईसाइयों को मांस-भक्षण करते हुए देखकर ईसामसीह

१—मनुस्मृति अ० ५

२—विष्णुपुराण

३—नारद

४—महाभारत शान्ति पर्व

५—महाभारत शान्ति पर्व

६—Behold, I have given you every herb bearing seeds and trees giving fruits, they shall be your meat.

बहुत क्षुब्ध हुए। जब मांस उनके दाँतों में था, यकायक परमेश्वर का कोप लोगों पर टूट पड़ा और बड़ी भारी प्लेग फैल गई।

. इसी प्रकार इस्लाम में भी मुहम्मद साहब ने फरमाया है कि मक्के शरीफ की यात्रा को जाओ, तब से वहाँ से जब तक वापिस न आजाओ, रोजे रक्खो, जानवरों को मत मारो और जो धर्म के खास दिन हैं, उनमें मांस मत खाओ।

इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से मांस-भक्षण का निषेध सभी धर्मों में पाया जाता है।

किन्तु मांसाहार के सम्बन्ध में यदि नीतिशास्त्र, वैज्ञानिक, आर्थिक सौन्दर्य, स्वास्थ्य, शक्ति आदि जिस भी दृष्टिकोण से विचार करें तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मांसाहार त्याज्य है।

नीति शास्त्र (ethical ground) के आधार पर विचार करें तो नीति शास्त्र की मान्यता है कि हमें किसी के प्राणों को अपने भोजन के लिये जुदा करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है। नीति शास्त्र तो निर्बल प्राणियों की रक्षा और मानव तथा मानवेतर प्राणियों के बीच मैत्री-बन्धन पर बल देता है। इस स्थिति में एक ओर पशु-पक्षियों से प्रेम का दावा करना और दूसरी ओर उनको अपने भोजन के लिये मारना यह तो एक असंगति ही होगी।

विज्ञान—वैज्ञानिक अपने लम्बे अनुभवों और अनुसन्धानों के फलस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य का शारीरिक ढांचा ही शाकाहार के उपयुक्त निर्मित हुआ है। वह न तो मांस भक्षी है और न सर्वभक्षी है। उसकी पाचक लाला और खाने की रगें जानवरों के मांस को ठीक तौर पर नहीं पचा सकतीं। यही कारण है कि प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य ने मांस-भक्षण द्वारा अनेकों रोगों को निमंत्रण दिया है और

मांस-भक्षण के फलस्वरूप कैंसर, रक्तचाप, गठिया, वातरोग आदि रोग बढ़ गये हैं।

शरीर-विज्ञान—पशुओं में दो प्रकार की जातियाँ हैं—एक मांसाहारी और दूसरी शाकाहारी। इन दोनों प्रकार के पशुओं की शारीरिक रचना का सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन करने से कुछ रोचक निष्कर्ष निकलते हैं। मांसाहारी पशुओं के नाखून पैने होते हैं, जबड़े लम्बे होते हैं, दाँत नुकीले, तेज और विषम होते हैं। मांसाहारी पशु पानी को जीभ से चाट २ कर पीते हैं। जैसे सिंह, चीता, भेड़िया, कुत्ता, बिल्ली आदि। दूसरी ओर शाकाहारी जानवरों के नाखून चपटे होते हैं, जबड़े गोल होते हैं, दाँत छोटे, बिना धार के और पास-पास बराबर पंक्ति में होते हैं। शाकाहारी पशु पानी को होठ टेककर पीता है। प्रकृति ने इस प्रकार स्वयं ही मांसाहारी और शाकाहारी पशुओं में शारीरिक अन्तर कर दिया है।

मनुष्य की शारीरिक रचना भी शाकाहारी पशुओं जैसी है। न कि मांसाहारी पशुओं जैसी। इसके अतिरिक्त उसकी पाचन-शक्ति, खाल और शारीरिक अवयवों की बनावट भी शाकाहारी पशुओं जैसी है। बन मानुस मनुष्य के समान है। उसके दाँतों की संख्या और बनावट मनुष्य से मिलती-जुलती है। वह भी शाकाहारी है। यह भी एक आश्चर्य की बात है कि प्रकृति ने जानवरों की तरह मनुष्यों की मांसाहारी और मांसाहारी ये दो जातियाँ नहीं बनाईं। इसका अर्थ ही यह है कि मनुष्य को प्रकृति ने शाकाहारी नहीं बनाया। अतः मांसाहार करना प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करना है।

समाज-सुधार—समाज के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें शान्ति बनी रहे, निर्दयता और अत्याचार कम हों, नशाबन्दी

रहे, पापाचार न हों, किन्तु मांसाहार से अशान्ति, अनाचार, पापाचार और निर्दयता की वृत्ति बढ़ती है। मांसाहार में एक प्रकार का नशा भी होता है। मांसाहार के इन दुर्गुणों को आंकने के लिए हमें मांसाहारी और शाकाहारी पशुओं की तुलना से बड़ी सहायता मिलेगी। मांसाहारी पशु निर्दय, खून के प्यासे और झगड़ालू होते हैं। उनमें क्रोध जल्दी आ जाता है और वह काफी देर तक ठहरता है। जबकि शाकाहारी पशु शान्तिप्रिय होते हैं, वे सङ्घबद्ध होकर रह सकते हैं। उनमें क्रोध देर में आता है और जल्दी चला भी जाता है। यही बात मनुष्यों की है। बर्बरता, क्रूरता, खून की प्यास, क्रोध जितना मांसाहारी मनुष्यों में होता है, उतना शाकाहारी मनुष्यों में नहीं होता। अतः एक विकसित, सभ्य और शान्तिप्रिय समाज के निर्माण के लिये निरामिष भोजियों की आवश्यकता होगी, न कि मांस-भक्षियों की। क्योंकि मांस गरिष्ठ और उत्तेजक होता है। उससे न केवल क्रोध को ही उत्तेजना मिलती है, बल्कि काम-वासना को भी उत्तेजन मिलता है। और इससे अशान्ति, कलह, पापाचार और दुराचारों को प्रोत्साहन मिलता है, जो कि एक सभ्य, शान्त समाज-निर्माण के लिये अवांछनीय है।

आर्थिक—आर्थिक दृष्टि से भी मांस निरामिष भोजन की अपेक्षा महँगा पड़ता है। अर्थशास्त्रियों का अभिमत है कि एक व्यक्ति के उपयुक्त भेड़ों को पालने के लिए जितने स्थान की आवश्यकता होती है, उतने स्थान में दस व्यक्तियों के उपयुक्त अन्न उत्पन्न हो सकता है और कई गुने लोगों को रोजगार मिल सकता है। यह भी एक आर्थिक तथ्य है कि कृषि-उत्पादन की अपेक्षा पशु-पक्षियों का उत्पादन करने पर बल देने से बेकारी की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त अन्न की अपेक्षा मांस महँगा भी पड़ता है। तीसरे यह कि मांसाहार

की प्रवृत्ति का दुष्परिणाम यह होता है कि देश में पशुओं की संख्या में निरन्तर ह्रास होता रहता है। उसका दुष्प्रभाव खेती पर पड़ता है। खेती को पशुओं के मल-मूत्र, हड्डी आदि से जो प्राकृतिक खाद मिल सकता था, वह खाद इस ह्रास से मिलना बन्द हो जाता है। पशुओं के ह्रास से दूध, दही, घी आदि पदार्थ जनता को मिलने कम हो जाते हैं। इससे जनता को यह प्राकृतिक पोषक तत्व नहीं मिलने से उसके स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। दूध-घी आदि चिकने पदार्थ खाने से न केवल स्वास्थ्य ही सुधरता है बल्कि इससे अन्न की भी बचत हो जाती है। जब पशुओं के ह्रास के कारण दूध, घी आदि चिकने पदार्थ नहीं मिल पाते तो उसकी पूर्ति अन्न से करनी पड़ती है। इस तरह अन्न का व्यय बढ़ जाता है। यदि फी व्यक्ति एक तोला अन्न की दैनिक वृद्धि भी मान लें और भारत में मांसाहारी व्यक्तियों की संख्या २५ करोड़ भी मान लें तो इसका अर्थ हुआ कि भारत में ही ७८१२५ मन अन्न दैनिक अधिक व्यय होता है। इस हिसाब से २३४३७५० मन मासिक और २८१२५००० मन वार्षिक अन्न का अधिक व्यय होता है। इस तरह आर्थिक दृष्टि से मांसाहार शाकाहार की अपेक्षा अधिक महँगा और देश की आर्थिक व्यवस्था के लिये एक भार है।

सौन्दर्य—सूखी लाशों और खून से सने मांस के भोजन में और फल, शाकपात और अन्न की स्वच्छ, शुद्ध और स्वास्थ्य प्रद खुराक में सौन्दर्य की दृष्टि से बड़ा अन्तर है। मांसाहारी पशुओं के चेहरे देखने में भी क्रूर और भयानक लगते हैं, जबकि घास-पात पर जीवित रहने वाले पशुओं के चेहरों पर सौम्यता और शान्ति झलकती है। शेर और गाय, चीता और घोड़ा इनके चेहरों का अध्ययन करने पर यह अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यही बात मनुष्यों में देखने में आती है। मांसभक्षी

मनुष्यों की अपेक्षा शाकाहारी मनुष्यों में सौन्दर्य विशेष रूप में मिलता है।

स्वास्थ्य और शक्ति—मांस स्वास्थ्य और शक्ति देता है, यह मान्यता बहुत बड़ा झूठ है। शारीरिक शक्ति-प्रतियोगिताओं में प्रायः शाकाहारी ही विजयी होते रहे हैं। उनकी सहन शक्ति भी मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक होती है। शाकाहारी मांसाहारियों की अपेक्षा सिरदर्द, अपच, वातरोग, गठिया, रक्ताल्पता, तपेदिक, कैंसर आदि रोगों से कम आक्रान्त होते हैं। शाकाहारी व्यक्तियों की आयु भी अधिक होती है। संसार-विजेताओं, आध्यात्मिक महापुरुषों में अधिकांश निरामिष भोजी ही मिलेंगे। आज भी संसार में ठंडे और गर्म मुल्कों में करोड़ों व्यक्ति निरामिष भोजी मिलेंगे, जो जीवन में कठिन से कठिन परिश्रम करते हैं, जो अत्यधिक स्वस्थ हैं, जो गहरी नींद सोते हैं, जो अपने भोजन में अधिकतम आनन्द अनुभव करते हैं और जो बड़ी अवस्था तक सुख और शान्ति पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं।

भावना—भोजन तीन प्रकार का माना गया है—सात्विक, राजसिक तामसिक। जिस भोजन से मन में नैतिकता का उदय हो, दया क्षमा आदि सद्वृत्तियों का विकास हो, मन में हर्ष और स्फूर्ति हो, जैसे आटा, दाल, चावल, फल, मेवा, शाक भाजी आदि। जिस भोजन से मन में मान आदि के विचार उठें, पवित्र कार्य में उत्साह का अनुभव न हो, वह राजसिक भोजन है, जैसे अधिक खटाई, मिर्च वाले चटपटे सामान, चाट आदि। जिस भोजन से काम, क्रोध आदि भावनाओं का उदय हो, चोरी, स्त्री गमन आदि के विचार उत्पन्न हों, वह तामसिक भोजन है। जैसे माँस, मद्य आदि।

वास्तव में मांसाहार से मनुष्य की भावनाओं में क्रूरता और स्वार्थ

के भाव भर जाते हैं। वह अपने पेट के लिए कटने वाले पशु-पक्षियों की चीत्कारों से कभी द्रवित नहीं होता, अपितु उनकी पीड़ाओं से और उनको यन्त्रणा देने में वह आनन्द का अनुभव करता है। इससे उसकी कोमल वृत्तियाँ कठोरता में बदल जाती हैं। उसे अत्याचार करते हुए, दूसरे का अधिकार अपहरण करते हुए; यहाँ तक कि स्वार्थ के लिए मारणान्तिक पीड़ा देते हुए भी किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। भावनाओं का यदि भोजन से कुछ भी सम्बन्ध है, जो वास्तव में है, तो कहना होगा कि मांस भक्षण से भावनाओं में निर्दयता, क्रूरता और स्वार्थ अवश्य पनपेंगे। और यही अन्ततः युद्धों और विश्व की अशांति का मूल कारण होगा। आज जो लोग विश्व-शान्ति की बात करते हैं, पारस्परिक सद्भाव और सहृदयता की आवश्यकता पर बल देते हैं, वे यह क्यों भूल जाते हैं कि सद्भाव और सहृदयता का बीज उस भूमि में नहीं उपजेगा, जो मांसाहार के कारण कठोर और क्रूर बन चुकी है। इन भावों को जगाने और इस प्रकार विश्व-शान्ति लाने के लिए तो लोगों की मनोभूमिका सरल, आर्द्र और सम्वेदनशील बनानी होगी, जो केवल शाकाहार की विश्व-व्यापी मान्यता से ही संभव हो सकेगी। इस तथ्य को लोग आज भले ही न समझें, किन्तु इसे स्वीकार किये बिना विश्व शान्ति का स्वप्न साकार न हो सकेगा। वस्तुतः मांसाहार मानव की व्यक्तिगत रुचि का प्रश्न नहीं, विश्व-विनाश से इसका गहरा सम्बन्ध है, इसे जाने बिना मानव का कल्याण नहीं।

जो अहिंसा को अणुबमों और प्रक्षेपणास्त्रों का एक मात्र विकल्प मानते हैं और विश्व-शान्ति के लिये अहिंसा की अनिवार्यता पर जोर देते हैं, वे जब तक मांसाहार, अंडे मुर्गियाँ और मत्स्य-पालन के विरुद्ध

जोर नहीं देते, तब तक अहिंसा में उनकी आस्था है, यह मानने को जी नहीं चाहता। ऐसी स्थिति में उनकी अहिंसा मौखिक आदर्श बन कर रह जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

जो लोग जीवित और मृत पशु के मांस में भेद करते हैं, अथवा जो अंडों, मछलियां आदि को मांस की कोटि में नहीं गिनते, वस्तुतः वे मांस के त्यागी हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मांस तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के अतिरिक्त सभी जंगम प्राणियों के शरीर के चर्माच्छादित भीतरी भाग का नाम है। चाहे वह अंडे की शक्ल में हो अथवा रक्त से निर्मित एक लोथड़े के रूप में। वह सभी मांस है। जलचर, नभचर, और थलचर, जरायुज, अंडज और पोतज सभी प्राणियों के शरीर का पूर्व रूप अथवा पूर्णरूप मांस पिंड कहलाता है। उसमें कोई भेद नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः मनुष्य में मांस-भक्षण की वृत्ति उसकी निजी नहीं है, अपितु मनुष्य के रूप में उसके भीतर जो हिंस्र पशुता है, उसकी है। इस वृत्ति की संतुष्टि के लिये रोज विश्व में लाखों प्राणी मारे जाते हैं। प्राणियों की उन लाशों से अपना पेट भर कर क्या वे पेट को कब्रिस्तान नहीं बना रहे। प्राणियों की आहों और पीड़ाओं से भरा हुआ मांस वे कैसे खा लेते हैं और उससे वे जीवन में फिर किस सुख-शान्ति की आशा करते हैं।

अतः मांस, किसी रूप में हो, अंडे के रूप में, मांस के रूप में, या मछली के रूप में, सभी त्याज्य है। हर स्थिति में त्याज्य है।

गृहस्थ जीवन जिन आवश्यकताओं को लेकर खड़ा हुआ है, उनकी पूर्ति में निरन्तर उद्यमशील बने रहने की अपेक्षा जीवन शुद्धि के प्रयत्न करने में मानव जीवन की उपयोगिता स्वीकार की गई है। और मूलतः

इस शुद्धि का विनम्र प्रयत्न अहिंसा की उद्‌भावना में ही निहित है। अतः

मधु

एक गृहस्थ अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में और जीवन-शुद्धि के प्रयत्न में सन्तुलन बनाये रखने के लिये और शनैः शनैः इसी क्रम से अपनी इन्द्रियों और मन की दासता से मुक्ति पाने के लिये वह मद्य और मांस की तरह मधु (शहद) का भी सेवन नहीं कर सकता।

मधु दो प्रकार से निकाला जाता है। एक तो मधुमक्खियों के छत्ते को तोड़कर, छत्ते के नीचे आग लगाकर (जैसा कि ग्रामीण और निर्दय व्यक्ति प्रायः करते हैं)। इस प्रकार की निर्दय विधियों से मधुमक्खियों को भगा कर छत्ते में से सारा रस निचोड़ लेते हैं। इससे छत्ते के भीतर रहे हुये समस्त अंडों का विनाश हो जाता है। यह विधि अत्यन्त हिंसा पूर्ण है। असंख्य मधुमक्खियों और अंडों का विनाश करके प्राप्त किया हुआ मधु अहिंसक आस्था वाले व्यक्ति के लिये न केवल अभक्ष्य है, बल्कि वह तो अस्पर्श्य भी है। इस विधि से हिंसा तो होती ही है, पर द्रव्य के अपहरण अर्थात् चोरी के पाप का भी दोष लगता है क्योंकि मधु-मक्खियों ने अत्यन्त परिश्रम - करके एक-एक पुष्प से जो मधु संग्रह किया था, उसे बलात् अपहरण कर लिया जाता है। अतः यह स्पष्ट ही डाकाजनी है। इसके अतिरिक्त यह मक्खियों का उच्छिष्ट है। स्वास्थ्य और शुद्धि के सिद्धान्त की मान्यता है कि मक्खी गन्दे स्थानों पर बैठती हैं और अनेक अपवित्र पदार्थों एवं रोग के कीटाणुओं का संक्रमण करती हैं। अतः उनके उच्छिष्ट पदार्थ में वह अपवित्रता और वे रोग संक्रामक रूप लेकर आते हैं, जो मानव के स्वास्थ्य को चुनौती हैं। उस चुनौती का स्वीकार उस पदार्थ के परिहार

और परित्याग से ही संभव हो सकता है। इन्हीं दोषों के कारण धार्मिक जीवन के लिये मधु का त्याग आवश्यक बताया गया[1] है। यहाँ तक कि भेषज (दवा) के रूप में भी इसका प्रयोग निषिद्ध बताया गया है। जैन और जैनतर शास्त्रों में मधु की उत्पत्ति को ही हिंसा जनित नहीं बताया गया, अपितु उत्पत्ति के बाद भी उसमें असंख्य जीवों की उत्पत्ति मानी गई है।[2] उन असंख्य जीवों की हिंसा किये बिना उसका भक्षण किसी प्रकार सम्भव नहीं है। इसलिये मधु के सम्बन्ध में प्राचीन भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में एक बार यह धारणा जोरों से प्रचलित हो गई थी कि मधु के भक्षण में सात ग्रामों की हत्या का पाप लगता है[3] और उससे नरक के घोर दुःखों को सहन करना पड़ता है। मधु के विक्रेता ब्राह्मण को शूद्र माना है;[4] यहाँ तक कि मधु के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिये यहाँ तक कहा गया है कि मूत्र पुरीषादि रसों से विवर्धित और मुख की लार से उत्पन्न मधु को ब्राह्मण कैसे खा सकता है।[5] तथा भोजन में पड़ी हुई मक्खी को देखकर मनुष्य उसे छोड़ देता है तो आश्चर्य है कि वह मधु मक्खियों के अण्डों के निर्दयतापूर्वक निकाले हुए घृणित रस को कैसे पी जाते हैं।[6]

१—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ६९-७० । अमितगति श्रावकाचार अ० ५ श्लोक २७, २८, ३२ । वसुनन्दि श्रा० ८०-८२ । सागार धर्मामृत २-११ ।

२—नागपटल । मनुस्मृति अ० २, ६ ।

३—सागार धर्मामृत । अमितगतिश्रावकाचार । नागपटल । महाभारत । शंखस्मृति ।

४—अत्रिसंहिता पृ० ३७७ ।

५—नागपटल ।

६—वसुनन्दिश्रावकाचार ।

मधु निकालने की दूसरी विधि अपेक्षाकृत कम हिंसापूर्ण है। इस विधि में छत्ते में छेद कर दिया जाता है और नीचे बर्तन रख दिया जाता है, जिससे शहद निचुड़-निचुड़ कर बर्तन में इकट्ठा हो जाता है। आधुनिक मधु मक्खी पालन की विकसित विधि से तो अंडों और मक्खियों की हिंसा की सम्भावना और भी कम हो गई है। किन्तु इन सभी विधियों ने प्रत्यक्ष हिंसा की सम्भावना को भले ही कम कर दिया हो, किन्तु मधु में उत्पन्न होने वाले जीवों की हिंसा तो निर्मूल नहीं हो पाई और इस प्रकार हिंसा के पाप से बचना सम्भव नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त मक्खियों का शोषण, पर द्रव्यापहरण और उच्छिष्ट भोजन के दोष से भी नहीं बचा जा सकता।

सारांशतः मधु किसी भी विधि से निकाला गया हो और उसके भक्षण का ध्येय कुछ भी रहा हो, हिंसा की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता है। अतः मद्य और मांस की तरह वह भी त्याज्य है।

रात्रि-भोजन-त्याग

जैन परम्परा में रात्रि-भोजन त्याग पर विशेष बल दिया गया है। और रात्रि में अशन, पान, लेह्य और पेय सभी प्रकार के भोजन करने का निषेध किया गया है। इस त्याग में मुख्य दृष्टि यह है कि रात्रि-भोजन में हिंसा की अधिक संभावना है; रात्रि में भोजन करने में गृद्धता अधिक रहती है; सूर्य-किरणों से दिन में सूक्ष्म जन्तु नष्ट हो जाते हैं, किन्तु रात्रि में वे ही जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, अतः उनकी हिंसा अनिवार्य रूप में होती है[1]। अतः अहिंसा व्रत की

१—पुरुषार्थ सि० १२१ से १३४। अमितगति श्रा० ४७। सागार धर्मा० अ० २ श्लोक १४, अ० ४ श्लो० २४। यशस्तिलक आश्वास ७

रक्षा के लिये रात्रि-भोजन नहीं करना चाहिये।

रात्रि-भोजन-त्याग का महत्व प्रदर्शित करने के लिये कई शास्त्रकारों ने तो इसे छठवां अणुव्रत तक माना [1] है। तथा सामान्यतः उसे ग्यारह प्रतिमाओं में छठवीं प्रतिमा स्वीकार किया है।

जैन परम्परा में रात्रि-भोजन-त्याग का वही स्थान है, जो मद्य, मांस, शिकार आदि के त्याग का है। यही कारण है कि आज तक भी जैनों में यह मान्यता अक्षुण्ण बनी हुई है और जैन आज तक रात्रि भोजन नहीं करते, बल्कि रात्रि-भोजन न करना जैनों का एक विशेष प्रतीक चिन्ह बन गया है।

यहाँ एक घटना का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा, जिससे यह ज्ञात हो सकेगा कि प्राचीन काल से इसका क्या महत्व रहा है।

लक्ष्मण ने वनमाला नामक राजकुमारी से विवाह कर लिया और वे कुछ दिन उसके साथ महलों में रहे। किन्तु जब वे विदा होने लगे तो वनमाला वियोग की व्यथा से भर उठी। लक्ष्मण ने उसे सान्त्वना दी कि मैं शीघ्र ही तुम्हारे पास वापिस आ जाऊँगा। इसके लिये उन्होंने कई प्रकार की शपथें भी लीं। किन्तु वियोग की व्यथा से कातर वनमाला का मन आश्वस्त न हो सका। तब लक्ष्मण ने उससे कहा कि अगर मैं न आऊँ तो मुझे रात्रि-भोजन का पाप लगे। इस शपथ से वनमाला को तत्काल विश्वास हो गया।

इसी प्रकार हिन्दू शास्त्रों[2] में भी रात्रि भोजन का निषेध किया है।

धार्मिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त रात्रि-भोजन-त्याग स्वास्थ्य की

१—पूज्यपाद, अकलंक, चामुण्डराय, वीरनन्दी आदि।

२—महाभारत शान्ति पर्व। पद्मपुराण

दृष्टि से भी अत्यन्त उपयोगी है।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों का मत है कि दिन में सूर्य के कारण हृदय-कमल की तरह विकसित हो जाता है। उससे सारे स्रोत खुल जाते हैं। दिन में व्यायाम, सोचने-विचारने, और चित्त के विक्षिप्त होने के कारण शरीर की धातुयें क्लेद को प्राप्त नहीं होतीं, विकसित होती रहती हैं। उन विकसित अक्लिन्न धातुओं में पड़ा हुआ अन्न दूषित नहीं होता। रात्रि में स्रोतों के म्लान रहने से कोष्ठ में शरीर की धातुयें क्लेद को प्राप्त हो जाती हैं। उससे धातुओं में पड़ा हुआ आहार दूषित हो जाता है।[1]

भोजन के कम से कम तीन घंटे बाद सोना बताया गया है[2] तथा यह भी बताया गया है कि भोजन निश्चित समय पर ही करना चाहिये। नियत समय पर पाचन सम्बन्धी अंग अपना-अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, अग्नि उद्‌बुद्ध हो जाती है। उस समय आहार करने से इन्द्रियाँ और धातुयें तृप्त होती हैं।[3]

भोजन दिन में दो बार प्रातः और सायं करना चाहिये। आयुर्वेदिक दृष्टि से ये दो काल ही भोजन के लिये उपयुक्त बताये गये[4] हैं।

सुश्रुत ने भोजन के तत्काल बाद सोने का निषेध किया है।

१—चरक चि० अ० १५

२—डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा (स्वास्थ्य-विज्ञान पृ० २४५), श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर (स्वास्थ्य विज्ञान)

३—सु० सू० ४६-४६६। च० सू० २५ ४०।

४—सू० उ० अ० ६४।

इन तमाम उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भोजन के कम से कम तीन घंटे बाद सोना चाहिये। यदि रात्रि में भोजन किया जाय तो तीन घंटे का नियम कैसे पालन किया जा सकता है और बिना इसके पालन किये भोजन पचेगा नहीं।

इसके अतिरिक्त एक और बात है। 'सूर्य की किरणें और हवा ये रोगाणुनाशक हैं। इनके द्वारा जीवाणुओं की आर्द्रता नष्ट हो जाती है। जिससे उनकी वृद्धि बन्द होकर रोगोत्पादक शक्ति घट जाती है। इसके अतिरिक्त सूर्य की नील लोहातीत किरणें (Heat and ultra violet) और औष्ण्य के प्रभाव से वायुमंडलस्थ रोगोत्पादक जीवाणु मर जाते हैं या उनकी रोगोत्पादक शक्ति घट जाती है। आंत्रिक ज्वर के जीवाणु सूर्य किरणों से आध घण्टे से दो घण्टे में और राजयक्ष्मा के कुछ मिनटों से कुछ घण्टों में मर जाते हैं।'[1]

इसी प्रकार मच्छरों की अनेक जातियाँ हैं—एनोफिलीज क्यूलैक्स, स्टैगोमाया आदि। एनोफिलीज मलेरियावाहक मच्छर है, जो प्रायः मकानों, खेतों, तलैयों के पास मिलता है। क्यूलैक्स श्लीपद (Filariasis) रोग उत्पन्न करता है और स्टैगोमाया मच्छर पीतज्वर और डेंगू रोग पैदा करता है। ये दोनों प्रकार के मच्छर घरों में रहते हैं। इनमें पुरुष जाति के मच्छर तो प्रायः वनस्पति भोजी होते हैं किन्तु स्त्री जाति का मच्छर रक्त चूसता है। उसे अंडे देने के लिये रक्त की आवश्यकता होती है। यदि अंडे देने से पूर्व वे रक्त न चूस लें तो अंडे देने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो जाती है।

'साधारणतया सभी मच्छर रात्रि के समय में ही घूमते और काटते

१—डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर-स्वास्थ्य विज्ञान पृ० ३८३

हैं। किन्तु एनोफिलीज जाति के विशेषतया प्रकाश को पसन्द नहीं करते। इस कारण दिन में ये मच्छर कमरों में ऐसे स्थान को खोज लेते हैं, जहाँ पर प्रकाश बहुत कम पहुँचता है। वहाँ से वे रात्रि के समय भोजन की खोज में निकलते हैं। इसी समय स्त्री (मच्छर) पुरुष का रक्त चूसती है और शरीर में रोग के बीज प्रविष्ट करती है। इस कारण रोग की उत्पत्ति केवल रात्रि के समय ही होती है। दिन में रोग होने का कोई भय नहीं रहता[1]।'

स्वास्थ्य के इन अधिकृत विवरणों से स्पष्ट है कि रात्रि में भोजन करने पर इन कीटाणुओं और मच्छरों की भोजन पर बैठने की संभावना टाली नहीं जा सकती। ये कीटाणु अति सूक्ष्म होते हैं, जो केवल अणु-वीक्षण यन्त्र की सहायता से ही देखे जा सकते हैं। वे भोजन पर बैठ कर अपना विषैला प्रभाव छोड़ सकते हैं। उस भोजन को करने से वह विष या वे कीटाणु और मच्छर पेट में जा सकते हैं और अपना विष फैला कर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर सकते हैं।

इस तरह धार्मिक, वैज्ञानिक और स्वास्थ्य सभी दृष्टियों से रात्रि भोजन हानिकारक है।

जल में सूक्ष्म जीव होते हैं। जल की एक बूंद में ही इतने जीव होते हैं कि यदि वे सब उड़ने लगें तो सारा जम्बू द्वीप भर जाय[2]।

जल-गालन

उनकी रक्षा के लिये जल को छानना आवश्यक है। जल छानने के लिये एक शुद्ध मोटा वस्त्र चाहिये, जो कम से कम ३६ अंगुल लम्बा हो

१—डा० मुकुन्द स्वरूप वर्मा—स्वास्थ्य विज्ञान पृ० ४१५-६।

२—त्रिवर्णाचार ७ १६। प्रवचन सारोद्धार

और २४ अंगुल चौड़ा हो। इस प्रकार के वस्त्र को दुहरा करके जल को छान कर पीना चाहिये[1]। किन्तु जल छानकर कपड़े में जो जीव आजांय, उन्हें न तो कपड़े को उमेठ कर मार देना चाहिये और न उनको इधर उधर जैसे कुए के जीवों को नदी में और नदी के जीवों को कुए में डाल देना चाहिये, बल्कि उन्हें उसी जल में पहुँचा देना चाहिये, जिस जल के वे जीव हों[2]।

एक बार के छने हुए जल में एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनट पश्चात् फिर जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह लौंग आदि डालकर निर्जीव किये हुए जल में दो प्रहर बाद और उष्ण किये हुए जल में २४ घण्टे बाद पुनः जीव उत्पन्न हो जाते हैं[3]।

जैन परम्परा में रात्रि भोजन त्याग की तरह जल-गालन पर भी विशेष बल दिया गया है। फलतः जैनों में इसकी प्रवृत्ति आज तक चालू है। और पानी छान कर पीना भी जैनों का एक विशेष चिन्ह बन गया है।

आज भले ही हिन्दुओं में जल छानने की परम्परा जीवित न रही हो, किन्तु उनके धर्म-शास्त्रों में इसकी ओर अपने अनुयाइयों का ध्यान अवश्य आकृष्ट किया गया है।

'जल वस्त्र पूत पीना चाहिये[4]। मत्स्य वेधक एक वर्ष में जो पाप कमाता है, उतना पाप बिना छने जल को एक बार पीने में लगता

१—पीयूष वर्ष श्रावकाचार। धर्म संग्रह श्रा० ६-३४।
२—धर्म संग्रह श्रा० ६-३५
३—रत्नमाला ६१
४—मनुस्मृति अ० ६ श्लोक ४६

है।[1] मकड़ी के मुख से निकली जल की बूँद में भी इतने जीव हैं कि यदि वे भ्रमर के बराबर होकर उड़ने लगें तो तीनों लोक में न आवें।[2] तीस अंगुल लम्बे और बीस अंगुल चौड़े वस्त्र को दुहरा करके उससे छानकर जल पीवे। और उन जीवों को फिर पानी में ही पहुंचा दे।

इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से जल-गालन जीव-हिंसा से बचने का एक उपाय है। किन्तु स्वास्थ्य-विज्ञान के दृष्टिकोण से भी इसका अपना महत्व है। यदि सूक्ष्म दर्शक यन्त्र की सहायता से हम जल को देखें तो हमें उसमें असंख्य सूक्ष्म कीटाणु तथा धूल के कण दिखाई देंगे। मोतीभरा, हैजा, प्रवाहिका, अतिसार, पराजमी, कृमिजरोग, मन्दाग्नि इत्यादि रोग ऐसे ही जल के पीने से होते हैं जो दूषित हो। जल छान कर पीने से वे सूक्ष्म कीटाणु और रजकण निकल जाते हैं, जिससे इन रोगों का भय नहीं रहता।

वस्तुतः जल छानने से हानि तो कोई नहीं, लाभ ही है।

जिसने हिंसा-त्याग का नियम ले लिया है, वह अपने मनोरंजन या क्षुधा-निवृत्ति के लिये पशु-पक्षियो का शिकार कभी नहीं करेगा। शिकार तो संकल्पी हिंसा होती है। अतः संकल्पी हिंसा तो वह कभी नहीं कर सकेगा। शिकार में वास्तव में अनुकम्पा का अभाव होता है तथा परिणामों (भावों) में अतिक्रूरता आ जाती है। शिकारी जब शिकार खेलता है, तब उसमें उसकी कितनी आसक्ति रहती है, यह इसी से प्रगट है कि जब वह

शिकार-त्याग

१—लिंग पुराण

२—उत्तर मीमांसा

प्राणी उसकी गोली से मर जाता है तो वह शिकारी बड़ा प्रसन्न होता है और जब उसका निशाना चूक जाता है और शिकार भाग जाता है तो शिकारी को अत्यन्त मनः क्लेश होता है। यह हर्ष और विषाद ही उसकी आसक्ति बताने के लिये पर्याप्त है। फिर हिंसक भावनाएँ उस समय से ही प्रारम्भ हो जाती हैं, जबसे वह शिकार पर जाने की तैयारी करता है। वह योजना बनाना प्रारम्भ करता है—किस प्रकार अमुक पशु या पक्षी को मारा जाय, कहाँ बैठ कर मारा जाय, किसको साथ ले जाना ठीक होगा आदि। हिंसा सम्बन्धी ये विचार उसके शिकार खेलने के काफी समय बाद तक चलते रहते हैं। शिकार के बाद उसके विचार रहते हैं कि अमुक पशु या पक्षी बच गया, अमुक मर जाता तो कितना अच्छा रहता ! आदि।

यही हाल मछली का शिकार करने वालों का रहता है। एकाग्रता पूर्वक केवल हिंसा का ही क्रूर विचार मस्तिष्क में फिरता रहता है। संभवतः एक वधिक को इतना हिंसा का पाप न लगता होगा, जितना एक शिकारी को, क्योंकि वधिक की रौद्र वृत्ति कुछ समय ही रहती है, जब तक कि वह पशु को काटता है।; किन्तु शिकारी की रौद्र और क्रूर भावना का तो कोई अन्त ही नहीं है।

शिकार जैन वाङ्मय में सप्त दुर्व्यसनों में बताई गई है। ये सभी दुर्व्यसन त्याज्य हैं। शिकार का हिंसा से साक्षात् सम्बन्ध है। अतः उसका त्याग तो अहिंसा की प्रथम शर्त है।

त्याग योग्य पदार्थ

इसी प्रकार मद्य, द्यूत, मांस, वेश्या, चोरी, पर स्त्री गमन ये शिकार के अतिरिक्त छः और दुर्व्यसन हैं, जिनका त्याग हिंसा के परिहार के लिये आवश्यक है। इनके अतिरिक्त ऊमर, बड़,

पीपल, कठूमर और पाकर फलों का भी त्याग कर देना उचित है क्योंकि इन उदुम्बर फलों में कीड़े भरे रहते हैं जिनकी हिंसा हो जाती है।

आहार की वस्तुओं में अहिंसा सम्बन्धी इस सूक्ष्म विवेचन का उद्देश्य यह है कि व्यक्ति जो पदार्थ खावे, वह पदार्थ स्वच्छ हो, शुद्ध हो और जीव जन्तु हीन हो। आहार के सम्बन्ध में व्यक्ति को विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। विवेक के बिना कई बार अनर्थ की संभावना हो जाती है। खाने की सामग्री को अच्छी प्रकार शोधना, बीनना चाहिये, जिससे कोई जीव-जन्तु उसके साथ न मिल जाय। उसे इतने यत्न के साथ रखना चाहिये, जिससे जीव-जन्तु पड़ने की संभावना न रहे। भोजन की सामग्री सदा ढक कर रखनी चाहिये। खुली छोड़ देने से कई बार छिपकली और साँप तक दाल शाक में गिर पड़ते हैं और असावधानी से वे अपना विषाक्त प्रभाव दिखाते हैं। कई बार चींटियाँ, लटें, मक्खी, सुरसुरी आदि जन्तु विवेकहीनता और असावधानी के कारण भोजन सामग्री में पड़ जाते हैं। रात्रि-भोजन में कई बार ये जीव जन्तु दिखाई नहीं पड़ते। और बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसी प्रकार पानी के बर्तन सदा ढक कर रखने चाहिये, जिससे उनमें कोई कीटाणु, जीव जन्तु और रजकण प्रविष्ट न हो सकें। भोजन के बर्तन आदि भी सदा स्वच्छ रखने चाहिये।

सारांश यह है कि आहार का यह विवेक धर्म की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है और धर्म चूँकि परलोक की तरह इस लोक में भी सुख देने वाला है, अतः धर्म व्यक्ति के स्वास्थ्य का भी इस तरह आश्वासन देता है।

—७—

वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा की सार्थकता

अहिंसा का कायिक उपयोग और अहिंसा को आचार का आधार सिद्ध करने के बाद भी अहिंसा की उपयोगिता शेष रह जाती है।

वैचारिक अहिंसा की आवश्यकता

आचार और व्यवहार में अहिंसा की चरितार्थता सीमित रह जाती है, यदि उसे विचार का भी आधार न बनाया जाय। निश्चय ही इस ओर जैन परम्परा की दृष्टि गई है और जिस प्रकार उसने आचार में अहिंसा को उसकी पूरी व्यापकता के साथ विधि विधानों का रूप देकर अपना लिया है, उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में भी अहिंसा को उसके सम्पूर्ण रूप और भावनाओं के साथ अपनाया है और उसके लिये ठोस भूमिका और निश्चित रूप प्रदान करके वैचारिक हिंसा की सम्भावनाओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया है।

हमारे वाह्य व्रत-नियम-तपस्या और आचार के दूसरे समस्त विधान व्यावहारिक दृष्टि से तब तक हमारे लिये निरुपयोगी हैं, जब तक हम-में दो बातें न हों। प्रथम तो यह कि हममें दूसरों के विचार सुनने, दूसरों की बातें समझने की क्षमता हो, हममें दूसरों के विचारों में भी सत्यान्वेषण करने और उनके साथ सामञ्जस्य स्थापित करने की वृत्ति

हो। दूसरे यह कि हममें आत्मा के चरम विकास का अडिग आत्म-विश्वास हो।

आचारगत अहिंसा दूसरे प्राणियों की रक्षा-भावना को तो प्रोत्साहन देती है, किन्तु उससे हमारे मन में दूसरों के प्रति मैत्री नहीं जागती, करुणा भले ही जग जाय। अतः आचार के साथ-साथ विचारों में भी अहिंसा की उतनी ही आवश्यकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। विचारों में अहिंसा लाये बिना आचार की अहिंसा आडम्बर मात्र रह जाती है और उससे दम्भ भले ही उपज आवे, मन में कोमलता नहीं आती, नैतिकता नहीं आती और सच्चे मायनों में मानवता नहीं आती।

आज चारों ओर अहिंसा की बड़ी चर्चा है। जगत् में आज करोड़ों व्यक्ति मिलेंगे, जो अहिंसा का नाम लेकर जागते हैं और अहिंसा का नाम लेकर सोते हैं। यहाँ तक कि युद्ध की तैयारी करने वाले भी कभी-कभी एक हाथ में तलवार लेकर अहिंसा की दुहाई देते दिखाई देते हैं, किन्तु जगत् में अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती क्योंकि उनमें वैचारिक अहिंसा की कमी है, कमी क्यों अभाव है। तभी तो वे अपने विचारों से विरुद्ध विचारों के प्रति सदा असहिष्णु रहते हैं और इसलिये उनमें आत्म-विकास का दृढ़ आत्म-विश्वास नहीं होता। इससे वे दूसरे के द्वारा प्रदर्शित हिंसा की तो स्पर्द्धा अपनी पूरी शक्ति से करते हैं, किन्तु अहिंसा की स्पर्द्धा करने की कभी भावना नहीं होती।

भगवान् महावीर ने विचारों की इस हिंसा को दूर करने और अहिंसा को अधिक व्यावहारिक और लोक कल्याणकारी बनाने के लिए दो उपाय बताये थे। (१) अनेकान्तवाद और स्याद्वाद। (२) और आत्म-स्वातन्त्र्य पर आस्था। इनके सम्बन्ध में जैन परम्परा में विशाल

साहित्य ऐतिहासिक काल के पूर्व से आज तक लिखा गया है। यहाँ इन सिद्धान्तों पर संक्षेप में कुछ प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

संसार में पदार्थ अनन्त हैं, उनकी दशायें भी अनन्त हैं। उनके मुकाबिले हमारी अपनी दृष्टि सीमित है। फिर भी हम उनके बारे में कहते हैं, उनका वर्णन करते हैं। जैसे मैं वर्णन करता हूँ, दूसरा भी करता है, तीसरा और चौथा भी करता है। फिर भी सबके वर्णनों में अन्तर रहता है। एक वस्तु के वर्णनो में अन्तर रहता है। आखिर क्यों? उत्तर सरल है। विभिन्न व्यक्ति किसी वस्तु का वर्णन विभिन्न ढंगों से, विभिन्न दृष्टिकोणों से करते हैं। किन्तु क्या ये दृष्टिकोण गलत हैं? मैं दूसरे के दृष्टिकोण को गलत कहता हूँ, दूसरा मेरे दृष्टिकोण को गलत कहता है। किन्तु हम नहीं जानते कि जैसे मेरा दृष्टिकोण सत्य है, वैसे दूसरे का भी दृष्टिकोण सत्य हो सकता है। मैंने वस्तु के एक रूप को लेकर वर्णन किया, दूसरे को उस वस्तु में दूसरे रूप के दर्शन हुए। इसी तरह असंख्य व्यक्तियों को एक ही वस्तु के असंख्य रूपों के दर्शन हुए और वे उनका वर्णन अपने २ ढंग से करते हैं। किन्तु कौन कह सकता है कि वस्तु में वे असंख्य और अनन्त रूप नहीं हैं। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु में, द्रव्य में अनन्त रूप और अनन्त धर्म होते हैं। इसलिये जिस व्यक्ति ने जिस रूप के दर्शन किये, उसने उस रूप को कह दिया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि उस रूप के कह देने से शेष अनन्त रूप उसमें नहीं रहे। इस कारण वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। यही अनेकान्त कहलाता है।

अनेकान्त-वाद

यह विश्वास कर लेने के बाद कि वस्तु अनन्त धर्मात्मक, अनन्त रूपात्मक है; यह मानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ेगी कि उन तमाम

रूपों को मैं कह नहीं सकता। मेरी शक्ति सीमित है और मेरे वचनों की शक्ति भी मर्यादित है, वे भी एक बार में उन सारे रूपों को कह नहीं सकते। किन्तु उसका यह अर्थ तो कदापि नहीं कि मैं वस्तु के जिस एक रूप का वर्णन करता हूँ, केवल वही सत्य है, वस्तु के शेष रूप असत्य हैं। कहना यह होगा कि मैंने अपने किसी विशेष दृष्टिकोण से वस्तु के उस एक रूप का वर्णन किया, दूसरे ने अपने दृष्टिकोण से दूसरे रूप का वर्णन किया। दोनों के ही दृष्टिकोण सत्य हैं। अतः सत्य सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। ये विशेष दृष्टिकोण ही अपेक्षायें हैं, जिनके कारण हम वस्तु के सीमित रूप का ही कथन कर पाते हैं। अतः ये दृष्टिकोण सत्य होते हुए भी पूर्ण सत्य नहीं कहे जा सकते क्योंकि उसके अतिरिक्त भी सत्य अवशिष्ट रहता है। उन्हें असत्य तो कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि वे वस्तु का ही वर्णन करते हैं। अलबत्ता उन्हें सत्यांश कहा जा सकता है। परिणामतः मैं जो कहता हूँ, वह भी सत्यांश, दूसरा जो कहता है, वह भी सत्यांश और इसी परिणाम की यह एक उद्भावना है कि सम्पूर्ण सत्यांशों को मिलकर ही एक संपूर्ण सत्य बनता है। उस सम्पूर्ण सत्य को पाने के लिये ही हम उन सत्यांशों अर्थात् दूसरों के दृष्टिकोणों के प्रति उदार, सहिष्णु और समन्वयकारी बन जायँ। वास्तव में तो यही सत्य का आग्रह होगा। यदि हम उन सत्यांशों-दूसरों के दृष्टिकोणों के प्रति अनुदार, असहिष्णु बन जायँगे, सामञ्जस्य की हमारी वृत्ति न होगी तो हम सत्य को कभी पा सकेंगे, यह कल्पना ही व्यर्थ पड़ जायगी। जो विराट् सत्य असंख्य सत्यांशों को लेकर बना है, उन सत्यांशों की उपेक्षा करके कभी उस विराट् सत्य की उपलब्धि न हो सकेगी। आपेक्षिक सत्य को कहने और दूसरे के

स्याद्वाद

दृष्टिकोण में सत्य ढूँढ़ने और उससे सामंजस्य स्थापित करने की इसी पद्धति और शैली का नाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद सत्य को खोजने और अपने से भिन्न दृष्टिकोण के साथ समझौता करने की एक पद्धति है। इससे मेरी मनोभूमिका ऐसी बन जाती है, जिससे न तो मैं अपने दृष्टिकोण को, अपने कथन को ही एकमात्र सत्य मान बैठता हूँ और न मैं दूसरे के दृष्टिकोण को, उसके कथन को एकदम असत्य कहने के लिये तैयार हो सकता हूँ। जबकि मेरी दृष्टि सत्य की खोज में लगी हुई है, तब मैं यह खोज करने का प्रयत्न करूँगा कि कहीं मेरा दृष्टिकोण तो असत्य नहीं है और दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति मेरी मनोवृत्ति यह जानने की रहेगी कि उसमें आंशिक सत्य अवश्य होना चाहिये। संसार में सत्य की उपलब्धि के लिये यही एकमात्र मार्ग गया है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है। मन में से 'अपने' का आग्रह मिटा कि हिंसा मिटी, 'अपने' का दम्भ नहीं तो दूसरों से संघर्ष क्यों होगा। संसार के अधिकांश संघर्षों के मूल में यही दम्भ तो है। मैं समझता हूँ कि मेरी बात ठीक है, दूसरा समझता है कि उसकी बात ठीक है। दोनों को अपनी बात की सच्चाई पर अभिमान है। कोई एक दूसरे की बात सुनना-समझना नहीं चाहता तो उसका परिणाम संघर्ष ही होगा। किन्तु जहाँ यह आग्रह, दम्भ और अभिमान निकल गया, जहाँ यह विचार ही दूर हो गया कि 'जो मेरा है, वही सत्य है', बल्कि जहाँ यह विश्वास बन कर बद्धमूल हो गया कि 'जो सत्य है, वह मेरा है', वहाँ सच्चाई की खोज की भावना रहेगी। यदि अपने विचारों में असत्य झलकेगा तो उसे छोड़ने में वह ग्लानि अनुभव नहीं करेगा और यदि दूसरे के विचारों में सत्य मिलेगा तो उसे स्वीकार करने में लज्जा या हीनता का अनुभव नहीं करेगा। सत्य का वह साधक तो

सदा समझौते के लिये तैयार रहेगा, तब दूसरे के साथ संघर्ष का कहाँ अवसर रहेगा।

संक्षेप में अनेकान्त हमें यह समझाने को प्रेरित करता है कि वस्तु में अनेक रूप, अनेक दृष्टिकोण और अनेक धर्म होते हैं। शब्दों से जो कहा जाता है, वह उस वस्तु के सीमित रूप का कथन मात्र है। यह कथन अनेक रूपों में किया जा सकता है और वे सभी रूप आंशिक सत्य हैं। मन का यह विश्वास ही अनेकान्त है। इस विश्वास से मानसिक, वैचारिक अहिंसा को बल मिलता है। वस्तु के ये विभिन्न रूप आपेक्षिक हैं, निरपेक्ष नहीं, यह समझ कर उनका कथन करना स्याद्वाद है। यह वाचनिक अहिंसा की पृष्ठभूमिका निर्मित करता है।

अनेकान्त के प्रसंग में जैन शास्त्रकारों ने बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। जैसे गोपी दही मथते हुए एक रस्सी को खींचती है और दूसरी रस्सी को ढीली छोड़ देती है। इसी तरह जैन नीति है। वह जब कोई कथन करती है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह उसके दूसरे पहलू की उपेक्षा करती है या उसका तिरस्कार करती है।[1]

कई लोग 'स्याद्वाद' को 'शायदवाद कह कर उसका मजाक उड़ाते हैं। वे शायद भूल जाते हैं कि 'शायदवाद' तो सन्देहशीलता का नाम है, जब कि स्याद्वाद एक प्रकार का 'अपेक्षावाद' है। संसार का सारा विधान ही 'अपेक्षा' पर निर्भर करता है। और अपेक्षा-वाद के इसी सिद्धान्त ने वैज्ञानिक जगत् को प्रक्षेपणास्त्र और कृत्रिम उपग्रह जैसे आविष्कार दिये हैं। मनुष्य के सारे सम्बन्ध आपेक्षिक हैं।

१—आचार्य अमृत चन्द्र

पृथ्वी की स्थिति, ग्रह-उपग्रहों का पारस्परिक आकर्षण, प्रकृति का सारा विधान ही आपेक्षिक है। निरपेक्ष हो तो एक क्षण में संसार की स्थिति बदल जाय।

यह भी जान लेना आवश्यक है कि स्याद्वाद सत्य का असत्य के साथ समन्वय या समझौता नहीं चाहता, न वह असत्य के समक्ष झुकने की प्रेरणा देता है। वह सत्य-शोध का विनम्र प्रयत्न है।

कइयों के मन में यह भी विचार पैदा हो सकते हैं कि स्याद्वाद हमें अर्ध-सत्यों के पास ले जाकर पटक देता है और इन्हीं अर्ध सत्यों को. पूर्ण सत्य मानने की प्रेरणा देता है। किन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्धसत्यों को मिलाकर एक साथ रख देने से क्या वह पूर्ण सत्य कहा जा सकता है? इस शंका में बल अवश्य है। किन्तु स्याद्वाद स्वयं अन्तिम सत्य नहीं है। वह तो चरम सत्य के लिये मार्ग दर्शन का एक दृष्टिकोण है, जो उस सत्य के मार्ग में आनेवाले विरोधों के समन्वय करने की प्रेरणा भर देता है। इसीलिये जैन वाङ्मय में स्याद्वाद को लोक-व्यवहार का साधक बताया है[1] और उसे व्यवहार सत्य कहा है। सम्पूर्ण सत्य तो केवलज्ञान माना है। जिसमें संसार के और सभी कालों के सम्पूर्ण पदार्थों का आत्म साक्षात् होता है।

भारत के राजनैतिक गगन में एक स्वर्णकाल कहा जाता है। सामान्यतः यह स्वर्णकाल ११-१२ वीं शताब्दी तक माना जाता है।

१—सिद्धसेन दिवाकर—जेण विणा लोगस्सवि विवहारो सव्वाहन निव्वडइ।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंत वायस्स॥

दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद की सार्थकता

इस काल में भारतीय सभ्यता का चारों ओर प्रसार हुआ, संस्कृति के विभिन्न अंगों-साहित्य, कला, संगीत आदि की प्रगति और अभ्युदय हुआ। भारत के इस अभ्युदय काल में विभिन्न दर्शनों का विकास और निर्माण हुआ और विभिन्न धर्मों को दार्शनिक रूप मिला। फिर उनके ऊपर अनेकों स्वतन्त्र और टीका-ग्रन्थ लिखे गये, उसमें एक दूसरे की आलोचनाएँ हुईं। सभाओं में, एकान्त में, राज्य-परिषदों में और वन-प्रान्तों में दार्शनिक चर्चायें और विवाद हुए। इन दार्शनिक विवादों के फल-स्वरूप लाखों और करोड़ों व्यक्तियों ने धर्म परिवर्तन किये। यहाँ तक कि इन दर्शनों के आधार पर स्वतन्त्र सम्प्रदाय तक खड़े हो गये। वस्तुतः ये दर्शन गहरे तत्वचिन्तन के परिणाम हैं और इनमें आत्मा, परमात्मा और प्रकृति के रूप और पारस्परिक सम्बन्धों का गम्भीर चिन्तन किया गया है।

किन्तु ये दर्शन परस्पर में इतने विरोधी हैं और उनमें इतने विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन है कि हमें एक भारतीय आत्मा की इस विविधता और अनेकता पर आश्चर्य होता है। किन्तु इस अनेकता में भी एकता का महान् प्रयत्न भगवान् महावीर और उनके पश्चाद्वर्ती समर्थ जैनाचार्यों ने किया। यह प्रयत्न ही 'स्याद्वाद' कहलाया।

बौद्ध दर्शन में कोई त्रिकाल अव्यभिचारी नित्य वस्तु नहीं मानी गई। उसके मत से जगत्स्रोत अप्रतिहत और अबाध गति से निरन्तर बह रहा है। क्षण भर के लिये भी कोई वस्तु एक ही भाव से एक ही अवस्था में स्थिर होकर नहीं रह सकती। परिवर्तन ही जगत् का मूल कारण है। इसके विपरीत परिवर्तनशील किसी वस्तु के साथ वेदान्त

का कोई सम्पर्क नहीं। परिवर्तन तो उसके मत से असत् है, माया है, सत्य तो केवल ब्रह्म है, जो नित्य, शुद्ध बुद्ध, चैतन्य स्वभाव है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' यहीं से वेदान्त का अथ है और यहीं पर उसकी इति है।

नित्यवाद और अनित्यवाद को मानने वाले इन दोनों विरोधियों का समन्वय स्याद्वाद करता है। वह दोनों की आंशिक सत्यता स्वीकार करके कहता है, वस्तु का रूप सदा स्थिर रहता है, अतः वह नित्य है, किन्तु उसकी पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है, उस परिवर्तन के कारण वह अनित्य है अर्थात् वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों धर्म रहते हैं। उसकी नित्यानित्यात्मकता आपेक्षिक है। उसमें केवल नित्यता या अनित्यता ही ऐकान्तिक सत्य नहीं है।

सारे दार्शनिक विवादों का समन्वय और समाधान स्याद्वाद इसी रूप में प्रस्तुत करता है। जैन शास्त्रकारों का कथन है कि सम्पूर्ण दर्शन नयवाद में गर्भित हो जाते हैं। अतएव सम्पूर्ण दर्शन नय की अपेक्षा से सत्य हैं। जैसे ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से बौद्ध, संग्रह नय की अपेक्षा से वेदान्त, नैगमनय की अपेक्षा न्याय, वैशेषिक, शब्दनय की अपेक्षा शब्द ब्रह्मवादी, तथा व्यवहार नय की अपेक्षा चार्वाक दर्शन को सत्य कहा जा सकता है। ये तो सब जुदा २ मणियाँ हैं। स्याद्वाद के धागे में इन्हें पिरोकर ही जैन-दर्शन या जैन-धर्म नाम की माला बनती है[1]।

उपाध्याय यशोविजय जी के शब्दों में 'सच्चा अनेकान्तवादी

१—उपाध्याय यशोविजय—अध्यात्म सार

किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है, जैसे कोई पिता अपने पुत्र को देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है, जो स्याद्‌वाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समानभाव रखता है। वास्तव में मध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद[1] है।

जैन वाङ्मय ने स्थान २ पर घोषित किया है कि सभी धर्म और दर्शनों में सत्य है। उनकी मान्यताओं के ऐकान्तिक आग्रह की आलोचना अवश्य की है, किन्तु उन्हें असत्य नहीं कहा। बल्कि यहाँ तक स्वीकार किया है कि ३६३ मतों का समग्र रूप जैन-दर्शन है। समन्वय की इस स्वस्थ परम्परा का विकास स्याद्‌वाद सिद्धान्त के सहारे ही हो सका है।

जिस प्रकार भारतीय ऋषि गण तत्व-चिन्तन में लगे रहकर नाना विध रहस्यों का उद्‌घाटन कर सके हैं, उसी प्रकार दूसरे देशों में भी तत्व-मनीषियों ने जगत् के गूढ़ रहस्यों के परत उघाड़ने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह कितना विचित्र है कि हर तत्वचिन्तक की मान्यता ऐकान्तिक आग्रह पर आधारित रही है। दो विरोधी दर्शनों या मान्यताओं के समन्वय का सदा प्रयत्न होता रहता है। किन्तु समन्वय की स्वस्थ परम्परा का निर्वाह न हो सकने के कारण समन्वय का यह प्रयत्न ही एक स्वतन्त्र मान्यता, स्वतन्त्र सिद्धान्त और स्वतन्त्र दर्शन के रूप में जगत् के सन्मुख प्रगट हो गया। इस तरह समन्वय स्वतन्त्र प्रक्रिया न रह कर स्वतन्त्र सम्प्रदाय बन गया। विभिन्न सम्प्रदायों का इतिहास

१—अध्यात्म सार ६१-७२

विभिन्न विरोधी सम्प्रदायों के समन्वय से प्रारम्भ हुआ है किन्तु उसका अन्त सम्प्रदायों की संख्या में एक की गिनती बढ़ाकर हुआ है।

किन्तु यह सब होते हुए भी सभी धर्मों, दर्शनों और सम्प्रदायों में अनेकता होते हुए भी एकता के, समन्वय के बीज मौजूद हैं। अनेकता में भी एकता, विभिन्नता में भी एकरूपता के अनुसंधान में ये बीज बड़े उपयोगी हो सकते हैं। आज उन्हीं बीजों के ढूँढ़ने और उन पर विशेष बल देने की आवश्यकता है। इससे जहाँ साम्प्रदायिक और दार्शनिक विवादों में सामञ्जस्य की शक्ति के दर्शन हो सकेंगे, वहाँ विभिन्न दर्शनों और सम्प्रदायों पर स्याद्वाद के उपयुक्त प्रभाव का भी मूल्याङ्कन करने में सुविधा मिल सकेगी।

दार्शनिक क्षेत्र पर स्याद्वाद का प्रभाव

वेदों[1] में कहा गया है कि 'उस समय सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था। उपनिषदों में कई स्थान पर वर्णन मिलता है—'वह उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न नहीं होता; वह दूर है, वह पास है।[2]' 'वह अणु से भी छोटा है। और बड़े से बड़ा है।[3]' 'वह सत् है, असत् है।[4]'

इसी प्रकार भारतीय दर्शनों में भी इस प्रकार के विरोधी विचार और उनके समन्वय की पद्धति मिलती है, जिसे स्याद्वाद के अनुकूल कह सकते हैं। जैसे जैन दर्शन तत्वों का निर्णय दो दृष्टिकोण से करता है, निश्चय नय और व्यवहार नय। निश्चय नय से वस्तु के मूल तत्व

१—ऋग्वेद १०-१२९-१
२—ईशावास्य ५
३—कठोपनिषद् २-२०
४—प्रश्नोपनिषद् २-५

के स्वरूप की ध्रुवता का विचार होता है, तथा व्यवहार नय से वस्तु में प्रतिक्षण होने वाले उत्पाद-व्यय रूप परिवर्तनों पर विचार होता है, उसी प्रकार वेदान्त दर्शन में स्वरूप और तटस्थ शब्दों का लगभग निश्चय और व्यवहार के अर्थों में प्रयोग हुआ है। शंकर ने पारमार्थिक सत्यता से व्यावहारिक सत्यता को जिस कारण पृथक किया है, वह स्याद्वाद के मूल रूप के निकट ही है। उन्होंने परिदृश्यमान जगत् की सत्ता अस्वीकार नहीं की, किन्तु उसकी पारमार्थिक सत्यता अस्वीकार की गई है। बौद्ध विज्ञानवाद या शून्यवाद के विरुद्ध उन्होंने जगत् की व्यावहारिक सत्ता अतिशय दृढ़ता के साथ प्रमाणित की है।

इसी तरह बौद्ध दृश्यवाद में शून्य का जो व्यतिरेकमुखी लक्षण किया है, उसके अनुसार जो अस्ति-नास्ति-अस्तिनास्ति दोनों और अस्ति नास्ति दोनों नहीं, इन चारों विरोधी भावनाओं से जो बहिर्भूत है, वह शून्य माना है।

कौन कह सकता है कि वेदान्त और बौद्ध दर्शनों की उक्त मान्यताओं पर स्याद्वाद के परस्पर विरोधी रूपों के समन्वयकारी आदर्श का प्रभाव नहीं था।

पाश्चात्य दार्शनिकों में विलियम जेम्स के (Pragmatism) सिद्धान्त की स्याद्वाद के साथ अनेक अंशों में तुलना हो सकती है।

ग्रीस में एक ईलियाटिक (Eleatics) सम्प्रदाय हो गया है। उसकी मान्यता थी कि जगत् परिवर्तनहीन, नित्य है। उसका विरोधी सम्प्रदाय था हिराक्लीटियन (Hereclitien), इसकी मान्यता थी कि जगत् सर्वथा परिवर्तनशील है। इन दोनों विरोधी मान्यताओं का समन्वय करते हुए एम्पीडोक्लीज (Empedocles), एटोमिस्ट्स (Atomists), और इनैक्सागोरस (Anaxagoras) दार्शनिकों

ने पदार्थों का नित्यत्व स्वीकार करते हुए भी आपेक्षिक परिवर्तन माना है।[1]

जर्मन तत्ववेत्ता हेगल (Hegel) की मान्यता है कि विरुद्ध धर्मात्मकता ही संसार का मूल है। हमें किसी वस्तु का वर्णन करते हुए उसकी वास्तविकता का तो वर्णन करना ही चाहिए। किन्तु उसके साथ उन विरुद्ध धर्मों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है, यह भी बताना चाहिये।[2]

ब्रैडले का विश्वास है कि हर वस्तु दूसरी वस्तु की तुलना में आवश्यक भी है और तुच्छ भी है। हर विचार में सत्य है, चाहे वह कितना ही झूठ हो; हर सत्ता में वास्तविकता है, चाहे वह कितनी ही तुच्छ हो[3]।

इस प्रकार और भी अनेकों दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने पदार्थ में विरुद्ध धर्मात्मकता को स्वीकार किया है, एक वस्तु के विभिन्न रूपों को सापेक्ष माना है और किसी सत्य को निरपेक्ष नहीं माना। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी दर्शनों में स्याद्वाद का मूल रूप स्वीकृत होने पर भी स्याद्वाद को स्वतन्त्र दार्शनिक मतवाद का उच्चासन देने का गौरव केवल जैन दर्शन को ही है।

मनुष्य का दैनिक जीवन उसकी इच्छाओं और मान्यताओं से नियन्त्रित और परिचालित है। मनुष्य के भीतर मनुष्यता रहती है, किन्तु एक कोने में शैतानियत और हैवानियत भी रहती है। शैतानियत

१—Thilly : History of Philosophy p. 32

२— ,, ,, p. 467

३—Appearance and Reality p. 4 87

सदा दूसरे को कष्ट देने, पापाचार करने को प्रेरणा देती रहती है और हैवानियत मनुष्य को दम्भी, क्रोधी, कपटी, लोभी बनाती है। ये दोनों मनुष्य की मनुष्यता-इन्सानियत को खा-खाकर मोटी होती जा रही हैं। इंसानियत मर रही है, सिकुड़ रही है और शैतानियत और हैवानियत फूल रही हैं। इनके प्रभाव में आकर यह मनुष्य केवल अपनी मान्यता को ही सत्य मान लेता है, अपने पक्ष को ही उचित और न्याय संगत मान बैठता है। इतना होता, तब भी गनीमत थी। किन्तु वह इसके साथ-साथ दूसरे के पक्ष और मान्यता को एकदम असत्य, अनुचित और न्याय रहित होने की घोषणा करता फिरता है। जो स्थिति इसकी है, वही दूसरे की है। बस यह मत-भेद ही मन-भेद बन जाता है और फिर संघर्ष छिड़ जाता है। सारे मत मतान्तरों, सम्प्रदायों, युद्धों का यही इतिहास है। विचारों की असहिष्णुता, सत्य का एकाधिकार, दूसरे से अपने को उच्च मानने की अहम्मन्यता, ये ही युद्ध, उच्च नीच भेदभाव और अशान्ति के मूल हैं।

व्यावहारिक जगत् में स्याद्वाद की उपयोगिता

स्याद्वाद का प्रयोग दार्शनिक क्षेत्र में सफलता पूर्वक किया जा चुका है। अब उसका प्रयोग व्यावहारिक जीवन में करने की आवश्यकता है। अगर शैतानियत और हैवानियत से ऊपर इंसानियत की प्रतिष्ठा करनी है, मानव के मानसिक घावों की मरहम पट्टी करके उन्हें भरना है और मानसिक या वाचनिक हिंसा को नाम शेष करके शीतयुद्ध या वास्तविक युद्ध की कल्पना तक को समाप्त करना है तो हमें स्याद्वाद द्वारा समन्वयवादी मनोवृत्ति को जगाना और बढ़ाना ही होगा। अन्यथा इसके बिना मानवता के सुन्दर भविष्य की समस्त आशायें

क्षीण हो जायेंगी। मानवता के कल्याण का इसके सिवाय और कोई मार्ग जगत् में आज नहीं है और शायद भविष्य भी जो मार्ग खोज सकेगा, वह भी स्याद्वाद का ही एक भावनात्मक रूप होगा।

स्याद्वाद वस्तुतः विचार-समभाव और विरोध में एकता का मार्ग प्रशस्त करने वाली एक ऐसी प्रणाली है, जो विश्व के समस्त विवादों को, वह चाहे व्यक्ति के हों या समष्टि के सुलझाने की कुञ्जी है। वह अपने विचार दूसरों पर बलात् लादने के विरुद्ध सत्य के प्रति विनम्र आत्म समर्पण है; आग्रहहीन होकर सत्य-शोध की यह निरभिमान पद्धति है और विरोधों में सामञ्जस्य स्थापित करने की निरुद्वेग आकांक्षा है।

जैन परम्परा स्याद्वाद के रूप में जगत् को अहिंसा का एक विधायक रूप दे सकी, यह मानव की सम्पूर्ण समस्याओं के समाधान में उसकी मूर्तिमान आकांक्षा का प्रतीक है। निस्सन्देह अहिंसा इसके द्वारा केवल ऊंचा आदर्श मात्र नहीं रह गई, बल्कि वह जीवन का एक उपयोगी अंग भी बन सकी है। आज इसके उपयोग की सर्वाधिक आवश्यकता है।

प्राणियों की रक्षा अहिंसा का मुख्य उद्देश्य नहीं है, इसे समझना हो तो अहिंसा की परिभाषा की गहराई से छान-बीन करनी होगी।

अहिंसा का चरम लक्ष्य-आत्म-स्वातन्त्र्य

प्राणियों के प्राणों का घात न करना यह सतर्कता मूलक प्रवृत्ति मूलतः शरीर से सम्बन्धित है। अतः शरीर के विभिन्न अंगों की प्रवृत्ति-मन, वाणी और काय के अशेष अंगों की वृत्ति का नियमन जीवन का मुख्य आध्यात्मिक ध्येय नहीं बन सकता, वह इससे भी किसी उच्चतर ध्येय का साधन बन सकता है।

यह उच्चतर ध्येय आत्मा का हो सकता है. अनात्म का नहीं। मन, वाणी और शारीरिक अंग ये अनात्म हैं, आत्मा के साथ बलात् थोपे हुए हैं। और वह जब अपने लाभ के लिए इनका उपयोग करता है, तब उसके लिये इनका नियमन आवश्यक हो जाता है। तब इससे प्राणियों की जो रक्षा हो जाती है, उसे हम कहते हैं —अहिंसा। किन्तु यह अहिंसा का वाह्य रूप है।

अहिंसा अगर आत्मा का सौन्दर्य है तो उसका रूप होगा आत्मा की सम्पूर्ण अनात्म शक्तियों से मुक्ति, आत्मा का संपूर्ण स्वातन्त्र्य।

आत्मा अपने ही कर्मों के फैलाये जाल में स्वयं उलझ रहा है। उसकी कर्तृत्व शक्ति उसके अधिकार में रह गई, किन्तु भोक्तृत्व शक्ति की रास उसके हाथ से निकल कर्मों के हाथ में जा चुकी है। वह कर्म करता है स्वेच्छा से, किन्तु फल भोगने की वाध्यता उसने स्वयं अपने ऊपर ओढ़ ली है। वह अपने ही में इतना छोटा, तुच्छ बन गया है कि उसे स्वयं अपनी अन्तर्निहित अनन्त शक्तियों का न ज्ञान ही रह गया है और न विश्वास ही।

विभिन्न आस्तिक दर्शनों ने यह स्वीकार किया है कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। सबमें इस विषय में ऐकमत्य है। मत-भेद का बिन्दु उसके फल-भोग की स्वतन्त्रता है। फल का नियन्त्रण उन दर्शनों ने आत्मा से छीन कर किसी एक अज्ञेय शक्ति के हाथों में दे दिया है। जब कि जैन परम्परा कर्म करने की तरह फल भोगने में भी आत्मा की स्वतन्त्रता स्वीकार करती है। यद्यपि इस मतभेद को अहिंसा की उच्चतम भूमिका वाली परिभाषा को अथवा उसके आन्तरिक उद्देश्य को समझने के लिये विस्तार से जानना आवश्यक नहीं है, किन्तु जब आत्मा का चरम लक्ष्य हमं आत्म-स्वातन्त्र्य मान लेते हैं, तब आत्म-

स्वातन्त्र्य की प्रक्रिया और उसका रूप जानने की जिज्ञासा बनी ही रहती है। केवल यही समझने के लिये यहाँ आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व अधिकार को समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

कर्म और कर्मफल क्या है?

हम जो कार्य करते हैं, वह कर्म नहीं है। उसे हम क्रिया कह सकते हैं, वह शारीरिक प्रवृत्ति है। किन्तु कर्म इससे भिन्न है। एक सी शारीरिक क्रिया करने पर भी फल भिन्न २ मिलते हैं, लोक में ऐसा देखा जाता है। यदि शारीरिक क्रिया ही कर्म कहलाती होती तो एक सी शारीरिक क्रिया का फल भी समान मिलता होता। ऐसा होता तो छुरी से शल्य क्रिया करने वाले डाक्टर को और छुरी से गर्दन काटने वाले डाकू को एक सी सजा मिलती। किन्तु नहीं, फल भिन्न २ मिलते हैं और उसका कारण है, दोनो के उद्देश्य की भिन्नता। इसे ही आध्यात्मिक भाषा में कहें तो कह सकते हैं—दोनों के आत्म-परिणामो की विभिन्नता। अर्थात् फल शारीरिक और वाचनिक प्रवृत्तियों के अनुसार नहीं मिलता, फल मिलता है आत्म-परिणामों के अनुसार। जैसे आत्मा के विचार मन, वचन और काय की प्रवृत्ति करते समय होंगे, फल वैसा ही मिलेगा। लेकिन जैसा फल मिलेगा, आत्म-परिणाम भी तब वैसे ही होंगे। और तब जैसे आत्म-परिणाम होंगे, उसका फल भी वैसा ही मिलेगा। अर्थात् धर्म का फल सुख, सन्तोष, सदाचार और उसके अनुकूल वातावरण होगा। इसी तरह पाप का फल दुःख, असन्तोष, तृष्णा, पापाचार और उसके अनुकूल वातावरण होगा। उससे फिर धर्म और पाप करने की प्रेरणा मिलेगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि आत्म-परिणाम कर्म हैं; उनका फल भी

आत्म-परिणाम ही हैं। किन्तु कर्म और कर्मफल का यह चित्र सम्पूर्ण नहीं है। यह तो केवल उसकी रेखायें हैं,' उसमें रंग भरता है पौद्गलिक जड़ तत्व। और अब सम्पूर्ण चित्र यह हुआ—

जैसे ग्रामोफोन चलाते समय पहले चाबी भरनी पड़ती है, सुई लगाते हैं। उससे रिकार्ड में पहले एक कम्पन सा होता है। फिर वह बजने लगता है। इसी प्रकार जब हम मन, वचन या काय की कोई प्रवृत्ति करते हैं, तो उससे सारे लोक में भरी हुई कार्मण वर्गणाओं (कर्म के योग्य पुद्गल-परमाणुओं) पर प्रभाव पड़ता है। दूसरी ओर आत्मा में एक कम्पन सा होता है। इस कम्पन में आकर्षण होता है, उससे अनुकूल कार्मण वर्गणायें आकृष्ट हो जाती हैं और आत्मा में आकर बन्ध जाती हैं। मन, वचन और काय की प्रवृत्तियाँ क्रोध, मान, माया और स्वार्थवश होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ आस्रव कहलाती हैं और क्रोधादि चारों कषाय कहलाते हैं। प्रवृत्तियों में तीव्रता और मन्दता का आधार ये कषाय हैं। इन कषायों की मात्रा के अनुसार ही पौद्गलिक कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं और उनका बन्धन आत्मा के साथ जुड़ जाता है। यह बन्ध कहलाता है।

कर्मों का यह बन्ध आस्रव द्वार से एक निश्चित प्रक्रिया के द्वारा हुआ। किन्तु हुआ है प्राकृतिक आकर्षण-शक्ति द्वारा स्वयं ही। इसी प्रकार बन्धन की भी अपनी एक शक्ति होती है। वह शक्ति अपने २ समय पर क्षीण होने लगती है। तब जैसे आस्रव के मार्ग द्वारा वे पौद्गलिक कर्म आकृष्ट हुए थे, उसी प्रकार उनके पृथक्करण का मार्ग खुल जाता है और वे कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। खुलने का यह द्वार 'संवर' कहलाता है और पृथक्करण निर्जरा कहलाती है। जैसे आश्रव और बन्ध का आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का प्रभाव पड़ा था।

उसका आन्तरिक प्रभाव आत्म-परिणामों के कारण था और बाह्य कारणों (मन-वचन और काय की प्रवृत्तियो) के कारण पड़ा था, उसी प्रकार इन दोनों का आन्तरिक और बाह्य परिणाम भी होता है। उसका आन्तरिक परिणाम होता है-आत्म परिणामो का बन्ध के अनुकूल रूप-ग्रहण और बाह्य परिणाम होता है उसी के अनुकूल बाह्य सुख-दुःख और सुख-दुःख के साधन। वस्तुतः बन्ध और निर्जरा आकर्षण-विकर्षण की स्वाभाविक प्रक्रिया के परिणाम हैं और यह एक स्वयंचालित प्रक्रिया है। वस्तुतः यह कर्मों की रासायनिक शक्ति है। उसी के द्वारा यह संयोग और विघटन का क्रम निरन्तर चलता रहता है।

कर्मों के इस वैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निष्पन्न होते हैं—

(१) कर्म और उसका फल स्वयं स्फूर्त है, यह प्रकृति का एक निगूढ़ रहस्य है। प्रकृति अपने इस रहस्य को अपने में छिपाये हुए है। किन्तु उसकी असीम शक्तियो के द्वारा कर्म और कर्म-फल का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

(२) कर्म और कर्म-फल का सम्बन्ध बीज और वृक्ष की तरह सतत प्रवाही और परस्पराश्रित है। वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है और बीज से वृक्ष। विशेष की दृष्टि से भले ही हम कह लें कि अमुक बीज अमुक वृक्ष से या अमुक वृक्ष अमुक बीज से उत्पन्न हुआ है। किन्तु सामान्य की अपेक्षा बीज और वृक्ष के रूप का इतिहास अज्ञात काल तक चला गया है, जिसकी कोई आदि नहीं, इसी तरह कर्म से कर्मफल और कर्मफल से कर्म होता है। विशेष की दृष्टि से हम भले ही कहलें कि अमुक कर्म का यह फल है या अमुक फल से यह कर्म बन्ध हुआ है।

किन्तु सामान्य की अपेक्षा कर्म और कर्म-फल की यह परम्परा अज्ञात काल से चली आ रही है, जिसकी कोई आदि नहीं।

(३) विशिष्ट कर्म अमुक कर्म का फल है और यह फल भी स्वयं एक कर्म है। इस प्रकार कर्म और कर्मफल अन्ततः एक ही हैं। दृष्टि-कोणों की भिन्नता से ये कर्म और कर्मफल कहे जाते हैं।

(४) पौद्गलिक कर्मों का बन्ध जड़ है, क्रोधादि कषाय भावनात्मक हैं जो विकृत चेतना हैं। अतः चेतन रूप हैं। जड़ बन्ध द्रव्य-बन्ध कहलाता है और चेतन-बन्ध भाव-बन्ध कहलाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि द्रव्य-बन्ध से भाव-बन्ध होता है और भाव-बन्ध से द्रव्य-बन्ध होता है।

(५) कर्म और कर्म-फल भिन्न २ नहीं, एक ही हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

(६) आत्मा में अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। किन्तु उन शक्तियों का उसे ज्ञान नहीं, विश्वास भी नहीं। इसलिये स्वयं कर्म करके भी उनके फल भोगने में बाध्यता अनुभव करता है। पौद्गलिक कर्मों का बन्ध स्वयं इसके निजी कर्तृत्व का फल है। फिर भी वह अपनी ही रचना की शक्ति को महान् समझ बैठा है और उसके समक्ष अपने को तुच्छ और असहाय अनुभव कर रहा है। उसकी इस असहायता का परिणाम यह हुआ है कि कर्मों का यह प्रवाह निरन्तर चल रहा है और आत्मा पुरातन कर्मों का भोग करते हुए भी निरन्तर नये कर्मों का आवाहन करता रहता है। शुभ और अशुभ कर्मों का यह चक्र निरन्तर चालू है। ये शुभ और अशुभ कर्म पुण्य और पाप हैं। दोनों ही आत्मा के लिये बन्धन कारक हैं। किन्तु अशुभ कर्म से शुभ कर्म श्रेष्ठतर है। उससे आत्मा को अपनी अनन्त शक्ति का ज्ञान और विश्वास होने का

मार्ग प्रशस्त बन सकता है।

शरीर में महान् बल हो तो उससे तीन काम लिये जा सकते हैं—(१) यदि चाहे तो ऐसा व्यक्ति असंख्य प्राणियों को मार सकता है, लोगों में आतंक जमा सकता है, अनेक पाप कर सकता है। (२) यदि चाहे तो ऐसा व्यक्ति दूसरे प्राणियों की रक्षा कर सकता है, उन्हें अभय दान दे सकता है, दूसरे के कार्यों में सहायता और सहयोग दे सकता है। (३) यदि वह चाहे तो आत्म पौरुष से तपस्या करके सारे जगत् के प्रति अपनी साम्य दृष्टि को विकसित कर सकता है, दुःख से मुक्ति पा सकता है।

पहला काम अशुभ है, दूसरा शुभ है, तीसरा शुद्ध है। शुभ और अशुभ व्यक्ति की वाह्य दृष्टि के परिणाम हैं और शुद्ध भाव व्यक्ति की आत्मोन्मुखी वृत्ति है।

यदि व्यक्ति पापाचार में निमग्न है, तो कौन कह सकता है कि पापाचार की उसकी यह वृत्ति पूर्व संचित कर्मों का ही फल है। संभव है, यह वृत्ति उसकी नवीन प्रवृत्ति हो। कर्तृत्व की उसकी शक्ति जो है। यदि उसे धार्मिक वातावरण मिल जाय, परिकर अनुकूल हो तो व्यक्ति पापाचार को छोड़कर नये सिरे से पुण्य-कार्यों में लग सकता है, अपने जीवन को धार्मिक बनाने का प्रयत्न कर सकता है और इस तरह एक दिन का पापी अपने प्रयत्नों से धार्मिक और सदाचारी बन सकता है। और फिर इससे भी आगे बढ़कर यदि उसे अपने आत्म-स्वरूप का बोध हो जाय, आत्मा को निष्कलंक और निर्मल करने का दृढ़ संकल्प कर ले और कर्मों के फल को, सुख-दुःखों को निष्काम भाव से, निरीह वृत्ति से सह कर उसे एक प्रकार से निष्फल बना दे और नवीन कर्मों का संचय बन्द कर दे तो धीरे २ संचित कर्मों का भण्डार रीता होता

चला जायगा और एक दिन ऐसा आवेगा, जब आत्मा निर्बन्ध, निष्कर्म, शुद्ध रूप में प्रगट हो जायगी। एक बार जलाया हुआ बीज वृक्ष उत्पन्न नहीं कर सकता। एक बार कर्म-बन्धन निर्मूल करने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं हो सकते। इस प्रकार प्राणी चाहे तो कर्तृत्व की तरह भोक्तृत्व में भी स्वतन्त्र हो सकता है और कर्म और कर्म-फल की परम्परा का अन्त करके सर्वथा आत्म-स्वातन्त्र्य पा सकता है।

किन्तु मानना होगा, आत्म-स्वातन्त्र्य अहिंसा के मार्ग द्वारा ही निष्पन्न हो सकेगा। अहिंसा अपने बाह्य रूप में प्राणी-रक्षा के द्वारा 'शुभ' बनती है तो अन्तरुन्मुखी रूप में वह सर्व-भूत-समभाव के द्वारा 'शुद्ध' बनने का उपक्रम करती है। अहिंसा का आभ्यन्तर रूप आत्मौपम्य दर्शन के साथ प्रारम्भ होता है। यह दर्शन व्यक्ति को अपने सुख दुःखों की तरह दूसरे प्राणियों के सुख-दुःखों में सम्वेदनशील भावना के विकास के साथ विकसित होता जाता है। जैसे २ यह विकसित होता जाता है, उसके अन्तर् की कषायें (क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि) मन्द, मन्दतर पड़ती जाती हैं। दूसरे रूप में इसे यों भी कह सकते हैं कि उसकी कषाय जितनी कम होती जाती हैं, उसकी आभ्यन्तर अहिंसा उतनी ही निर्मल और विकसित होती जाती है और उससे आत्मौपम्य-दर्शन, सर्व-जीव-समभाव की भावना का विकास होता जाता है।

संक्षेपतः जब प्राणी कर्तृत्व और भोक्तृत्व में, कर्म और कर्म-फल में असहायता और बाध्यता अनुभव न करके, अपने अगाध आत्म-विश्वास का सम्बल लेकर अपनी अहिंसा साधना द्वारा कर्म के फल को निष्फल बनाने, कर्म का समूलोन्मूलन करने की ओर बढ़ता है, तब वह कर्म और कर्म-फल की रास अपने हाथों में सम्हाल लेता है। इस

आत्म-विश्वास का उदय, आत्मोन्मुखी बनने की रुचि और आत्म-स्वातन्त्र्य की दिशा में बढ़ने की प्रवृत्ति अहिंसा द्वारा होती है। अहिंसा के द्वारा वह अपने भावों को अप्रमत्त, कषायहीन बनाने का प्रयत्न करता है। जैसे २ उसके आत्म-परिणाम कषायहीन बनते जाते हैं, जैसे २ उसकी अहिंसा विकसित होती जाती है, वह आत्म स्वातन्त्र्य के मार्ग में बढ़ता जाता है और अन्त में जब उसे सम्पूर्ण अहिंसा की सिद्धि हो जाती है, तब वह सम्पूर्ण आत्म-स्वातन्त्र्य पा लेता है। इस तरह अहिंसा साधन भी है, साध्य भी है। अहिंसा मार्ग भी है और लक्ष्य भी है; अहिंसा आत्म-सिद्धि का उपाय भी है और आत्मोपलब्धि भी है। इसीलिये स्वामी समन्तभद्र ने अहिंसा को संसार में परम ब्रह्म स्वीकार किया है[१]।

१—अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।

स्वयंभू स्तोत्र

—८—

विश्व की वर्तमान समस्यायें और अहिंसा का भविष्य

—:०:—

विश्व के सम्मुख इस समय अनेकों समस्यायें हैं। उनका समाधान विभिन्न देशों में विभिन्न पद्धतियों से करने का प्रयत्न किया जा रहा है। किन्तु फिर भी समस्यायें ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। और कोई पद्धति आज सर्वांश में सफल नहीं कही जा सकती। एक प्रकार से इस युग में इन पद्धतियों का परीक्षण चल रहा है। परीक्षण में जो पद्धति असफल भी ठहरती है, उसका भी परित्याग नहीं किया जा सकता। उसका कारण व्यक्तियों और देशों का पक्ष-व्यामोह ही है।

वर्तमान समस्यायें
१—राजनैतिक

एक बात तो स्वीकार की ही जायेगी कि विश्व का वर्तमान लोकमत जनता पर एक व्यक्ति की अनियन्त्रित महत्वाकांक्षा के शासन का विरोधी है। यद्यपि जब कभी और कहीं न कहीं डिक्टेटरशिप किसी न किसी रूप में उभर उठती है। व्यक्ति में महत्वाकांक्षा स्वाभाविक है। उसमें अपने को उच्च मानने और दूसरों पर शासन करने तथा अपनी प्रशंसा के विरुद सुनने का एक दम्भ छिपा हुआ है। कभी-कभी

डिक्टेटरशिप

यह दम्भ सैनिक स्रोतों पर एकाधिकार करके प्रगट हो उठता है और कभी कभी जनता का अत्यधिक सम्मान पाकर एकाधिकार की सुप्त वृत्ति जाग उठती है।

किन्तु फिर भी इस प्रवृत्ति और प्रणाली को आज सम्मान प्राप्त नहीं हो रहा। डिक्टेटरशिप जनता पर आतङ्क जमाता है, उसका विश्वास और स्नेह प्राप्त नहीं कर सकता। आतङ्क का शासन सफल शासन नहीं कहा जा सकता। अतः डिक्टेटरशिप एक ऐसी असफल प्रणाली है, जो जनता की सहज सहानुभूति खो बैठी है।

प्रजातन्त्र अथवा जनतन्त्र

वस्तुतः आजकल दो ही राजनैतिक प्रणालियाँ विशेष चर्चा और प्रयोग को विषय बनी हुई हैं। वे हैं—प्रजातन्त्र और समाजवाद। इन दोनों के मौलिक आधार में ही भेद है। किन्तु विभिन्न देशों के प्रजातन्त्र में जिस प्रकार एकरुपता नहीं, उसी प्रकार समाजवाद के रूप भी भिन्न २ हैं। कहीं सम्राट् के होने पर भी प्रजातन्त्र है, कहीं सम्राट् के स्थान पर देश में एक निर्वाचित व्यक्ति होता है, उसमें जनसत्ता केन्द्रित है। कहीं जनता की प्रतिनिध्यात्मक संसदें हैं, जिनमें देश की विधायक सत्ता निहित है, कहीं राज्य प्रमुख और प्रतिनिधि-संसद दोनों में सत्ता विभाजित है। किन्तु जनतन्त्र सफल ही हो गया है, ऐसा तो आज जनतन्त्र के दावेदार भी स्वीकार नहीं करेंगे। उसकी बहुत बड़ी कमियाँ तीन हैं—

(१) जनतन्त्र हर बालिग स्त्री-पुरुष को मताधिकार प्रदान करता है। हर मत देश के हित में किसी व्यक्ति को, शासन में योगदान देने के लिये, चुनने के लिये स्वतन्त्र है। जनतन्त्र में राजनैतिक पार्टियाँ होती हैं। उनके अपने आदर्श, नारे और सिद्धान्त होते हैं। इस प्रणाली

में स्वतन्त्र व्यक्ति का महत्व पार्टियों की अपेक्षा प्रभावहीन होता है। अतः जनता के मत पार्टियों के आधार पर व्यक्ति-निर्वाचन के मामले में विभक्त हो जाते हैं। निर्वाचन के लिये आयु सम्बन्धी शर्त के अतिरिक्त कोई नैतिक, सेवा, शैक्षणिक या इसी प्रकार की दूसरी शर्त नहीं होती। अतः निर्वाचन नैतिक स्पर्द्धा या मानव-सेवा के मूल्याङ्कन के बिना ही केवल संगठन, प्रभाव, (कहीं कहीं आर्थिक स्रोत) आदि के आधार पर सफल हो जाता है।

यदि देहाती भाषा में कहा जाय तो केवल आयु के आधार पर मताधिकार देना भेड़-बकरियों को मताधिकार देने के समान है, जिसका उपयोग तो सब करते हैं; किन्तु लाभ वे उठाते हैं, जो उन भेड़ बकरियों को हांक ले जा सकते हैं। परिणाम यह होता है कि नैतिक मापदण्ड और मानव-सेवा की किसी योग्यता के बिना ही प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं और जो नैतिक दृष्टि से महान् हैं, जिन्होंने मानव-सेवा में अपने जीवन को गला दिया है, वे चुनाव की पेचीदगियों के कारण अथवा पार्टीबाजी की उलझनों के कारण लोक-सेवा के इस क्षेत्र से उदासीन रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लोगों में सत्ता की स्पर्धा जाग उठती है; प्रभाव का विस्तार और व्यक्तिगत यश, सम्मान और हो सके तो आर्थिक लाभ की भूख बलवती हो जाती है। बस, व्यक्ति सेवा के अवसर का उपयोग अपने लिये करने लगता है।

और फिर पार्टीवाद के आधार पर जो व्यक्ति शासन के पदों पर पहुँच जाते हैं, उनमें ऐसी असंगतियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिससे देश को उनसे नैतिक प्रेरणा मिल सके, ऐसी संभावना नहीं रहती। ये जन-प्रतिनिधि अपने सदाचार, त्याग, सादगी, उच्च विचार और अपनी नैतिक महानता द्वारा जनता की राह में आई बाधाओं को दूर कर

सकें, उसका पथ प्रदर्शन कर सकें, उनसे तो केवल यही अपेक्षा की जाती है। किन्तु वे शासन और सत्ता के चक्र में ऐसे पड़ जाते हैं कि चाहते हुये भी वे त्याग और सादगी का निर्वाह नहीं कर पाते। भौतिक मूल्यों ने जीवन का जो एक मानदण्ड निर्धारित किया है, उसको बनाये रखने का ही वे प्रयत्न करते हैं।

कहना न होगा, भारतीय जनतन्त्र की आलोचना और कठिनाइयों का बहुत बड़ा कारण उपरोक्त ही है।

(२) जनतन्त्र की दूसरी बड़ी कमी है संकुचित दृष्टिकोण। जनतन्त्र 'अपने देश का हित' इस संकीर्ण दृष्टिकोण को लेकर विकसित होता है। अपने देश के इस व्यामोह में से ही युद्ध, लूट-मार, आर्थिक प्रभुत्व आदि का उदय होता है। जनतन्त्र का उदय वैयक्तिक एकाधिकार की बुराइयों के कारण हुआ था। किन्तु वे ही बुराइयाँ अब सामूहिक अधिकार के बल पर जनतन्त्र में घर कर गई हैं। पहले एक व्यक्ति की सनक या महत्वाकांक्षा के कारण युद्ध होते थे, अब उन सनकों और महत्वाकाँक्षाओं ने सामूहिक रूप ले लिया है। अब वे सनक और महत्वाकांक्षायें एक की न रह कर सबकी बन गई हैं। इसलिये 'अपने देश के हित' के नाम पर निर्बल राष्ट्रो का आर्थिक शोषण चल रहा है, उनको सैनिक या राजनैतिक गुलाम बनाया जा रहा है। 'उपनिवेश' देश-हित की महत्वाकांक्षा का ही औरस पुत्र है। कभी उपनिवेश वैयक्तिक एकाधिकार की साम्राज्य लिप्सा के कारण बनते थे तो आज सामूहिक देशहित के परिणाम हैं।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि आज विश्व में उपनिवेश जनतन्त्री राज्यों के ही हैं।

(३) पार्टियाँ कुछ स्पष्ट-अस्पष्ट उद्देश्यों और स्वार्थों को लेकर

बनती हैं। शासकीय मामलों का निर्णय बहुमत के आधार पर होता है। अतः बहुमत के लिये पार्टियों में जोड़ तोड़ चालू रहती है। कई बार जोड़ तोड़ के बाद भी बहुमत नहीं बन पाता। कई बार इसी के लिये विपरीत उद्देश्यों वाली पार्टियाँ मिल जाती हैं। इससे देश की नीति में स्थिरता नहीं रहती। कई बार दो पार्टियाँ समान होने पर तीसरी छोटी सी पार्टी अनुचित लाभ उठाने या शासन को ठप्प करने की स्थिति में हो जाती है। कई बार साधारण बहुमत से निर्णय होते हैं और इस तरह जनसंख्या के एक विशाल भाग के प्रतिनिधित्व का मत व्यर्थ हो जाता है।

जनतन्त्र की तरह समाजवाद के भी रूप अनेकों हैं। साम्यवाद या कम्यूनिज्म उसका स्वस्थ और विकसित रूप है। समाजवाद जनतन्त्र और साम्यवाद का मध्यवर्ती है, जिसमें दोनों का सामञ्जस्य है। उसमें प्रणाली जनतन्त्रीय रहती है और उद्देश्य साम्यवाद के रहते हैं। अंतर इतना होता है कि साम्यवाद के अनुसार राज्य के आर्थिक स्रोतों पर राज्य का अधिकार रहता है, किन्तु समाजवाद में राष्ट्रीय क्षेत्र के साथ व्यक्तिगत क्षेत्रों को भी पनपने का अवसर दिया जाता है; धनिक और निर्धन के अन्तर को कुछ उदारता के साथ मिटाने का प्रयत्न होता है। साम्यवाद सारे आर्थिक स्रोतों का राष्ट्रीय-करण कर देता है। यहाँ तक कि व्यक्तियों का भी एक प्रकार से राष्ट्रीय-करण हो जाता है। व्यक्ति एक मशीन बन जाता है, उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, सोचने की स्वतन्त्रता, विचारने की स्वतन्त्रता सब समाप्त हो जाती है। आर्थिक गड्ढों को भरने के लिये टीलों को निर्दयता पूर्वक उड़ा दिया जाता है। प्रणाली निर्धारित हो जाती है। फिर व्यक्ति की

समाजवाद अथवा साम्यवाद

पसन्द का प्रश्न नहीं रहता। व्यक्ति को उसी के लिये करना है, उसी के बारे में सोचना और विचारना है। इसीलिये साम्यवाद में केवल एक ही राजनैतिक दल होता है। केवल उसी के चुनाव होते हैं। धर्म को वहाँ कोई स्थान नहीं होता। वर्ग-संघर्ष उसका नारा है। यह प्रणाली बल पूर्वक प्रचार पाने में विश्वास करती है।

इसके सिद्धान्त स्वयं ही अपनी कमी घोषित करते हैं। उद्देश्य सुन्दर हैं, साधन आलोचना योग्य हैं। हिंसा और आतंक साम्यवाद के मूल आधार हैं। धनिकों, जमींदारों, राजाओं की हिंसा द्वारा ही साम्यवाद स्थापित हो सका है। व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को आतंक द्वारा ही दबाकर रक्खा जा सकता है। वर्ग-विद्वेष और वर्ग-संघर्ष साम्यवाद की नीति है। हिंसा, आतंक, द्वेष और संघर्ष पर आधारित प्रणाली मानव के हितों के अनुकूल हो सकेगी, इसका निर्णय आतंक-कारी परिस्थितियों के हटने पर ही संभव हो सकेगा। क्योंकि उसी स्थिति में साम्यवादी देशों की जनता अपना मत और रुचि प्रगट कर सकने की स्थिति में हो सकेगी।

हाँ! साम्यवाद के प्रसार के लिये दूसरे देशों की अभावग्रस्त जनता, बेकार शिक्षितों और निरक्षर मजदूरों में उनके हितों का नारा उठा कर जो असन्तोष जाग्रत किया जाता है और उस जनता को वर्ग-संघर्ष के लिये उत्तेजित किया जाता है, उससे न केवल हिंसा, शोषण अन्याय और दमन का वातावरण उत्पन्न होता है, अपितु उससे जगत् में साम्यवाद के सम्बन्ध में सन्देहशील वातावरण बन गया है। इससे साम्यवाद के जो सुन्दर उद्देश्य थे, वे पीछे पड़ गए हैं।

जनतन्त्री देशों की तरह साम्यवादी देशों के भी उपनिवेश हैं, किन्तु प्रच्छन्न। आर्थिक शोषण, दमन आदि दोनों जगह समान हैं।

अपनी अनेक कमियों को लेकर ये सभी राजनैतिक प्रणालियाँ कसौटी पर हैं और अभी तक कोई प्रणाली विश्व की समस्याओं का सफल समाधान कर सकी है, यह नहीं कहा जा सकता।

आर्थिक

जनता में भौतिकवाद जीवन के मानदण्ड का आधार बन गया है। विज्ञान भौतिक जगत के रहस्यों को खोलकर जन-जीवन की सुख-सुविधा के लिये नित नये आविष्कार कर रहा है। और वे आविष्कार ही जनता के जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बनते जा रहे हैं। इन आविष्कारों ने जन-जीवन को सुविधा चाहे जो दी हो, किन्तु जन-जीवन को अत्यन्त आकांक्षामय, अतृप्तिपूर्ण बना दिया है। जिन्हें ये सुवि-धायें नहीं मिलीं, वे इनकी उपलब्धि के लिये लालायित रहते हैं और जिन्हें मिली हुई हैं, वे नई कल्पित आवश्यकताओं और इच्छाओं के कारण व्याकुल हैं। इसी तरह व्यक्ति में इच्छाओं की प्यास, आवश्य-कताओं की भूख जगाकर विज्ञान ने असन्तोष, अतृप्ति का वातावरण बना दिया है।

जन-जन से बने राज्य जन-जन की आकांक्षाओं के ही समष्टि रूप हैं। व्यक्ति की असीम आवश्यकताओं के साधनों और आर्थिक संग्रह को राष्ट्र उन्नत जीवन मान रहे हैं और उस मान तक पहुँचने के लिये अनुन्नत और अविकसित राष्ट्र कर्ज ले कर, भीख माँगकर, यहाँ तक कि अपने को बेचकर भी प्रयत्न कर रहे हैं। किन्तु जीवन-मान की कोई निश्चित सीमा नहीं। विज्ञान निरन्तर खोजों में लगा हुआ है। उन्नत राष्ट्र अपने साधनों द्वारा उसका पूरा सहयोग कर रहे हैं। अनुन्नत राष्ट्र इस दौड़ में उन्नत राष्ट्रों का अनुगमन कर रहे हैं। किन्तु वे एक वर्ष के लिये जो जीवन-मान का लक्ष्य लेकर चलते हैं,

और विश्वास लेकर चलते हैं कि इस क्रम से वे सीमित समय में उन्नत राष्ट्रों की समानता करने लगेंगे। किन्तु अगले वर्ष वे देखते हैं कि उन्नत राष्ट्रों और उनका अन्तर आज भी उतना ही है, जितना गत वर्ष था। इस बीच जीवन-मान को उठाने की प्रतियोगिता में उन्नत राष्ट्र भी दौड़ते रहे हैं।

प्रकृति ने मानव का पेट भरने और तन ढकने को पर्याप्त दे रक्खा है। सब मिल बांटकर खावें तो कोई भूखा और नंगा नहीं रह सकता। किन्तु जीवन-मान को उठाने और भौतिक साधन-सज्जाओं की इस स्पर्धा ने देशों के अपने साधनों को संकुचित और अपर्याप्त बना दिया है। तब वे देश एक दूसरे से देन-लेन को बाध्य होते हैं। अनुन्नत राष्ट्र उन्नत राष्ट्रों से साधन मांगते हैं, सहयोग मांगते हैं और उन्नत समर्थ राष्ट्र उनको वे साधन और सहयोग बड़े अनुग्रह के साथ देने को तैयार हो जाते हैं। उसके बदले में वे केवल इतना ही चाहते हैं कि उन अनुन्नत राष्ट्रों के आर्थिक स्रोतों, प्राकृतिक खनिज भंडारों और सम्भव हो सके तो उनके सैनिक सूत्रों पर अपना अधिकार जमा लें। कभी कभी यह अधिकार दूसरे रूप में किया जाता है। अपने देश की बढ़ती हुई जन-संख्या, अथवा जन-संख्या की बढ़ती हुई आवश्यकताओं, अथवा दूसरे देश की प्राकृतिक सम्पत्ति के भंडारों, अथवा अपने तैयार माल के उपयुक्त बाजारों की तलाश में भी दूसरे देशों को गुलाम या किसी रूप में अपने आश्रित बनाया जाता है। वस्तुतः आधुनिक युग में आर्थिक महत्वाकांक्षा, बाजार और प्राकृतिक खनिज स्रोतों पर अधिकार की आकांक्षा के कारण ही युद्ध होते हैं, उपनिवेश बनाये जाते हैं। अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने का उद्देश्य आर्थिक शोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस तरह आज आर्थिक समस्या ही युद्ध का रूप ले रही है। इसे

सुलझाने का उपाय किये बिना जगत में युद्ध की परम्परा का अन्त नहीं हो सकता। इसके दो ही उपाय हैं—या तो धन का समान वितरण करने की पद्धति निकले, अथवा सन्तोष और अपरिग्रह की भावना का वातावरण पैदा किया जाय।

संसार में वैयक्तिक और सामूहिक युद्धों और विवादों का एक कारण भूमि-समस्या भी रही है। इस समस्या का समाधान विभिन्न राजनैतिक पद्धतियों ने अपने अपने ढंग से किया

भूमि-समस्या

साम्यवाद ने राष्ट्र की समूची भूमि को राष्ट्र की सम्पत्ति घोषित कर दिया। इस तरह भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का टंटा ही समाप्त करने की दिशा में यह प्रयत्न था। किन्तु बाद में रूस सरकार ने भूमि के दो रूप स्वीकार किये, कोलखोज और सोवखोज। इस तरह सामूहिक खेती के साथ २ मकान के पिछवाड़े की भूमि पर व्यक्तिगत रूप से कुछ उगाने का अधिकार देकर भूमि का आंशिक स्वामित्व स्वीकार कर लिया। जनतन्त्र ने, जो पूंजीवाद का एक राजनैतिक रूप है, भूमि-समस्या के समाधान की दिशा में कोई उल्लेख योग्य समाधान प्रस्तुत नहीं किया। जहां सामन्तवाद, जमीन्दारी प्रथा अभी जीवित हैं, वहाँ तो अन्य आर्थिक स्रोतों की तरह भूमि पर भी कुछ व्यक्तियों का एकाधिकार है, और अनेकों व्यक्ति भूमिहीन हैं। किन्तु जहाँ जमीन्दारी प्रथा समाप्त कर दी गई है, वहाँ भूमि की सीमा एकड़ों में व्यक्तिशः निश्चित कर दी गई है। किन्तु वहाँ भी यह समस्या समाप्त हो गई, यह नहीं कहा जा सकता। अभी वहाँ भूमिहीनों, खेतिहर मजदूरों की समस्या, पड़ती जमीन, बंजर आदि की समस्या शेष है।

भारत सरकार इस समस्या का समाधान अपनी विशेष नीति के

अनुसार अहिंसक ढंग से कर रही है। राजा-महाराजा, जमीन्दार इनको नष्ट किये बिना सामन्ती प्रथा और जमीन्दारी प्रथा यहाँ समाप्त हो गई है। अब भूमि-समस्या को प्रान्तीय आधार पर सुलझाने का प्रयत्न चालू है। भूमि का सीमा-निर्धारण, चकबन्दी, सहकारी खेती आदि इसी दिशा के प्रयत्न हैं। वास्तव में यह एक शान्त क्रान्ति है।

भारत में एक ओर जहाँ सरकारी स्तर पर भूमि-समस्या सुलझाई जा रही है, वहाँ दूसरी ओर व्यक्तिगत रूप से जनता के सहयोग द्वारा अहिंसक पद्धति से इसके सुलझाने के प्रयत्न चालू हैं। आचार्य विनोबा भावे का भूमि-दान-आन्दोलन ही यह व्यक्तिगत प्रयत्न है। इस आन्दोलन में भूमि-स्वामियों से भूमिहीनों के लिये भूमि का दान मागा जा रहा है। इस प्रयत्न की सफलता के बारे में तो भविष्य ही बता सकेगा, किन्तु अब तक लाखों एकड़ भूमि दान स्वरूप मिल चुकी है, यहाँ तक कि बहुत से गाँव भी दान में मिल चुके हैं। ये दान में मिले गाँव और भूमि सबको समान रूप से वितरित कर दी गई है या की जा रही है। इस अहिंसक परीक्षण के परिणाम जानने की ओर लोगों की आँखें लगी हुई हैं। यदि विनोबा जी की यह पद्धति सफल हो सकी तो यह न केवल एक अपूर्व प्रयोग होगा, अपितु अहिंसा की प्रतिष्ठा से इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

युद्धों का इतिहास जगत् की आदि जितना पुराना है। जगत् में सदा से ही विज्ञान नये २ आविष्कारों में लगा हुआ है। अतः युद्ध का विस्तार भी इन आविष्कारों के अनुसार ही रहा है। आज विज्ञान के विकास के कारण पर्वतों और समुद्रों की बाधायें तथा देशों की कृत्रिम सीमायें समाप्त हो गई हैं। सारी दुनिया एक

विश्व-युद्ध बनाम विश्व-शान्ति

नगर जैसी रह गई है। अतः एक देश में होने वाली घटनाओं का प्रभाव सारे जगत् पर पड़ता है। आज दो देशों का युद्ध नामक कोई चीज इतिहास के पृष्ठों में नहीं रह गई है। अब तो दो देशों का युद्ध विश्व का युद्ध हो जाता है। फिर युद्ध में सैनिक-असैनिक का कोई भेद नहीं रह गया। अब युद्ध में केवल सैनिक ही नहीं मरते, निरीह नागरिक-स्त्री, बच्चे, बुड्ढे, बीमार समान रूप से मौत के घाट उतारे जाते हैं। जन-हानि की तरह भीषण धन-हानि भी होती है। इन कारणों से युद्ध से सभी डरते हैं, सभी आतंकित हैं, यहाँ तक कि युद्ध-लोलुपी और मौत के व्यवसायी भी युद्ध का प्रारम्भ करने में डरते हैं। इसलिये शान्ति की पुकार आज चारों ओर सुनाई दे रही है।

विज्ञान ने युद्ध को जितना भीषण और मंहगा बना दिया है, वहाँ उसने युद्ध की संभावना को समाप्त करने की दृष्टि से भी अपने ढंग के नये नये आविष्कार किये हैं। अब विज्ञान सर्व संहारक शस्त्रास्त्रों के निर्माण में जुट रहा है। परमाणु बम और उद्जन बमों से भी अधिक भीषण प्रक्षेपणास्त्र निर्मित किये जा चुके हैं, जिनकी गति अठारह हजार मील फी घण्टा है तथा जिनकी विनाशक शक्ति असीम है। दुनिया के दो विरोधी गुट इस प्रकार के सर्व संहारक शस्त्रास्त्रों की प्रतियोगिता में निरन्तर संलग्न हैं। उनका विश्वास है कि इस प्रकार के शस्त्रास्त्रों से विश्व शान्ति कायम रक्खी जा सकती है। दोनों ओर से खुली धमकियाँ दी जा रही हैं कि यदि दूसरी ओर से आक्रमण हुआ तो ऐसे अस्त्रों के प्रयोग में कोई संकोच नहीं किया जायगा।

आज स्थिति यह है कि दोनों ओर शस्त्र तने हुए हैं। दोनों ही अपने घात प्रतिघात में लगे हुए हैं, दोनों ही अवसर की तलाश में हैं दोनों को ही एक दूसरे पर भरोसा नहीं है, इसलिये दोनों

सावधान हैं।

कैसी विडम्बना है यह कि शक्ति में जिनका विश्वास है, वे हाथों में शस्त्र थाम कर मुँह से शान्ति की बात करते हैं। जिन राष्ट्रों के पास इस प्रकार के शस्त्रास्त्र हैं, वे आज दुनिया की शान्ति के पहरेदार बने हुए हैं। रक्त-लोलुपी दूसरों के रक्त पर अपना एकाधिकार चाहते हैं, और चाहते हैं—दूसरा एक बूँद रक्त न पा सके। यदि दूसरा रक्त चूसने के लिये आगे को मुँह बढ़ाता है तो झट पहला गुर्राने लगता है, किन्तु स्वयं जोंक की तरह चिपटा हुआ है, वह स्वयं हटना नहीं चाहता। इससे बड़ी विडम्बना क्या होगी कि संसार के प्रत्येक देश की स्वतन्त्रता के नारे लगाने वाले अनेक देशों को गुलाम बनाए हुये हैं; अनेक देशों को उपनिवेश बनाए हुए हैं; अनेक देशों पर आर्थिक प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं; अनेक देशों को अपने सैनिक तावे में रक्खे हुए हैं। वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। और वहाँ वे जो रह रहे हैं, वह भी बड़े अनुग्रह के साथ।

शक्ति के द्वारा स्थापित यह शान्ति युद्ध के आतंक के बीच सांस ले रही है। दुनिया भयानक बारुदखाने के ऊपर बैठी हुई है और समझाया जा रहा है—कैसी शान्ति है! लेकिन अगर किसी की भूल से, उत्तेजना में, बाध्यता में कोई एक चिनगारी उस बारूदखाने में आकर गिर पड़ी तो दुनिया का क्या होगा, इस कल्पना से ही सिहरन हो उठती है। आज सभी अपने को असुरक्षित पा रहे हैं। शस्त्रों की छाया में आदमी कितना राक्षस, निर्दय हो उठा है, किन्तु फिर भी कितना असहाय अपने को अनुभव कर रहा है! विश्व-शान्ति का इससे बड़ा उपहास और क्या होगा। शायद आदमी की इतनी दयनीय दशा कभी न हुई होगी।

आज दुनिया में ऐसे भी देश हैं, जो इन दोनों गुट्टों से अपने को अलग रक्खे हुए हैं, किन्तु अपने साधनों के अनुसार वे भी अनिच्छा-पूर्वक ही सही, शस्त्र-संग्रह और निर्माण के लिये विवश हैं। ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, जो विश्व-शान्ति के लिये इन बमों और प्रक्षेपणास्त्रों का एक मात्र विकल्प अहिंसा स्वीकार करते हैं, किन्तु अभी उनकी कोई संगठित आवाज नहीं।

इस तरह विश्व-शान्ति नये समाधान की तलाश में है, ऐसा समाधान, जो विज्ञान को शस्त्रास्त्रों के अनुसन्धान और निर्माण से विमुख करके मानव-कल्याण के अनुसन्धान और शान्ति के निर्माण में लगा सके; जो प्रभाव क्षेत्र के विस्तार की आकांक्षाओं को समाप्त करके सब देशों और सब व्यक्तियों को 'भूल करने की स्वतन्त्रता और उसे सुधारने का विवेक' दे सके; और जो मनुष्य की रक्त-लोलुप वृत्ति को पारस्परिक मैत्री में बदल सके। इसके बिना युद्ध का आतङ्क और भय समाप्त करने का कोई निश्चित आश्वासन नहीं हो सकता।

विश्व के सामने एक बड़ी समस्या अनैतिकता की है। यह कैसे पैदा हुई, विश्वास पूर्वक इसका कोई निश्चित कारण तो शायद नहीं

नैतिक

बताया जा सकता। किन्तु अंशतः यह मानव की सहज निर्बलता का परिणाम है, आंशिक रूप से इसका कारण युद्ध का वातावरण, भौतिक आकांक्षायें, सुख के साधनों का असमान वितरण है। कारण चाहे जो हो, किन्तु आज मनुष्य का जिस तीव्र गति से नैतिक ह्रास हो रहा है, वह अवश्य चिन्ता का विषय है और यदि इसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया गया तो मनुष्य एक दिन पूरा शैतान बन जायगा, इसमें हमें सन्देह नहीं है। मनुष्य का यह नैतिक ह्रास आर्थिक, लैंगिक

बौद्धिक सभी क्षेत्रों में हो रहा है। शिक्षा, मनोरंजन, साहित्य, कला, परिधान सबमें ही अनैतिकता बढ़ रही है। इतना ही नहीं, अनैतिकता आज सभ्यता का रूप लेती जा रही है और उससे नैतिक मूल्यों और आदर्शों से लोगों की आवस्था उठती जा रही है। दुनिया के लिये खतरे की बात यह है कि आज विज्ञान की दौड़ में नैतिकता पिछड़ गई है।

आज विश्व में सामाजिक न्याय की उपेक्षा होने के कारण द्वेष, ईर्ष्या और स्पर्द्धा बढ़ गई है; जाति-भेद, नस्ल-भेद, धर्म-भेद और दल-भेद के कारण मनुष्य, मनुष्य के बीच भेद की एक दीवार खड़ी हो गई है। इनके दूर करने के कानून पास हो चुके हैं, किन्तु मनुष्य को न्याय नहीं मिल पा रहा। कानून और न्याय का यह अन्तर बढ़ता ही जा रहा है। फलतः गोरी चमड़ी वाला व्यक्ति नीग्रो के साथ बैठना अपमानजनक समझता है। अमरीका में नीग्रो छात्रों के साथ पढ़ने में गोरे छात्रों को आपत्ति है। दक्षिण अफ्रीका में मुट्ठी भर गोरे वहाँ के मूल निवासी नीग्रो लोगों को हिकारत की दृष्टि से देखते हैं, वहाँ की सरकार जाति पृथक्करण और रक्त-शुद्धि के आधार पर देश के सारे कानून बनाती है। इससे गोरों की और दूसरे लोगों की बस्तियाँ अलग हो गई हैं, बसें और स्कूल पृथक् हो गये हैं, सड़कें और कानून अलग हो गये हैं। भारत में छूआछूत कानूनन् निषिद्ध हो गई है किन्तु लोकमानस से अभी निकल नहीं पा रही।

न्याय बनाम समाज-व्यवस्था

जाति-भेद और नस्ल-भेद की तरह देश-भेद भी बलात् किया जाता है। हर देश के नागरिक कानून अलग हैं। किसी देश का नागरिक दूसरे देश में जाकर स्थाई रूप से बस नहीं सकता। दूसरे देश में

जाने के लिये पार-पत्र और बीसा की आवश्यकता होती है। किसी देश के नागरिक का प्रणय सम्बन्ध दूसरे देश की महिला के साथ हो गया है तो उनको साथ रहने में कानूनी बाधायें पड़ती हैं। मनुष्य की नैसर्गिक कोमल भावनाओं पर भी कानून का नियन्त्रण है।

आज सामाजिक न्याय कहाँ प्रतिष्ठित हो पाया है—न राष्ट्रीय क्षेत्र में, न अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में। राष्ट्रीय क्षेत्र व्यक्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कर लेते हैं। कर देकर व्यक्ति को अपने निवास, उदरपूर्ति, स्वास्थ्य, शिक्षा-दीक्षा, वस्त्र, और जीवन सम्बन्धी दूसरी आवश्यकताओं एवं विकास के लिये राज्य की ओर से निश्चिन्तता का आश्वासन मिल जाना चाहिये। किन्तु यह आश्वासन अभी व्यक्ति कहाँ पा सका है। वह कर देने के बाद भी इन समस्याओं के प्रति आश्वस्त न नहीं। वह जो कर देता है, उसका बहुत बड़ा भाग तो अपने कल्पित शत्रु-मानवों के संहार की तैयारी में लग जाता है, चौथाई से अधिक व्यवस्था के नाम पर व्यय हो जाता है। तब उसे आश्वासन देने लायक पूंजी रहती कहाँ है। वास्तव में आज सारे विश्व में विनाश के लिये एक वर्ष में जितना धन व्यय किया जाता है, वह राशि मानव-निर्माण और विकास के लिये कई वर्षों के लिये पर्याप्त हो सकती है।

इसी तरह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में न्याय की प्रतिष्ठा कहाँ हो पाई। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन-संयुक्त राष्ट्र-संघ आदि इसी न्याय-प्रतिष्ठा के लिये उदित हुए थे। किन्तु वे अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के केन्द्र बन गये हैं और इस तरह उनसे विश्व के निर्बल राष्ट्रों और उपेक्षित मानव-समूहों को जो आशा थी, वह भी धीरे धीरे धूमिल पड़ने लगी है।

ये और इसी प्रकार की और भी बहुत सी समस्यायें हैं, जिनसे आज का मानव चिन्तित है। क्या ये समस्यायें सदाकाल ऐसी ही बनी

रहेंगी और मानव सदा ही इसी प्रकार चिंतित, भय और आतंक की छाया से ग्रसित बना रहेगा।

सारे संकटों का मूल भौतिकवाद या जड़वाद है

यदि हम यह विश्वास करलें कि मानव अपनी समस्याओं का समाधान पाने में सदा असफल रहेगा, तो निश्चय ही यह मानव की असीम शक्तियों के प्रति अनास्था होगी। हम नहीं भूल सकते कि मानव ने कठिनाइयों के बीच में से आगे बढ़ने की सदा राह खोजी है; पहाड़ों की कठिन चट्टानों का हृदय चीर कर वह आगे बढ़ा है; समुद्र की तरल ऊर्मियों ने उसका भार उठाया है; पृथ्वी और आकाश, हवा और हरियाली ने उसकी दासता ओढ़ी है। वह प्रकृति-विजेता है, विश्व-विजेता है, आत्म-विजेता है। उसने ही कठिनाइयों का जाल बुना है और उसे काट कर वह एक दिन फिर उन्हीं में से अपनी राह पायगा। बस, मानव के शिथिल आत्म-विश्वास को एक बार फिर सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है। मानव अँधेरे में राह भटक गया है किन्तु राह पाने की उसकी इच्छा ज्यों की त्यों बनी हुई है। निराशा से बचने का यह सम्बल अभी तक शेष है।

राह ढूँढनी है तो एक बार सोचना होगा, वह कहाँ भटक गया। आवश्यकता हो तो लौटने में लज्जा नहीं। यह लौटना नहीं, ठीक राह की ओर बढ़ना होगा।

तो आइये, सोचें, कहाँ आकर भटक गए।

याद आ रहा है, मानव भोग-युग की नींद से जगा था और अँगड़ाइयाँ लेकर कर्म-क्षेत्र में पैर रख रहा था। विज्ञान ने उसके चरणों को दृढ़ता दी। तब मानव अध्यात्म को साथ लेकर विकास की

मंजिल पर चल दिया। विज्ञान उसके कदम पर कदम रख कर चलने लगा। और यों मंजिल पर मंजिलें पूरी होती गयीं। मानव के पैर थकते तो विज्ञान सहारा देता, भूख सताती तो अध्यात्म तृप्त कर देता। विज्ञान तब अध्यात्म का सहयोगी था। फलतः मानव-समाज में तब शान्ति थी, सन्तोष था। सुख-दुःख के जीवन में नैराश्य, भय और आतंक नाम को न था।

तब एक मोड़ आया। वहाँ शैतान खड़ा था। मानव को देखकर बोला—कहाँ जाना है आपको? मानव ने बताया-'सुख के नगर में।' शैतान ने बड़ी विनय के साथ कहा—मुझे भी साथ लेते चलिये। साथ रहेगा तो रास्ता कटने में सुविधा रहेगी।' मानव इनकार न कर सका।

मार्ग में बातचीत होने लगी। मानव ने परिचय पूछा—तो शैतान ने जवाब दिया—जी, मेरा परिचय क्या। इधर अभी अभी आया हूँ, वैसे तो सब कहीं मुझे जानते हैं। मेरा नाम 'भौतिकवाद है।' निवास पूछा तो बताया-'मायानगरी।' मानव को रास्ता काटना था। बात आगे बढ़ाई-'कैसी है वह नगरी'? बस शैतान इसी प्रश्न की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने बखान करना प्रारम्भ किया—वहां के मकान रत्न जटित हैं। छतों में नीलम पन्ने लगे हैं। उसके खम्भे हीरों के बने हैं। नींव में सोना लगा है। उनकी किवाड़ें चन्दन की बनी हैं। हर मकान के भीतर लम्बे लम्बे उद्यान हैं, प्रमोद-वाटिका हैं। वहां के पेड़ कभी सूखते नहीं, फूल कभी मुरझाते नहीं। केलि-कीड़ा के लिये कुञ्ज हैं और जल-विहार के लिये सरोवर। स्त्रियाँ वहाँ नग्न क्रीड़ायें करती हैं। सरोवरों का जल बड़ा मादक है।

और इसी तरह न जाने क्या क्या वर्णन करता रहा। मानव सुन-सुन कर आश्चर्य में भर उठा। उसे सन्देह होने लगा—कहीं सुख का

नगर वही तो नहीं है। कहीं भूलकर गलत राह तो नहीं पकड़ ली।

चलते चलते एक दिन बोला—भाई! हम दोनों आज से मित्र बन गये। न हो तो चलें तुम्हारे नगर को देख आवें। भौतिक-शैतान मुस्कराया और बोला-मेरा सौभाग्य है। अधिक दूर नहीं है वह नगर, सामने ही तो है।

मानव पड़ गया भौतिकवाद के साथ। अध्यात्म ने टोका—'मूर्ख! अपरिचित पर विश्वास कर अपनी मंजिल छोड़ रहा है।' मानव ने कहा—'तुम साथ तो हो। डर काहे का।' तब विज्ञान अध्यात्म और भौतिकवाद के सहयोग से मानव की राह बनाता चला। अब युद्ध प्रारम्भ हो गये। युद्ध जीतने के अस्त्र भी निकले, किन्तु अध्यात्म के हस्तक्षेप के कारण युद्ध सैनिकों तक ही सीमित रहा। दिन में युद्ध करते और रात में भाइयों की तरह मिलते। युद्ध के नियम तक बन गये। मानव में इस काल में अतृप्ति बढ़ी, असन्तोष बढ़ा, भूख जगी, छीना झपटी करने पर उतर आया, किन्तु एक मर्यादा रही हर बात की।

अब मानव मंजिल पर मंजिलें पार करने लगा। अध्यात्म ने एक बार फिर उसे झकझोर कर जगाना चाहा-'मूर्ख! अब भी लौट चल अपनी राह पर। तेरे साथ धोका हो रहा है।' किन्तु मूर्ख मानव न माना, न माना। आखिर हार कर अध्यात्म खीज उठा—'जाना है तो जा। मैं नहीं चल सकता अब तेरे साथ। मत भूल, तू मेरा है। एक दिन तुझे पश्चाताप होगा और तब तुझे मेरी आवश्यकता अनुभव होगी। मैं उस दिन की प्रतीक्षा में यहां बैठा रहूँगा। मुझे विश्वास है, तू एकदिन मुझे खोजता यहाँ आयगा।'

अध्यात्म वहीं रह गया। भौतिक शैतान हँस पड़ा। अब विज्ञान भौतिकवाद के सहारे मानव का पथ प्रशस्त करने में जुट गया। मानव

चलता रहा, पर मायापुरी न मिली। मानव ने शैतान से पूछा तो वह बोला—थी तो यहीं, न जाने कहाँ गई। शायद आगे हो।

मानव में फिर उत्साह जगा चलने का। किन्तु वह थक गया था। युद्धों के कारण वह क्षत-विक्षत भी हो चुका था। अब शैतान विज्ञान को लेकर तेज चलने लगा। मानव उनके पीछे घिसटने लगा। विज्ञान को प्रेरित करके भौतिक शैतान नये नये करिश्मे दिखाने लगा, माया नगरी की ओर आकृष्ट करते रहने के लिये वह प्रलोभन भी देने लगा। अब मानव उन प्रलोभनों में फंस गया। जानता है, जहर पी रहा हूँ, जाल में फंस गया हूं। उसे कभी कभी अपने मित्र अध्यात्म की याद आ जाती है। किन्तु अवश है, बड़ा दुखी है।

शैतान विज्ञान को लेकर सरपट दौड़ रहा है। मानव मायानगरी के भ्रम में फंस गया है। वह देख रहा है, अनुभव कर रहा है कि यों आग में कब तक चलता और जलता रहूंगा। दुखी है, किन्तु भौतिक-वाद शैतान के प्रलोभन में फंस गया है। कितना अवश हो गया है आज वह! और फिर विज्ञान—उसका सेवक उसकी सुख-सुविधा के नाम पर विनाश के साधन तैयार करता जाता है। अब वह साथ भी नहीं दे रहा। साथ दे रहा है भौतिकवाद का, मायानगरी के दूत का, विदेशी का। पकड़ पाये तो कान खींचे। किन्तु जो पकड़ सकता था, वह अध्यात्म, उसका मित्र तो कहीं रह गया है।

इस विडम्बना और व्यथा से मुक्ति का क्या उपाय है।

अहिंसक समाज बनाम विश्व-सरकार

निश्चय ही भौतिकवाद के साथ विज्ञान का सहयोग इस विडम्बना और इस व्यथा के मूल कारण हैं। विज्ञान जब तक अध्यात्म के सहयोग से पनपा, तबतक मानव को कोई दुःख-

दैन्य न था। तब विज्ञान मानव की सुख सुविधा के लिये उद्योग करता था, किन्तु मानवता को सुरक्षित रखता था। आज विज्ञान भौतिकवाद के सहारे बढ़ रहा है। अतः अब उसकी रक्षा और चिन्तन का केन्द्र बिन्दु भौतिक विकास हो गया है। उसे इसकी चिन्ता नहीं कि यह विकास निर्माण की दिशा में है या विनाश की दिशा में; उसे चिन्ता नहीं कि उस विकास के नीचे मानवता दबी पिसी जा रही है।

अतः आज अगर मानव के दुःख और दैन्य को समाप्त करना है तो भौतिकवाद के स्थान पर अध्यात्म को प्रतिष्ठित करना होगा और विज्ञान को अध्यात्म के साथ नत्थी करना होगा। तब विज्ञान की महान् शक्ति विनाश में न लगकर निर्माण में लगेगी, मानव-कल्याण का मार्ग तब वह प्रशस्त कर सकेगी।

यह कार्य कठिन अवश्य है किन्तु असंभव नहीं है। समाज के वर्तमान मूल्यों, विश्वासों और मान्यताओं को बदल कर नये मूल्य स्थापित करने होंगे, नये विश्वास और नई मान्यताओं की नई दृष्टि देनी होगी। सामाजिक प्रतिष्ठा के मूल्याङ्कन का आधार तब भौतिक समृद्धि नहीं होगा, अपितु मानव की मानवता और नैतिकता होगी। मानव-कल्याण के सूत्र तब झूठ और विश्वासघात से भरी राजनीति के हाथों में न रहेंगे, अपितु नैतिक आचारों को जीवन में मूर्तरूप देने वाले सच्चे मानवों के हाथों में होंगे।

इन मायनों में एक ऐसी समाज का निर्माण करना होगा, जो अहिंसा पर आधारित हो; जिसके सारे जीवन-व्यवहार अहिंसा द्वारा संचालित हों; जहाँ कोई वर्ग-भेद, वैषम्य, ऊँच-नीच की कल्पना न हो; सबको विकास के समान अवसर, जीवन की समान सुविधायें उपलब्ध हों; सारे जगत् के मानव पारस्परिक बन्धुत्व, मैत्री के उन्मुक्त

वातावरण में एक विशाल परिवार के सदस्य के रूप में ही सोचें; जहाँ देश, जाति, सम्प्रदाय आदि की संकीर्ण मर्यादायें टूट जायँ। स्पर्धा हो तो नैतिकता के विकास में; युद्ध हो तो अपनी बुराइयों से।

इस प्रकार की वर्गहीन समाज के निर्माण के लिये एक विश्व-सरकार के निर्माण का कार्य पूरा करना होगा। एक विश्व-सरकार की कल्पना आज कोई नवीन सूझ नहीं रह गई है। ऐसी सरकार की कल्पना दशाब्दियों से चल रही है। मानना होगा, यह असंभव कल्पना नहीं है। प्राचीन भारत में छोटे-छोटे गाँवों के राजा होते थे। दशहरे पर सीमोल्लंघन किया जाता था। आपस में युद्ध होते थे। जो हारता था, उससे एक निश्चित रकम नजराने के तौर पर ले ली जाती थी। उस समय के लोगों को शायद कल्पना भी न हो सकती थी कि कभी इसी जगत् में ऐसी भी एक संस्था बन सकेगी, जहाँ तमाम राष्ट्रों के प्रतिनिधि बैठकर अपनी समस्याओं पर चर्चा किया करेंगे। आज तो संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण के बाद एक विश्व-सरकार की कल्पना बहुत ही संभव हो गई है। यदि ऐसी सरकार बन सकी, जो एक न एक दिन अवश्य बन कर रहेगी, तो संसार से साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्रों के पारस्परिक युद्ध, प्रभाव क्षेत्र के विस्तार के प्रयत्न, आर्थिक शोषण, युद्ध-सामग्री का असीमित उत्पादन और सर्व संहारक शस्त्रास्त्रों का निर्माण ये सारी बातें समाप्त हो जायेंगी। तब दुनिया के सारे राष्ट्र विश्व-सरकार के प्रान्त हो जायेंगे, जिनकी एक केन्द्रीय सरकार होगी। तमाम प्रान्तीय सरकारों को स्वायत्त शासन के निश्चित अधिकार प्राप्त होंगे, किन्तु सुरक्षा, मुद्रा, यातायात, और शस्त्रास्त्र के उत्पादन जैसे विषय केन्द्रीय सरकार के आधीन रहेंगे। इस विश्व-सरकार में श्रम की प्रतिष्ठा होगी। भूमि और धन का समान वितरण किया जायगा। सारे

संसार की आबादी सभी प्रान्तों में (वर्तमान देशों में) भूमि की योग्यता के अनुसार पुनः बसाई जायगी। इसमें काली, गोरी, पीली, भूरी, साँवली सभी चमड़ियों के मनुष्य एक विशाल परिवार के सदस्य समझे जायँगे। अतः वहाँ न कोई छोटा होगा, न बड़ा और न किसी के कोई विशेष अधिकार होंगे।

इस विश्व-सरकार का आधार अहिंसा होगी। सारे नियम और विधान अहिंसा के आलोक में मनुष्य-हित के लिये निर्मित होंगे, मनुष्य नियम और विधान के लिये न होगा। जगत् में समभाववाद होगा। चुनाव की प्रणाली सरल होगी। प्रतिनिधि बनने की शर्त मनुष्य की नैतिकता, ईमानदारी और मानव सेवा के साथ-साथ विशेष शैक्षणिक योग्यता होगी। व्यक्ति स्वयं प्रतिनिधि बनने के लिये चुनाव नहीं लड़ेगा। चुनाव सर्वसम्मति से होगा। कोई राजनैतिक पार्टी नहीं होगी। शासकीय पद सेवा के प्रतीक होंगे, सत्ता के नहीं। मंत्रि-पद की शर्त में नैतिकता और जन सेवा के साथ-साथ अपने विषय की पूरी निष्णाता आवश्यक होगी। मंत्रियों या दूसरे प्रशासकीय पदाधिकारियों को सत्ता का कोई विशेष पारिश्रमिक नहीं मिलेगा। राज्य की ओर से जनता को भोजन, निवास, वस्त्र, शिक्षा, औषधि आदि का जो आश्वासन मिल चुका है, उसके अनुसार इन पदाधिकारियों की व्यवस्था भी जनता के अन्य साधारण लोगों की तरह होगी। वैसे ही मकान, वैसे ही वस्त्र, वैसा ही भोजन और वैसी ही सुविधायें। विशेष सेवा का पुरस्कार जन-सम्मान होगा। और वह भी वीर-पूजा (Hero worship) के रूप में नहीं, जयकारों के रूप में नहीं। आय के सारे स्रोतों पर समाज का समान अधिकार होगा। बैंकें नहीं होंगी, कोष होंगे। संग्रह और संचय का कोई अवसर नही रहेगा। मुद्रा की बजाय

जिन्सों में ही जीवनोपयोगी सुविधायें दी जायँगी। कुल मिलाकर धन की कीमत नहीं होगी, मनुष्य की कीमत होगी।

और यह भी कि इस राज्य में स्वतन्त्रता केवल मानव-जगत् तक ही सीमित नहीं होगी। किन्तु प्राणीमात्र इस राज्य में स्वतन्त्रता अनुभव कर सकेंगे। हत्या चाहे मनुष्य की हो या कुत्ते की, कानून दोनों मामलों में समान दृष्टि रक्खेगा। हत्या, डाकेजनी या दूसरे अपराधों की सजा शारीरिक नहीं दी जायगी, अपितु मनोवैज्ञानिक दी जायगी। ऐसे व्यक्ति जेलों में नहीं, उपचार-गृहों में रक्खे जायँगे और वहाँ उनकी उत्तेजना के कारणों की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक खोज करके उन्हें सुधरने का अवसर दिया जायगा।

इस प्रकार की विश्व-सरकार और अहिंसक समाज की कल्पना है तो मधुर। किन्तु प्रश्न यह है कि वर्तमान विश्व के भौतिक वातावरण और राकेट और अन्तर्महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के इस युग में ऐसे समाज और सरकार की रचना का दायित्व कौन ले सकेगा? क्या समाज के सारे मनुष्य अहिंसक बन जायेंगे, यह सम्भव हो सकेगा? क्या यह कल्पना केवल पागलों की कल्पना न मानी जायगी?

निश्चय ही इन प्रश्नों का उत्तर उन्हें देना है, जो आज भी अहिंसा में निष्ठा रखते हैं। उन्हीं लोगों का दायित्व है कि अब अहिंसा की केवल मौखिक उपयोगिता न बताकर अपने जीवन-व्यवहारों से इसके प्रभाव का मूल्याङ्कन करने के लिये जगत् को प्रेरित करें। हमारा दृढ़ विश्वास है कि समाज में हर व्यक्ति अहिंसक बन सकता है। यद्यपि सारा जगत् अहिंसक हो जायगा, यह एक क्लिष्ट कल्पना होगी। फिर भी अधिकांश व्यक्तियों को अहिंसा के रचनात्मक दृष्टिकोण और प्रायोगिक उपयोगिता द्वारा अहिंसा के लिये प्रेरित किया जा

सकता है।

आज तक संसार में किसी एक सिद्धान्त का अनुगमन सारे व्यक्ति करने लगे हों, ऐसा कभी नहीं हुआ। किन्तु वातावरण का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ सकता है। यदि आज सारे लोग भौतिकवाद की चमक से चकाचौंध हैं तो उसके स्थान पर आध्यात्मिक वातावरण बनाने पर अवश्य ही लोग उसके रंग में रंग जायँगे और अहिंसा को स्वीकार कर लेंगे।

भौतिकवाद का रंग राज-सत्ताओं द्वारा फैलाया गया था, राज-नीतिज्ञ उसे गहरा करने में लगे हुए हैं। अहिंसा का रंग छिटकाने का काम अब धार्मिकों को, सभी धर्मों के अनुयायियों को लेना होगा। अब धर्मों की कसौटी यह होगी कि वे ऐसी अहिंसक-समाज की रचना द्वारा विश्व-शान्ति और विश्व-कल्याण के लिये क्या योग-दान कर सकते हैं। सम्प्रदायों ने आजतक मनुष्य को मनुष्य से जुदा करने का काम किया है। धर्मों को अब मनुष्य से मनुष्य को मिलाने का काम करना होगा। भौतिकवाद और विज्ञान के द्वारा मानवता को जो गहरे व्रण लगे हैं, उन्हें भरने का काम धर्मों को करना होगा। जब धर्मों की साम्प्रदायिक मान्यतायें दबेंगी और नैतिक मान्यतायें उभरेंगी, तब धर्म अपनी सार्थकता जगत् पर सिद्ध कर सकेंगे। हमारी विनम्र मान्यता है कि कार्लमार्क्स ने धर्म को अफीम की जो संज्ञा दी थी, वह वस्तुतः धर्म के साम्प्रदायिक रूप को दी थी, धर्म के नैतिक रूप को नहीं। सभी धर्मों में नैतिक मान्यतायें हैं, सभी धर्मों में अहिंसा को महत्व दिया गया है। धर्म की इन्हीं नैतिक मान्यताओं और अहिंसा के इसी विश्वास के सहारे धर्मों को अहिंसक-समाज के निर्माण में जुट जाना है। यही आज जगत् की त्रस्त मानवता की गुहार है।

भौतिकवाद और विज्ञान का सहयोग करके विश्व ने मानव-कल्याण के लिये की गई सेवाओं की वास्तविकता को अब पहचान लिया है।

अहिंसा का भविष्य

'संहार की शक्ति को दबाने के लिये उससे बड़ी संहारक शक्ति की आवश्यकता है' इस सिद्धान्त का प्रयोग करके आज जो सर्वनाश की स्थिति आ गई है, इस सिद्धान्त में विनाश के लिये जो निमंत्रण छिपा है, वह भी अब संसार पर प्रगट हो चुका है। सभी अनुभव करने लगे हैं कि विनाश की इस प्रतियोगिता का अन्त अवश्य होगा और यदि यह प्रतियोगिता इसी प्रकार विश्व के रंग मंच पर चलती रही तो वह अन्त मानव जाति के अन्त के रूप में आवेगा।

सर्वनाश की इस संभावना से ही सब काँप रहे हैं। मौत के इन खेलों के कारण संसार पर विकराल मौत की छाया स्पष्ट दिखाई दे रही है। आज सारा जगत् भय और आतंक के नीचे दबा हुआ साँस ले रहा है। दिल और हाथ उनके भी काँप रहे हैं, जो अपने हाथों में विनाश के शस्त्रास्त्र थामे हुए हैं, क्योंकि दूसरी ओर भी वैसे ही, बल्कि उनसे भी भयंकर शस्त्रास्त्र दिखाई दे रहे हैं।

अब लोग अनुभव करने लगे हैं कि शक्ति की स्पर्द्धा विश्व-शान्ति का उपाय नहीं है, केवल अहिंसा ही वह उपाय हो सकता है। विनाशक शस्त्रों का प्रभावशाली विकल्प अहिंसा के अतिरिक्त और कोई नहीं बन सकता, इस प्रकार की आवाजें चारों ओर से उठने लगी हैं। अब अहिंसा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखी जाती, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय बन रही है। यदि आज अहिंसा के सम्बन्ध में कोई संकोच है तो वह यह है कि अहिंसा को कभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के रूप में आज तक परखा नहीं गया है; अहिंसा सशस्त्र सेनाओं का,

विनाशक अस्त्रों का सफल प्रतिरोध कर सकती है, इसे प्रभावक ढंग से अब तक सिद्ध नहीं किया जा सका है। यदि मानव-कल्याण के लिए, जगत् को विनाश के साधनों की व्यर्थता जताने के लिए और संसार की नैतिक चेतना जागृत करने के लिए अहिंसा पर अविचल आस्था रखने वाले एक लाख व्यक्ति शान्ति दल बना कर हर उस स्थान पर पहुँच जायँ, जहाँ युद्ध होने की संभावना हो और पहली गोली अपनी छाती पर झेलने को तैयार हो जायँ तो भले ही वे एक लाख व्यक्ति अपनी अहिंसक निष्ठा के कारण मर जायँ, किन्तु वे अपने आत्मोत्सर्ग और निष्ठा से युद्ध, विनाश और शस्त्रास्त्रों के विश्वास को विश्व में से सदा के लिए उठा जायँगे।

हर सिद्धान्त बलिदान चाहता है, हर विश्वास उत्सर्ग चाहता है। विनाश पर विश्वास करने वाले जगत् के मानव-प्राणों को दाँव पर लगा रहे हैं; अपने विश्वास को सही सिद्ध करने के लिए लाखों व्यक्तियों की सेना खड़ी कर रहे हैं; मानव जगत् के सर्वश्रेष्ठ बुद्धि-बल को विनाश के साधन खोजने में जुटा रहे हैं और मानव को सुख देने की क्षमता रखने वाले धन को मानव-संहार के निमित्त बहा रहे हैं। किन्तु दूसरी ओर अहिंसा में जिनका विश्वास प्रबल है वे संहारक साधनों की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए अभी क्या कर रहे हैं? संहारक शस्त्रों द्वारा हिरोशिमा और नागासिका नगरों की चिता जला कर और वहाँ लाखों मानवों की लाशों का ढेर लगा कर उस श्मसान में शान्ति का जो झण्डा गाढ़ा गया था, उससे हिंसा-वादियों को विश्व-शान्ति के लिए संहारक शस्त्रों की उपयोगिता सिद्ध करने का एक अवसर मिल गया है। किन्तु युद्ध में मृत मानवों के लोथड़ों में से निकलने वाले प्रच्छन्न आर्तनादों, मृतों के सम्बन्धियों की चीत्कारों और मरने से बचे

हुए मानव-जगत् के आतंक विजड़ित हृदयों की सहमी हुई सांसों से आज सारा आकाश भर उठा है। और विश्व को बलात् यह सोचने को बाध्य होना पड़ रहा है कि हिंसा श्मसान की जिस शान्ति को थोप सकती है, वह अब एक क्षण को भी वांछनीय नहीं रह गई। वि॰ ॰की इस मनोभूमिका ने अहिंसा के लिए भूमिका प्रशस्त कर दी है। अब तो अहिंसावादियों को इस मनोभूमिका से लाभ उठाने और अहिंसा की अमोघ शक्ति को सिद्ध करने की आवश्यकता भर शेष रह गई है और यह तभी संभव हो सकता है, जब वे अणुबमों और प्रक्षेपणास्त्रों को विश्व-हित की कामना से अपने उत्सर्ग और बलिदान द्वारा व्यर्थ कर दें। इसके लिए आवश्यक है कि तमाम जगत् में बिखरे हुए अहिंसा-वादी संगठित होकर जन-जन के मानस को अहिंसा के पक्ष में आन्दोलित कर दें। हमारा यह विश्वास है कि यह होगा और अवश्य होगा। तब विश्वशान्ति विश्व के समस्त प्राणियों को आतंक, अत्याचार, द्रोह और शोषण से अभय-दान बन जायगी; तब विश्व-शांति समस्त स्थावर और जंगम जीवों को जीने के अधिकार का एक आश्वासन होगी।

अहिंसा के उज्वल भविष्य में हमारी आस्था अडिग है। हम उस उज्वल भविष्य को जल्दी से जल्दी लाने का निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे। हमारा आज का स्वप्न किसी 'कल' को सत्य होगा। इसीलिए हमारा यह विश्वास कभी क्षीण नहीं होगा कि एक दिन भगवती अहिंसा अपने तमाम पुत्रों को, जगत् के सभी प्राणियों को अभय और आनन्द देती हुई जगत् में प्रतिष्ठा का उच्च आसन प्राप्त करेगी। तब भगवती अहिंसा की शरण में आकर मनुष्य को अपने किसी कृत्य के लिए लज्जा उठाने का अवसर नहीं रहेगा।